शूद्रक

[राजा तथा कवि]

शूद्रकेणासकृज्जित्वा स्वेच्छया खड्गधारया ।
जगद् भूयोऽप्यवष्टब्धं वाचा स्वचरितार्थया ।।

दण्डी ।

प्रणेता
श्री चन्द्रबली पांडे

प्रकाशक—
सुन्दरलाल जैन,
मोतीलाल बनारसीदास,
नेपालीखपड़ा, बनारस।

मुद्रक—
ज्वाला प्रिंटिंग वर्क्स,
ए. ३२/१ त्रिलोचनघाट,
बनारस।

मूल्य ४॥)

प्रथम आवृत्ति] [संवत् २०

सर्व प्रकार की पुस्तकें निम्नलिखित स्थानों से
मिल सकती हैं -

१—मोतीलाल बनारसीदास, पोस्ट बाक्स ७५, बनारस।
२—मोतीलाल बनारसीदास, पोस्ट बाक्स १५८६, दिल्ली।
३—मोतीलाल बनारसीदास, बाँकीपुर, पटना।

दक्षिण भारत की

उस भूमि को

जिसकी गन्ध में

इसकी प्रेरणा

मिली

संकल्प

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के शिष्ट-मंडल की जो यात्रा दक्षिण भारत में हुई थी उसका परिणाम क्या हुआ और क्या होते होते रह गया आदि के उल्लेख से कोई लाभ नहीं। उस समय का अपना एक संकल्प आज 'शूद्रक' के रूप में आपके सामने है। इस शूद्रक को हमने 'मृच्छकटिक' में शर्विलक के रूप मे देखा है और इतिहास में उसे वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि के रूप में पाया है यह भी स्पष्ट है। परन्तु इसके अतिरिक्त भी जहां-तहां जब-तब कुछ ऐसा निर्देश भी होता रहा है जो समय पा कर किसी शोध का विषय बन सकता है और जीवन के विविध क्षेत्रो में अपना अलग अलग गुन दिखा सकता है। अभी जिस बात का संकेत यहां करना है वह है 'उत्तर' और दक्षिण' का मेल। हमारी समझ में इस मेल का जीता-जागता नाम है शूद्रक, जिसे प्रकरण में पाते है हम सहृदय क्रान्तिमूर्ति शर्विलक के रूप में। सब की कह नहीं सकते पर अपने को सन्तोष और आत्मा को सुख है कि इस प्रकार यह संकल्प आज पूरा हो गया और आगे इसी प्रकार का कुछ और करने का मार्ग खुल गया। अपने विचार कितनो को भा सकेंगे और कितनो के विचारो से टक्कर खा चमक उठेंगे अथवा स्वयं चकनाचूर हो सदा के लिए विलीन हो जायँगे आदि का लेखा लेना ब्राह्मण का काम नहीं। हां, विश्वास इतना अवश्य है कि इसमें जीवन का पाथेय और चारित्र का संबल अवश्य है और जो कुछ है सजीव, सुष्ठु और शोभन को अग्रसर करने को है। जो भोजन नहीं सो खाद अवश्य है। पाप-पुण्य का निवास यहां क्रिया नही शील में है और है इसी में शूद्रक का सर्वस्व भी।

'मृच्छकटिक' के साथ ही शूद्रक की एक दूसरी रचना 'पद्मप्राभृतक' से भी कुछ सहायता ली गई है। शूद्रक का यह भाण पठनीय है। इसमें भी कुछ पढ़ने का प्रयत्न किया गया है। इसे उस समय की आंख ही समझिए। 'वीणा वासवदत्ता' को छोड़ जाना ही ठीक समझा गया। हां, पाठकों की सुविधा और सुभीते के विचार से 'मृच्छकटिक' की 'प्राकृत' की संस्कृत छाया ही ली गई है।

पाठ प्रायः करमरकर-संस्करण से लिया गया है और विवेचना में विशेष सहायता मिली है श्री जीवानन्द विद्यासागर की टीका से। अतः इनका आभार है। भाण का पाठ लिया गया है 'चतुर्भाणी' मद्रास-संस्करण से। अत: उसके सम्पादकों का भी ऋण है।

'शूद्रक' के प्रकाशन का कुछ श्रेय उद्योग के नाते श्री गोविन्द प्रसाद केजरीवाल को है, तो उसको इस रूप में प्रकाशित कर हिन्दी को पुष्ट करने का 'श्री मोतीलाल बनारसीदास' के अधिकारियों को। उन्होंने इसके प्रकाशन में जो उत्साह दिखाया है उससे जान पड़ा है कि वस्तुतः अब हिन्दी के दिन आ गये हैं और संस्कृत भी उसको सम्पन्न करने में प्रसन्न है। नाम कुछ भी रहे पर 'भाषा' की उपासना तो बनी रहे, फिर विकास में विरोध क्या? हाँ, काशी विश्वविद्यालय के पुस्तकाध्यक्ष तथा उनके सहकर्मियों की जो कृपा इस जन पर रहती है उसके अभाव में कुछ कर सकना तो इस जन के लिये कठिन ही है। अत. उनके आभार का उल्लेख ही क्या?

अन्त में कहना इतना ही शेष रहा कि अपनी असावधानी के कारण आरम्भ में अनेक अशुद्धियां हो गईं, किन्तु काशी विश्वविद्यालय की प्राध्यापिका श्री पद्मा मिश्रा के योग से आगे का कार्य ठीक हो गया और उनका जैसा कुछ सहयोग इस कार्य में रहा वह आदि से अन्त तक इतना व्यापक और उदार है कि उसको पी जाना ही ठीक समझा गया। उनके अतिरिक्त उन्ही की सहेली श्री ज्ञानवती त्रिवेदी और अपने भतीजे श्री तिलकधारी पांडे का योग भी कुछ न कुछ इसमें रहा है। प्रतीत होता है कि शूद्रक की तृप्ति के लिए इसकी 'विषयसूची' और 'अनुक्रमणिका' का काम श्री माधवप्रसाद विश्वकर्मा ने कर दिया है। इस प्रकार के सहयोग और सयोग से जो संकल्प सिद्ध हुआ है वह सबके उदय का कारण बने। यही कामना और यही अपना परलोक है। तथास्तु।

मंगलकरण	चन्द्रबली पांडे
काशी	नव वर्ष सं. २०१० वि०

विषय-सूची

निवेदन

शूद्रक संस्कृत के उन कवियों में प्रमुख हैं जिनकी प्रतिष्ठा पश्चिम के संसर्ग में आने से बढी है, और कह सकते हैं प्रति दिन बढ़ती जा रही है। 'प्रगति' के शासन में शूद्रक का महत्त्व क्या होगा और भविष्य का मानव उन्हें किस दृष्टि से देखेगा, इसे हम कह नहीं सकते। सकते भी हों तो कहना चाहते नही। हम तो कुछ वर्तमान की बात ही कहना चाहते हैं न ? वर्तमान के सामने भविष्य को महत्त्व देना कहाँ का न्याय है और भविष्य की आशा में वर्तमान को खो देना कहाँ का पांडित्य ? न हो, किंतु अतीत के प्रति भी तो हमारा कुछ कर्तव्य है न ? हमारी जड़ उसी में तो जमी है न ? तो फिर उसकी उपेक्षा हो कैसे सकती है ? नहीं, तो उसका अध्ययन, अनुशीलन और संशोधन तो करना ही होगा। इसी से हम देखते हैं कि चारो ओर मानव अतीत के अध्ययन में मग्न है और अपने अतीत के साथ ही सबके अतीत की खोज में लगा है। फलतः संस्कृत के कवियों की खोज हो रही है और उनके द्वारा अनेक तथ्यों पर प्रकाश भी डाला जा रहा है। कहने की आवश्यकता नही कि आज इतिहास के संबंध में जो लोगो की धारणा बदल रही है और राजा को छोड़कर मानव पर पड़ रही है उसका बहुत कुछ श्रेय इसी अतीत के अनुशीलन को है, किंतु खेद तथा असमंजस की बात यहाँ यह है कि उपलब्ध सामग्री के आधार पर काम करते समय अनुमान से अत्यधिक काम लेना पड़ता है और यदि कहीं बीच ही मे मौलिकता या राष्ट्रीयता का भूत सवार हो गया तब तो कहना ही क्या ? न जाने क्या से क्या-क्या और कैसे सिद्ध किया जायगा। यह सब होते हुए भी भूत की बातें सभी को भाती हैं और देश में भविष्यवक्ता की अपेक्षा भूतवक्ता ही अधिक होते हैं और इसी से जीवन में भी कल्पना से कही अधिक महत्त्व माना जाता है अनुभूति का। कहने का आशय यह कि हम आप ही नही कह सकते कि हमारी स्थिति इस अध्ययन वा अनुशीलन मे क्या रही है। हाँ, हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि हमने इसमें किया क्या है, सो हमारा कहना भी यही है। हम आगे इसी को प्रकट करने का प्रयत्न करते हैं।

पहली बात जो हमें आरंभ में ही कह देनी है वह यह है कि हमने शूद्रक के अध्ययन में चरित्र को ही अधिक महत्त्व दिया है और हमारी धारणा है कि स्वयं शूद्रक ने भी किया ऐसा ही है। आर्य चारुदत्त को इस चरित्र का कितना ध्यान है, इसके कहने की तो कोई आवश्यकता नही। शूद्रक का स्थावरक तक कहता है—

प्रभवति भट्टकः शरीरस्य न चारित्रस्य ।

और दासी गणिका मदनिका तक अपने प्रेमी उद्धारक शर्विलक को फटकारती है—

शर्विलक ! स्त्री कल्यवर्तस्य कारणेनोभयमपि संशये विनिक्षिप्तम्

शर्विलक आतुरता से जानना चाहता है—

कि किम् ?

तो वहीं झट उत्तर मिलता है—

शरीरं चारित्रं च ।

और तो और, फाँसी पर लटकाने को सदा उद्यत चांडाल भी खल चरित्त शकार को देखकर आप ही बोल पडते हैं—

अपसरत दत्त मार्गं द्वारं पिधत्त भवत तूष्णीकाः ।
अविनयतीक्ष्णविषाणो दुष्टबलीवर्द इत एति ।

ऐसे दुष्ट सांड़ों से मानव सदा संतप्त रहा है ।

दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि शूद्रक ने साँड का नही, साँड़ छोड़ने-वाले पालक का नाश किया है। तभी तो शर्विलक किस उल्लास से कहता है—

आर्यकेणार्यवृत्तेन कुलं मानं च रक्षता ।
पशुवद्यज्ञवाटस्थो दुरात्मा पालको हतः ।।

अतएव हमने भी सिद्ध किया है कि आर्यवृत्त आर्यक का कुल पालक से सर्वथा भिन्न है। आर्यक गोपाल है तो पालक कुछ और ही। कदाचित् शक। शूद्रक ने इसे भी स्पष्ट लिखा है, पर खेद है पुराविदों ने इसे पढ़ा कुछ और ही है। देखिए न विदूषक प्रकरण के प्रारंभ ही में आर्य चारुदत्त से कहता है—

भो वयस्य ! एते खलु दास्याः पुत्रा अर्थकल्यवर्ता वरटाभीता इव गोपालदारका अरण्ये यत्र यत्र न खाद्यन्ते तत्रतत्र गच्छन्ति।

इसमें 'वरटाभीत' गोपालदारक की दुर्दशा ही तो है ? प्रथम पालक है तो द्वितीय आर्यक ! शूद्रक ने सदा 'गोपाल' किंवा 'गोपालक' का प्रयोग जाति विशेष के लिए ही किया है। उनका तात्पर्य 'आभीर' समझ पड़ता है, कुछ गोपाल नाम का शासक नहीं। यही दिखाने का उद्योग हमने किया है और इसी को किया है इतिहास से परिपुष्ट भी।

तीसरी बात जानने की यह है कि यहाँ शूद्रक को जानने का ठीक ठीक उद्योग किया गया है और उसे इतिहास का प्राणी ठहराया गया है। राजा शूद्रक ही कवि शूद्रक भी है, अत: उसके समय की जानकारी के लिये अलग प्रयत्न नहीं हुआ है। हाँ, प्रसंगवश कहीं कुछ आ गया तो उसकी बात ही और है। वैसे तो मृच्छकटिक के कुछ स्थानों को लेकर इसकी छानबीन भी कुछ की जा सकती थी, किंतु इतिहास के सामने उसकी उपेक्षा ही ठीक समझी गई। उदाहरण के लिए शकार का यह कथन लीजिये—

कि स शक्रो वालिपुत्रो महेन्द्रो रम्भापुत्रः कालनेमिः सुबन्धुः।
रुद्रो राजा द्रोणपुत्रो जटायुश्चाणक्यो वा धुन्धुमारस्त्रिशंकुः॥

इसमें 'सुबन्धु', 'रुद्रो राजा' और 'चाणक्य' को लेकर कुछ कहा जा सकता था और 'रुद्रो राजा' को तो 'रुद्रदामा' भी बताया जा सकता था। इसी प्रकार—

अर्थं शतं ददामि सुवर्णकं ते कार्षापणं ददामि सवोडिकं ते।

के 'सुवर्ण' 'कार्षापण' और 'वोडिक' सिक्को को लेकर भी उस समय की खोज कुछ की जा सकती थी; किंतु होता वह सब संभावना का ही राज्य। अतः इसको भी नही लिया गया। हाँ, समय-समय पर कहीं-कहीं शूद्रक के भाण 'पद्मप्राभृतक' से अवश्य विशेष सहायता ली गयी है। परन्तु वहाँ भी ध्यान रहा है इतिहास की ठोस सामग्री पर ही। जैसे उसमें 'कामतन्त्र' और 'दत्तक-सूत्र' के नाम तो आये हैं, पर कहीं 'कामशास्त्र' का उल्लेख नहीं हुआ है। इससे सरलता से कहा जा सकता था कि शूद्रक वात्स्यायन से पहले हो गये हैं, अन्यथा उनके 'कामशास्त्र' का उल्लेख अवश्य करते। आदि भीतरी प्रमाणों पर विशेष ध्यान नही दिया गया है और न भाषा को कसौटी मानकर ही कुछ निश्चय किया

गया है। कारण स्पष्ट ही इनकी दुर्बलता है। अतः इनको छोड़ जाना ही उचित जान पड़ा।

चौथी बात भी समझ लेने की यह है कि उस समय के देशकाल का परिचय भर दिया गया है। उसकी पूरी जानकारी तो शूद्रक के गहरे और पक्के परिशीलन से ही हो सकती है। अच्छा होगा, इसे भी उदाहरण द्वारा समझा जाय। कहते हैं—

आकृतिमात्रभद्रको भवान् मिथ्याचार विनीतो ह्यसि। अंघो सज्जन स ब्रह्मचारिन् विटपारशवचौक्षपिशाचो वेश्याप्रसंगश्चेति आचार-विरुद्धमेतत् विरुद्धाशनमिव मां प्रतिभाति। अपि च, चौक्षोपचारयन्त्रितः तामुपगृह्णन् सन्देशेन नवमालिकामपचिनोषि।

इसमे 'चौक्ष' की जिज्ञासा बडे काम की सिद्ध होती। नाट्यशास्त्र के अध्याय सप्तदश में कहा गया है—

परिव्राण्मुनिशाक्येषु चोक्षेषु श्रोतियेषु च।
शिष्टा ये चैव लिंगस्थाः संस्कृतं तेषु योजयेत् ॥३८॥

इस पर अभिनवगुप्ताचार्य की टीका है—

चोक्षा भागवतविशेषा ये एकायना इति प्रसिद्धाः।

अब यदि 'देशकाल' के विचार में इन सूक्ष्म बातो को लिया जाता तो इन्हीं का एक अलग ग्रन्थ बन जाता और यदि उनका निर्देश भर किया जाता तो यह अध्याय उनका एक अभिधान कोश ही बन जाता। अतः यहाँ भी थोडे में संतोष कर लिया गया है।

पाँचवी बात टाँकने की यह है कि यहाँ काव्य की बारीकी या वक्रता पर भी उतना ध्यान नहीं दिया गया है जितना उसके जीवन के लगाव पर। देखिये विट क्या वसंतसेना से कहता है—

महावाताध्मातैर्महिषकुलनीलैर्जलधरै-
श्चलैर्विद्युत्पक्षैर्जलधिभिरिवान्तः प्रचलितैः।
इयं गन्धोद्दामा नवहरितशष्पांकुरवती
धरा धारापातैर्मणिमयशरैर्भिद्यत इव ॥२२॥

काव्यकला और भावव्यंजना की दृष्टि से ही नहीं कवि जीवन की दृष्टि से भी यह पद्य बड़े महत्त्व का है। 'महिष' पर इतना अनुराग किसी भी संस्कृत के दूसरे कवि में दिखाई नहीं होता। इसके पहले भी 'महिष' की उपमा आ चुकी है। वहां 'मेघो जलार्द्रमहिषोदरभृंगनीलो' कहा गया है तो यहाँ पूरा 'महिषकुल' ही आ गया है। कहते हैं कि 'कर्णाट' में 'महिष' की जो महिमा है वह इस देश में अन्यत्र नहीं। चन्दनक 'कर्णाटकलह' का प्रयोग भी करता है। तो इसके आधार पर तो शूद्रक कर्णाट के वा उससे भली भाँति अभिज्ञ ठहरे न? कला की दृष्टि से देखिये यह कि किस कौशल से 'जलधर' और 'जलधि' को एक किया जा रहा है। कह सकते हैं समुद्र को गर्जन तर्जन के साथ अंतरिक्ष में बसाया जा रहा है। हाँ, भूलिये नहीं। अभी 'मणिमयशर' का भी सामना करना है। सो जब 'रत्नाकर' किम्पी आकाश में पहुँच गया तो मणि की कमी क्या? किंतु नहीं, यहाँ तो 'विद्युत' की कौंध से बूँद को 'मणि' का रूप मिल जाता है न? फिर 'मणिमयशर' का अभाव कैसा? और स्मरण है न कि यह गणिका का अभिसार है अपने प्रिय के लिये? तो फिर विट को उसमें मणि की वर्षा क्यों न दिखाई दे? इसी मणि-वर्षा से तो वह रीझती है? भूलें न धरा नायिका भी गंधवती है। उसे रोमांच भी हो आया। कहने का भाव यह कि इसमें थोड़े में बहुत कुछ कह दिया गया; किंतु तो भी इसे शूद्रक के कवि-कर्म में स्थान न मिला। कारण वही उद्देश्य की पूर्ति है।

छठी बात है विशेष ध्यान देने की। देश की बढ़ती हुई दरिद्रता बाढ का रूप धारण कर रही है। रोकथाम के उपाय व्यर्थ सिद्ध हो रहे हैं, ऐसी स्थिति में होनहार क्या है, इसे कौन कहे? किंतु आज से लगभग २००० वर्ष पहले शूद्रक ने जो कुछ किया उसको भी स्फुट कर दिखाने का प्रयत्न किया गया है। इसके कारण 'शर्विलक' को अधिक महत्त्व मिल गया है। हमारी समझ में मृच्छकटिक में ४ संघर्ष हैं। उनमें से तीन तो सरलता से देखे जा सकते हैं—

१—चारुदत्त और वसंतसेना का प्रणय-द्वन्द्व,
२—वसतसेना और शकार का कलह-द्वन्द्व,
३—चारुदत्त और शकार का ईर्ष्या-द्वन्द्व।

किंतु चौथा कुछ कठिनता से देखने में आता है। कहने को तो फुर्ती से आप उसे भी कह सकते हैं—

४—आर्यक और पालक का राज्य-द्वन्द्व ।

परंतु यह होगी आप की शुद्ध भूल ही । यह द्वन्द्व वस्तुतः चल रहा है—

४—साहसी शर्विलक और अत्याचारी शासन में ।

अथवा और भी उचित होगा कहना—

४—दारिद्र्य और ऐश्वर्य में ।

ऐश्वर्य 'आर्यवृत्त' आर्यक के हाथ लगा तो उसका विभाजन भी कुछ हो गया और उस समय के 'धर्मनिधि' आर्यचारुदत्त को समझ पड़ा—

> कांश्चित्तुच्छयति प्रपूरयति वा कांश्चिन्नयत्युन्नतिं
> कांश्चित्पातविधौ करोति च पुनः कांश्चिन्नयत्याकुलान् ।
> अन्योन्यं प्रतिपक्षसंहतिमिमां लोकस्थिति बोधय-
> न्नेष क्रीडति कूपयन्त्रघटिकान्यायप्रसक्तो विधिः ॥६८॥

विधि के इस क्रीडा-विधान से सिद्ध हो गया कि आर्य चारुदत्त 'अर्थ' को महत्त्व नही देते । उनकी दृष्टि मे तो—

> सत्यं न मे विभवनाश कृतास्ति चिन्ता
> भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति ।
> एतत्तु मां दहति नष्टधनाश्रयस्य
> यत्सौहृदादपि जनाः शिथिलीभवन्ति ॥

'भाग्यवादी' चारुदत्त और भाग्यवादी आर्यक को राजपद क्यों मिला और क्यों 'कर्ममार्गी' शर्विलक उससे अलग रह लोकहित में निरत रहा, यह विचारने की बात है । पुस्तक में कुछ इसका भी आभास मिल गया तो अच्छा । नहीं तो प्रश्न तो यह है ही ।

सातवीं और अंतिम बात यह कही गयी है कि शूद्रक की दृष्टि में 'हृदय' की पुकार का अर्थ है मनमाना करना । वह 'शकार' को ही भाती है । शकार ही 'हृदय' के पक्के भक्त है । नहीं तो शूद्रक के यहाँ सत्कार होता है 'अंतरात्मा' का और महत्त्व मिलता है 'शील' को । कहा भी है—

> किं कुलेनोपदिष्टेन शीलमेवात्र कारणम् ।
> भवन्ति नितरां स्फीताः सुक्षेत्रे कण्टकिद्रुमाः ॥

सचमुच शील का पारखी इतना बड़ा दूसरा कवि नहीं । निवेदन है—

मृच्छकटिक के इस शील का अवगाहन करें और यदि जी भर जाय तो 'पद्म-प्राभृतक' का पाठ भोगी लोग नाना रूपो में भेष बनाकर कैसा भोग लगाते है और समाज में 'परिहास' का पात्र बनते हैं, इसका सम्यक् साक्षात्कार आपको वहीं होगा। अति रम्य रूप में।

भूल होगी, यदि प्रगति के इस युग में यहीं यह भी न कह दिया जाय कि इतना सब कुछ होने पर भी शूद्रक के यहाँ कोई कुलकन्या वा कुलवधू वेश्या नहीं बनती। हाँ, इसके विपरीत 'गणिका' अवश्य कुलवधू बन जाती है। और तो और, 'धर्मनिधि' चारुदत्त का धर्म भी इसमें बाधक नही होता। न हो, वह तो 'सार्थवाह' ठहरा! परंतु 'शर्विलक' को क्या कहा जाय तो 'चतुर्वेदविद् अप्रतिग्राहक' का पुत्र होकर भी ऐसा कर्म करता है कि गणिका को कुलवधू बना लेता है? लीजिये, उसका उल्लास है—

> जयति वृषभकेतुर्दक्षयज्ञस्य हन्ता
> तदनु जयति भेत्ता षण्मुखः क्रौञ्चशत्रु;
> तदनु जयति कृत्स्नां शुभ्रकैलासकेतु
> विनिहतवरवैरी चार्यको गां विशालाम् ॥

आज 'आर्यक' का अभिधान वा अर्थ? यही तो समझने की बात है। और है न 'शुभ्रकैलासकेतुं' भी विचारणीय? इसी को स्पष्ट करने के लिये तो कुछ 'शिलप्यादकारम्' की चर्चा भी की गई है। तमिल भाषा के इस काव्य का 'मृच्छकटिकं' से गहरा लगाव जो है!

१. राजा शूद्रक

शूद्रक की सत्ता—शूद्रक की सत्ता को न मानना अतीत की आँख को खो देना है, पर मान कर उसे दिखाया क्या जाय, यही असमजस है। माना कि शूद्रक के परिचय में किसी सूत्रधार ने कह दिया—

ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलां वैशिकीं हस्तिशिक्षां,
ज्ञात्वा शर्वप्रसादाद्व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य।
राजानं वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा,
लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिनसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः ॥

[मृच्छकटिक, १।४]

किंतु इससे यह कैसे सिद्ध हो गया कि इस भूत के कारण शूद्रक हुआ ही नहीं ! स्मरण रहे, यह शूद्रक का सामान्य अग्निसस्कार नहीं प्रत्युत विशिष्ट अग्नि लाभ है जो जीते जी लिया जाता जीव की मुक्ति के हेतु ही है। 'मृच्छकटिक' में शूद्रक के विषय में जो कुछ कहा गया है उसका विचार आगे चलकर होगा। अभी यहाँ कहना तो यह होगा कि प्रचुर प्रमाणों के प्रकाश में कोई शूद्रक को अब कल्पना का प्राणी नहीं कह सकता। वह भले ही कभी उस रूप में न रहा हो जिस रूप में वह आज संस्कृत वाङ्मय में जहाँ-तहाँ पाया जाता अथवा स्वयं 'मृच्छकटिक' में देखा जाता है। पर कभी वह था, इसमें संदेह नहीं। हम किसी और की नहीं कहते। हमारे सामने तो कवि बाण की साखी है। न जाने कितनी घटनाओं का उसे ध्यान था कि एक के बाद दूसरी का उल्लेख करता आप ही कह जाता है कि—

"उत्सारकरुचिं च रहसि ससचिवमेव दूरीचकार चकोरनाथं शूद्रकदूतश्चन्द्रकेतुं जीवितात्।"

[हर्षचरित, षष्ठ उच्छ्वास का अंत]

वाण ने इस प्रकार राजा शूद्रक का पता दे दिया और यह भी बता दिया कि किस प्रकार उसके दूत ने सचिव चकोरनाथ का वध किया। भाग्य से चकोरनाथ का नाम चन्द्रकेतु भी आ गया है, किंतु तो भी उसका कुछ पता नहीं। हाँ, वाण की भाँति ही उनके परवर्ती आचार्य दंडी ने भी शूद्रक के विषय में कुछ कहा था और अपनी अनूठी रचना 'अवन्तिसुदरी कथा' में इतना कुछ कह दिया था कि यदि कहीं से उसका प्रकाशन हो जाता तो उसके प्रकाश में शूद्रक का जीवन भी झलक उठता। किंतु किया क्या जाय? आज हमारे प्रमाद अथवा किसी के उन्माद के कारण उसका लोप हो गया है और उसका जो अंश श्री० शे० कृ० रामनाथ शास्त्री के उद्योग से प्रकट हुआ है वह अपर्याप्त और अधूरा है। मूल का अश तो बहुत थोडा प्राप्त हुआ है। 'सार' भी उसका पूरा नहीं मिला है। तो भी इस 'अवन्ति सुदरी कथासार' से हम शूद्रक के जीवन को बहुत कुछ देख सकते है। उसमें कहा गया है—

पुरा शौनक इत्यासीत्कोसलेषु द्विजोत्तमः।
सोमत्रातेन नामासावधीते स्म द्विजन्मना ॥१६२॥
गुरौ सशिष्येऽभ्यञ्जाने कदाचिन्नृपवेश्मनि।
सुता बन्धुमतीत्येषा नियुक्ता परिवेषणे ॥१६३॥
दृष्टयः पुनरन्योन्यप्रेमवृत्तिप्रवृत्तयोः।
कन्या शौनकयोस्तत्र सजग्मे मिथुनं मिथः ॥१६४॥
ततो गर्तेश्वरः कन्यामुपयन्तुमुपाययौ।
तस्मै धात्रेयिकां कन्येत्युपनिन्ये सखीजनः ॥१६५॥
शौनकः सह तन्वंग्या निर्गतः सरयूजले।
भिन्ननौर्नष्टपत्नीकस्तामन्विष्यन्न दृष्टवान् ॥१६६॥
शकुन्तलुप्तशेषन्तं तीरे दृष्ट्वा कलेवरम्।
मृतासेति विलप्यासौ चक्रे तच्चाग्निसाद्वपुः ॥१६७॥
नीत्वा तत्कीकसं तीर्थान्युद्वेगादाश्रमे क्वचित्।
प्रायोपवेशमारेभे तापस्याकथयत्कथाम् ॥१६८॥
श्रुत्वा बन्धुमतीवार्तां निर्गत्य सहसा गृहात्।
अहं ते दयितेत्यंघ्रौ निपत्येदमुवाच सा ॥१६९॥

स्रोतसा नीयमानाहं कयाचिद्गोपकन्यया ।
उत्तारिता ततस्तीरे भुजङ्गस्तामभारयत् ॥१७०॥
आर्यपुत्रेण तत्कायं प्रायः स्यादग्निसात्कृतम् ।
अहमप्यत्र तापस्या नियमं ग्राहितानया ॥१७१॥
इत्यस्मिन्नन्तरे बन्धुमत्यास्तत्र पिता ययौ ।
कन्यावञ्चनया क्रुध्यद्गर्तेश्वरविवासितः ॥१७२॥
ततः शौनकसाहाय्यात्प्रत्यापन्ननिजास्पदः ।
राज्यार्द्धं च ददौ तस्मै जामात्रे कोसलेश्वरः ॥१७३॥
हंसावलीवेदिमत्यौ प्रियासख्यौ च शौनकः ।
उपयम्य नटीं चौकां विजहारात्ममायया ॥१७४॥
आयुषोन्ते स एवासावश्मकेषु द्विजोत्तमः ।
इन्द्राणिगुप्त इत्यासीद्यं प्राहुः शूद्रकं बुधाः ॥१७५॥

[अवंतिसुंदरीकथासार, चतुर्थपरिच्छेद]

शूद्रक का सूत्र—इस लंबे अवतरण में जो पूर्व जन्म की बात कही गयी है समय पर आगे चलकर वह भी काम देगी। अभी तो काम लेना है 'यं प्राहुः शूद्रकं बुधाः' से शूद्रक इंद्राणी गुप्त के नाम से 'अश्मक' में है, यही हमारा वह सूत्र है जिससे हम शूद्रक की पहेली को सुलझा सकते हैं। कारण, इसके आगे भी कहा गया है—

अथावज्ञातया शप्तः प्राप्य ब्रह्मश्रिया निशि ।
राजश्रियमपायानामन्ते गन्ता भवानिति ॥१७६॥
स्वातिनाम्ना सहैवासौ ववृधे राजसूनुना ।
क्रीडाकलहमारभ्य स्वैरं वैरमभूत्तयोः ॥१७७॥

शाप के फल स्वरूप जो कुछ भोगना पड़ा उसके अंत में हुआ यह कि—

बहूनां विपदामन्ते विगृह्य स्वातिना सह ।
बालमित्रमहत्त्वैनं जीवग्राहमजिग्रहत् ॥२००॥
सुहृद्भिर्दयिताभिश्च प्रथितप्रेमभिः सह ।
शतं समाः क्षमामेकः शशास चतुरर्णवाम् ॥२०१॥

ब्रह्मरक्षोनियुद्धेन मत्वैव परमेश्वरः।
धर्मपालस्य नामासीत् कामपालाख्यः यो सुतः ॥२०२॥

'शौनक' और 'कामपाल' की कथा से उतना काम नही जितना 'शूद्रक' के वृत्त से है। अतः उसी की थोडी चिंता यहाँ की जाती है। 'इन्द्राणि गुप्त' का राजकुमार 'स्वाति' से गहरा लगाव है। उसका विकास उसी के साथ हुआ और राज्य भी उसको मिला उसी को बंदी बनाने से। रही अंत की बात, सो कुछ संदिग्ध सी हो गई। तो भी 'ब्रह्मरक्षोनियुद्धेन' के सहारे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अंत में उसका निधन हुआ इसी परस्पर के कलह में। वैसे तो इसे मान लेने में कोई अड़चन भी नहीं थी। पर मृच्छकटिक के उक्त कथन का मेल इससे नहीं होता। तो भी पहले देखिये यह कि जो सामग्री इस प्रकार बाण और दंडी से प्राप्त हुई है उसका कही कुछ आधार इतिहास में भी है वा नही। सौभाग्य से 'चकोर' और 'अश्मक' तो एकत्र ही एक ही उत्कीर्ण लेख में दिखायी दे जाते हैं और शूद्रक की स्थिति को खोलने में बहुत कुछ समर्थ होते हैं। लीजिए, वह उत्कीर्ण लेख है—

"सिद्धं (= सिद्धिः अस्तु)" राज्ञः वासिष्ठीपुत्रस्य श्रीपुलुमावेः संवत्सरे एकोनविंशे १९ ग्रीष्मस्य पक्षे द्वितीये २ दिवसे त्रयोदशे १३ (=चैत्रशुद्ध-त्रयोदश-दिवशे) राजराजस्य गौतमीपुत्रस्य हिमवन्मेरु-मन्दरपर्वतसम सारस्य ऋषिकाश्मकमूलकसुराष्ट्र—कुकुरापरान्तानूप-विदर्भाकरावन्तिराजस्य विन्ध्यर्क्षवत्-पारियात्र-सह्य-कृष्णगिरि-मत्यश्री-स्तन-मलय-महेन्द्र-श्रेष्ठगिरि-चकोर-पर्वतपतेः।

वस्तुतः यह लेख नासिक की गुहा में 'प्राकृत' में खुदा हुआ है, पर यहाँ पाठकों की सुविधा के विचार से 'संस्कृत' में दिया गया है। परिशिष्ट में इसका मूल रूप दिया जायगा अतः यहाँ श्री सरकार की की हुई छाया ही दी गई है और आगे भी इसी प्रकार इसकी सस्कृत छाया ही दी जायगी।

पुलुमावि—हाँ, तो यहाँ टाँकने की बात यह है कि इसमें 'अश्मक' और 'चकोर' का स्पष्ट उल्लेख है; किंतु साथ ही उलझन की सबसे बड़ी बात यह है कि इसमें जहाँ 'राज्ञः वासिष्ठी पुत्रस्य श्री पुलुमावेः' कहा गया है वहीं 'राजराजस्य गौतमीपुत्रस्य' भी। कारण क्या है और क्या है इस 'राज्ञः' तथा

'राजराजस्य' का रहस्य ? 'राजा' तो श्री पुलुमावि ठहरे, पर 'राजराज' अथवा राजाधिराज कौन हैं। सो इसी लेख में कुछ दूर चलकर कह दिया गया है—

कुल-विपुलश्री-करस्य, श्रीशातकर्णेः माया महादेव्या गौतम्या बालश्रिया सत्यवचन-दान-क्षमाहिंसा-निरतया (= ०क्षमाशीलया अहिंसा-परया च) तपोदम-नियमोपवास-तत्परया राजर्षिवधूशब्दम् अखिलम् अनुविदधत्या (=०धारयन्त्या) कारितः देयधर्मः कैलास-पर्वत-शिखर-सदृशे त्रिरश्मि-पर्वत-शिखरे विमानवर-निर्विशेषं महर्द्धिकं (=पर्वत-शिखरस्य-पुष्पक-सदृशं महासमृद्धियुक्तं) लयनम्।

अस्तु गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ही 'राजराज' है। किंतु उलझन का अंत अभी कहाँ ? इसी मे तो यही यह भी कहा गया है—

एतत् च लयनं महादेवी (महाराजपत्नी ; महाराज-माता महाराज-पितामही ददाति निकायाय भद्रायणीयानां (भद्रयानीयानां, महायानी-यानां ?) भिक्षु संघाय। एतस्य च लयनस्य चित्रण-निमित्तं (=उत्कर्षाय) महादेव्याः आर्यकायाः (पितामह्याः) सेवाकामः प्रियकामः च नप्ता दक्षिणापथेश्वरः (= पुलुमाविः) पितृ-प्रीतये (स्वर्गत-पितृ-प्रीणनाय) धर्मसेतवे (= द्युलोक-भूलोकान्तरे सेतुरूपाय धर्मदानाय लयनाय) ददाति ग्राम त्रिरश्मिपर्वतस्य अपरदक्षिणापार्श्वे (स्थितं) पिशाचीपद्रकं सर्वजात-भोग-निरस्तं (=राजभोगादपरिहृतम्)

महादेवी, महाराजमाता, महाराजपितामही तो गौतमी बलश्री ठहरी, पर यह महादेवी 'आर्यका' एवं यह 'नप्ता' उससे क्या नाता जुटाते हैं ? 'पितृ-प्रीतये' भी कुछ कम नही।

हमारी समझ मे इस 'नप्ता' का अर्थ है यहाँ दौहित्र न कि पौत्र। बात यह है कि गौतमी पुत्र श्रीशातकर्णी के दिवंगत हो जाने पर उसकी माता गौतमी बल श्री तथा भागिनेय राजा श्री पुलुमावि ने जो कुछ किया उसी का इसमें उल्लेख है और इसी से इसमे श्रीशातकर्णी का इतना बखान है। श्री शातकर्णी के रहते हुये श्री पुलुमवि कैसे शासक बना इसके समाधान में लगने के पहले ही दिखा यह देना है कि वास्तव में पुलुमावि का स्वतंत्र लेख है—

सिद्धम्। नवनरस्वामी वासिठीपुतो सिरि पुलुमवि [आ] नपयति गोवधने आमच सिवखदिल।

जिसका संस्कृत रूप दिया गया है—

सिद्धम् नवनगरस्वामी (=नपनगरस्थ—नृपः) वासिष्ठीपुत्रः श्रीपुलुमाविः आज्ञापयति गोवर्द्धने अमात्यं शिवस्कन्दिलं।

विचारने की बात है कि 'नवनरस्वामी' को 'नवनगरस्वामी' किया गया है और इसका अर्थ दिया गया है 'नवनगरस्थनृप'। किन्तु हमारी दृष्टि में ऐसा करने का कोई हेतु नहीं। कोई कारण नहीं कि हम इसका अर्थ 'नया राजा' क्यों न समझे जब कि हम जानते है कि यह लेख लिखा गया है संवत् २२ अर्थात् पहले से ३ वर्ष बाद और इसमें कहा गया है—

"एतं तु महार्यकेण (=राज्ञः प्रमातामहेन ?) औदेन (=तदाख्यद्वारा) धर्मसेतोः लयनस्य प्रतिसंस्तरणाय अक्षयनीविहेतुं ग्रामं शाल्मलीपद्रं भिक्षुभ्यः देवीलयनवासिभ्यः निकायेन भद्रायणीयेभ्यः [पूर्वदत्तं ग्रामं] प्रतिगृह्य [एतं नवं दान—ग्रामं] अवोपप्रापय।

औद—इस लेख का 'महार्यक ओद' कौन है ? वह शासक श्री पुलुमावि का पितृपक्ष का प्राणी है वा मातृपक्ष का जीव। ध्यान देने की बात है कि श्री सरकार ने उसे 'प्रमातामह' माना है, अथवा मानने का प्रस्ताव किया है। किंतु हमारी समझ में वह प्रपितामह का द्योतक है। नाम तो प्राकृत में उसका दिया हुआ है 'ओद'। तो फिर यह 'ओद' है कौन जो इस प्रकार 'नवनरस्वामी' के लेख में स्थान पाता है ?

सौभाग्य से एक ऐसा लेख भी हमारे सामने है जिससे कुछ अनुमान किया जा सकता है। कौशाम्बी के पास पभोसा मे एक लेख है जिससे कुछ सहायता मिल जाती है। श्री सरकार ने उसको रूप दिया है—

राज्ञः गोपाली-पुत्रस्य बृहस्पतिमित्रस्य मातुलेन गोपालिका-वैहिदरी-पुत्रेण आषाढ़सेनेन लयनं (=गुहावासः) कारितम् ऊदाकस्य दशन-संवत्सरे...अर्हतां [सुपरिग्रहे = ० ग्रहाय]

इस लयन-लेख में दो नाम ऐसे है जिनकी उपेक्षा हम कर नहीं सकते। 'ऊदाक' तथा बृहस्पतिमित्र। इनमे भी 'ऊदाक' के संबंध में यह जान रखना चाहिये कि इसको अलग-अलग विद्वानो ने अलग-अलग रूप में पढा है। श्री जायसवाल जी ने इसे 'ओद्रक' वा 'ओड्रक' पढा है। हमे तो ऐसा लगता है कि यही 'ऊदाक' श्री पुलुमावि का 'महार्यक औद' है। रही दूसरे नाम 'बृहस्पति-मित्र' की पहिचान। सो इसका संकेत भी कदाचित् 'नासिक' के इस लेख से लग जाय—

सिद्धम् गोवर्धने अमात्याय श्यामकाय देयं राजाज्ञप्तं (=राजाज्ञा-पत्रम्) राज्ञः गौतमीपुत्रस्य शातकर्णेः महादेव्याः च जीवत्सुतायाः राज-मातुः वचनेन गोवर्धने अमात्यः श्यामकः अरोगं (=आरोग्यं) वक्तव्यः।

इस लेख का प्राकृत 'जीवसुताय' सस्कृत मे 'जीवत्सुताया.' बन गया तो इसकी उलझन भी बढ गई और इसका ठीक-ठीक अर्थ न लगा। किंतु यदि इसे जीवसुता ही रहने दिया जाय और इसका अर्थ समझा जाय 'जीव' अथवा बृहस्पति की कन्या तो क्या क्षति? महादेवी गौतमी यदि राजमाता के साथ ही राजपुत्री भी रही हो तो आश्चर्य क्या? प्रसग की दृष्टि से तो यह और भी समीचीन समझ पडता है। यदि उक्त लेख के राजा 'बृहस्पति मित्र' को ही गौतमी का पिता मान ले तो स्यात् सारी बातों का अच्छा समाधान हो जाता है। साथ ही यहां इतना और भी जान ले कि उसी गुहा के भीतर का लेख है—

अधिच्छत्रायाः (=अहिच्छत्रायाः) राज्ञः शौनकायनी-पुत्रस्य बंगपालस्य पुत्रस्य राज्ञः त्रैवर्णीपुत्रस्य भागवतस्य पुत्रेण वैहिदरीपुत्रेण आषाढसेनेन कारितं (लयनम)

शौनक—ध्यान देने की बात है कि इस लेख में 'आषाढ़सेन' ने अपने को तो राजा नहीं कहा है, पर अपने पिता तथा पितामह को राजा कहा है। इससे भी कहीं अधिक महत्त्व की बात है यह जान लेना कि इसकी वशावली का मूल पुरुष दिया गया है 'शौनक'। 'शौनक' के बारे में हम इतना जान चुके हैं कि वही फिर जन्म लेकर 'शूद्रक' बना है। शौनक के रूप मे उसका कोशल की राजकुमारी से प्रेम हो गया था और जब क्रुद्ध होकर 'गर्तेश्वर' ने कोसल पर चढ़ाई की तब शौनक की सहायता से वह हराया गया और फलस्वरूप शौनक को

कोशल का आधा राज्य मिल गया। आषाढ़सेन ने राजा ऊदाक अथवा 'ओद्रक' का कोई परिचय नही दिया जिससे माना जा सकता है कि वह कदाचित् उसका अग्रज था वही श्री पुलुमावि के लेख का 'महार्यक' भी। रह गये राजा बृहस्पति-मित्र, सो उन्हे भी श्री गौतमी बलश्री का पिता और मगध का राजा मान लेना चाहिये और समझना यह चाहिये कि यह सारा संबंध जुटा है प्रतापी 'खारवेल' को तोड़ने को उसी का तो यह अभिमान है कि—

द्वादशे च वर्षे·········सहस्रैः वित्रासयति उत्तरपथराजान्······ ·· मागधानां च विपुलं भयं जनयन् हस्त्यश्वं गंगायां पाययति; मागधं च राजानं बृहस्पतिमित्रं पादौ वन्दयति।

और इसके १० वर्ष पहले भी तो उसने यही किया था कि—

"द्वितीये च वर्षे अचिन्तयित्वा (=अगणयित्वा) शातकर्णि पश्चिमदिशं हय—गजनररथबहुलं दंडं (=सेनादलं) प्रस्थापयति (=प्रास्थापयत्)"

फिर आगे चलकर 'शातकर्णी' और 'बृहस्पतिमित्र' में संबंध स्थापित हो गया हो तो आश्चर्य क्या? शौनकायन-संबध का उल्लेख तो पभोसा के गुहा-लेख मे प्रकट हुआ है। आषाढसेन बृहस्पतिमित्र का मातुल था न? अजब क्या कि कोई शातकर्णी कन्या किसी शौनकायन को ब्याही गयी हो और श्री पुलुमावि उसी की सतान हो। तो क्या 'वासिष्ठी' गौतमी की कन्या नहीं? पुलुमावि की माता तो वह है ही। और यदि शब्द के अर्थ को समझें और बूंढी के 'इन्द्राग्निगुप्त' को 'पुलुमावि' मान ले तो इसमें दोष क्या? 'इन्द्र' का 'पुलुमावि' नहीं तो 'पुलोमारि' होना तो प्रसिद्ध ही है, फिर इसमें दूर की कोई उड़ान नही। हाँ, दुराव की पकड़ अवश्य है।

पुलुमावि का कुल—अस्तु, अनुशीलन की इस छाया में हमारा कहना यह है कि वस्तुतः वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि सातवाहन नहीं है और नही है वह गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी का भाई वा पुत्र ही। नही, वह तो उसका भांजा और गौतमी का दौहित्र है। सातवाहन कुल से वह अलग है, इसका एक पुष्ट प्रमाण यह है कि सातवाहन कुल का पुलुमावि लिखा जाता है इस रूप में—

"सिद्धम्" राज्ञः शातवाहनानां (=शातवाहनकुलजस्य) श्री पुलुमावेः संव (त्सरे अष्टमे) ८ हेम [न्त-पक्षे द्वितीये] २ दिव [से प्रथमे]

अर्थात् उसको पहले के पुलुमावि से अलग करने के लिये शातवाहन पुलुमावि कहा जाता है। पहले 'पुलुमावि' के साथ कहीं 'शातवाहन' वा शातकर्णी का प्रयोग न होना सिद्ध करता है कि वस्तुतः वह इस कुल का प्राणी नहीं, इसमें आ बसा जीव है। कहने को तो वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि को सातवाहन कह दिया जाता है पर अभी तक यह बताया न जा सका कि क्यों उसका तथा गौतमीपुत्र शातकर्णी का शासन कुछ वर्ष साथ-साथ चलता है। सो भी एक या दो वर्ष नहीं, कुछ कम पूरे बीस वर्ष। २० वर्ष का समय कुछ कम नहीं होता। बीस नहीं उन्नीस वर्ष। पर १९ ही क्या कम है? देखिये न संवत् तो चल रहा है वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि का और गुण गाया जा रहा है गौतमीपुत्र शातकर्णी का। सो भी किस भाषा में। लीजिये उसी की संस्कृत छाया है—

सर्वराजलोकमंडल-प्रतिगृहीत-शासनस्य, दिवसकर-करविबोधित-कमलविमल-सदृश-वदनस्य, त्रिसमुद्र-तोय-पीत-वाहनस्य, परिपूर्ण-चन्द्रमंडल—सश्रीक-प्रियदर्शनस्य, वरवारण-विक्रम-चारु-विक्रमस्य, भुजगपति-भोगपीन-वृत्त-विपुल-दीर्घ-सुन्दर-भुजस्य, अभयोदक-दान-क्लिन्न-निर्भयकरस्य, अविपन्न-मातृ-शुश्रूषकस्य, सुविभक्त-त्रिवर्ग-देश-कालस्य, (=धर्मार्थकामलाभाय स्थानकालव्यवहारकस्य), पौरजन-निर्विशेषसम-सुख-दुःखस्य, क्षत्रिय-दर्पमान-मर्दनस्य, शक-यवन-पल्हव निसूदनस्य, धर्मोपचित-कर-विनियोगकरस्य (=धर्मशास्त्रसमर्थित०) कृतापराधे अपि शत्रुजने अ-प्राणहिंसा-रुचेः, द्विजावर-कुटुम्ब विवर्द्धनस्य (= द्विजा-द्विज-कुल-वर्द्धकस्य), क्षहरात-वंश-निरवशेष-करस्य, शातवाहन-कुलयशः-प्रतिष्ठापनकरस्य, सर्वमंडलाभिवादितचरणस्य, विनिवर्तित-चातुर्वर्ण्य-संकरस्य, अनेकसमरावजित—शत्रुसंघस्य (=० समरेषु विजितशत्रुवृन्दस्य), अपराजित-विजयपताक-शत्रुजनदुष्प्रधर्षणीय-पुरवरस्य, कुलपुरुषपरम्परागत-विपुलराजशब्दस्य, आगमानां निलयस्य (=वेदादिशास्त्रज्ञानस्य आधारस्य), सत्पुरुषाणाम् आश्रयस्य, श्रियः अधिष्ठानस्य, उपचाराणां प्रभवस्य (=सदाचाराणां उद्भवस्य), एकां-

कुशास्य, एकशूरस्य, एकब्राह्मणस्य] (यद्वा० ब्रह्मण्यस्य), राम-केशवार्जुन, भीमसेन-तुल्यपराक्रमस्य, छण-घनोत्सव-समाज (=शुभदिवसेषु महोत्सवादि०) कारकस्य, नाभाग-नहुष-जनमेजय-सगर-ययाति-रामाम्बरीष-सम-तेजसः अपरिमितम् अक्षयम् अचिन्त्यम् अद्भुतं-पवन-गरुड-सिद्ध-यक्षराक्षस-विद्याधर-भूत-गंधर्व-चारण (=स्वर्गीय गायक, किन्नर०) चन्द्र-दिवाकर-नक्षत्र-ग्रह-विचीर्ण (=जुष्ट०, ईक्षित०)—समर शिरसि जितरिपु-संघस्य, नागवर-स्कन्धात् गगनतलम् अभिविगाढस्य, कुलविपुलश्री-करस्य, श्री शातकर्णेः ।

पुलुमावि की गुत्थी—ऐसे श्री शातकर्णी के होते हुए श्री पुलुमावि का शासन कैसे चल पड़ा, यही सातवाहन इतिहास की सबसे बड़ी गुत्थी है। इस गुत्थी को सुलझा देने का अभिमान तो हम नहीं कर सकते, पर अपनी बुद्धि के अनुसार यहाँ प्रयत्न अवश्य करते हैं। हो सकता है यही सच भी हो। श्री पुलुमावि के कुल ४ उत्कीर्ण लेख प्रकाश में आये हैं जिनमें क्रम से उसे कहा गया है—

१—राज्ञः वासिष्ठीपुत्रस्य स्वामि-श्री पुलुमावेः संवत्सरे सप्तमे ७।
२—राज्ञः वासिष्ठीपुत्रस्य श्री पुलुमावेः संवत्सरे एकोनविंशे १६।
३—नवनरस्वामी वासिष्ठीपुत्रः श्री पुलुमाविः आज्ञापयति।······
संवत्सरे द्वाविंशे २२।
४—राज्ञः वासिष्ठीपुत्रस्य श्री पुलुमावेः संवत्सरे चतुर्विंशे २४।

इनमें से किसी में भी राजा श्री पुलुमावि का कीर्तन नहीं हुआ है। हाँ द्वितीय में उसे प्रसंगवश 'दक्षिणापथेश्वर' कह दिया गया है। सच पूछिये तो यह द्वितीय लेख ही विवाद का कारण बन गया है। कारण इसी में श्री शातकर्णी की उक्त विरुदावलि जो है। यदि वह न होता तो कोई बात न थी, ऐसी भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। कारण कि हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि प्रथम और तृतीय में इस बात की समता है। कि इनमें श्री पुलुमावि को 'स्वामी' तथा 'नवनरस्वामी' कहा गया है। एवं द्वितीय तथा चतुर्थ में केवल 'राज्ञः'। तो क्या इसका भी कुछ रहस्य है? कहा जा सकता है कि 'नवनरस्वामी' तो उसी प्रकार 'नवनगर-स्वामी' का बोध कराता है जिस प्रकार श्री गौतमी

पुत्र शातकर्णी के लेख का 'बेना कटक-स्वामि'। और दोनो का अर्थ है राजधानी। राजधानी के नाम से राज्य का नाम चलता भी है। किंतु यहाँ भी कुछ समझ लेने की बात है कि श्री शातकर्णी का आज्ञापन 'विजयस्कंधावार' से चला है जिसका उसमें स्पष्ट उल्लेख है, पर श्री पुलुमावि के आज्ञापन में ऐसा कुछ भी नहीं है। तो भी यदि इस 'स्वामी' को इसी 'आज्ञापन' का कारण मानें तो कोई हानि नही, क्योंकि दोनों ही आज्ञापन राजा की ओर से हैं। किंतु इस न्याय से प्रथम की संगति कैसे बैठेगी ? उसमे भी तो 'स्वामी' का उल्लेख है ? निदान अधिक से अधिक इससे यही कहा जा सकता है कि 'स्वामि' का व्यवहार नयी सत्ता के द्योतन के हेतु हुआ है। कुछ भी हो, काम की बात यहाँ यह है कि १९ वर्ष तक श्री शातकर्णी का शासन श्री पुलुमावि के साथ चला और दिवंगत होने पर ही उसकी ऐसी प्रशस्ति बनी। प्रशस्ति की साधुता कुछ इससे भी सिद्ध हो जाती है कि गौतमी पुत्र श्रीशातकर्णी के १८ वे वर्ष के नासिक-गुहालेख में उत्कीर्ण है—

सेनायाः विजयमानायाः विजयस्कंधावारात् गोवर्धनस्य बेनाकट-स्वामी गौतमीपुत्रः श्रीशातकर्णी आज्ञापयति।

प्रतीत होता है कि इस विजय-अभियान मे उसको जो सफलता मिली उसी का उल्लेख उक्त प्रशस्ति मे हुआ और उसी के परिणाम स्वरूप उसको कुछ ऐसी विरक्ति हुई कि उसने वानप्रस्थ का बाना ले लिया। कुल २४ वर्ष तक का शासन तो उसके लेख से ही सिद्ध है। यदि 'वर्णाश्रम' के अनुसार कुल २५ वर्ष तक शासन किया हो तो इसमे आपत्ति क्या ? प्रशस्ति में उसको 'विनिवर्तितचातुर्वर्णसंकर' कहा भी तो गया है ? पुराणों मे उसके विषय में जो २१ वर्ष का शासन कहा गया है वह तो उसी के शासन के लेख से भ्रान्त सिद्ध हो जाता है। असंभव नहीं कि मूलपाठ रहा हो 'पंचविंशत्' न कि 'एकविंशत्' जैसा कि उनमे दिया गया है।

गौतमीपुत्र शातकर्णी पुत्रहीन रहा हो तो आश्चर्य नहीं। मत्स्यपुराण मे कहा गया है—

राजा च गौतमीपुत्र एकविंशत्ततो नृपः।
अष्टाविंशः सुतस्तस्य पुलोमा वै भविष्यति ॥

जिसका अर्थ यह भी निकाला जा सकता है कि 'तस्य वै पुलोमा सुतः भविष्यति'। रहा 'अष्टाविंशः' सो 'पुलोमा' का विशेषण है ही। उस समय उसकी आयु २८ वर्ष की हो सकती है। शासन भी २८ वर्ष रहा हो तो और भी अच्छा। २४ वर्ष का उल्लेख तो उसके कार्लेगुहा के लेख मे प्राप्त ही है। फिर भी प्रश्न उठता है कि अच्छा तो यज्ञशातकर्णी की स्थिति क्या है। निवेदन है, उसी के नासिक गुहा-लेख में तो उत्कीर्ण है—

राज्ञः गौतमीपुत्रस्य स्वामि-श्री यज्ञशातकर्णेः संवत्सरे सप्तमे ७ ?

तो निश्चय ही वह गौतमी पुत्र शातकर्णी का सहोदर हुआ। संभवतः अनुज ही। सोचने और समझने की बात है कि वास्तव में 'गौतमीपुत्र शातकर्णी' का अपना कोई नाम क्यों नही। 'गौतमीपुत्र' माता के नाम को उजागर करता है तो 'शातकर्णी' पितृकुल को। कहा भी गया है उसे 'अविपन्नमातृशुश्रूषक' तथा 'कुल विपुलश्रीकर'। उसका नाम ही इसी से हो गया है 'गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी'। उसके अनुज का नाम 'श्रीयज्ञ शातकर्णी' भी किसी भाव का द्योतक है। 'यज्ञ' वैदिकधर्म का द्योतक है न ? कुछ भी हो, इन दो शातकर्णियो के बीच का शासक अपने को कही 'शातकर्णी' वा इस कुल का नहीं कहता। वासिष्ठीपुत्र श्रीपुलुमावि का नासिक गुहा लेख यदि ठीक से पढ़ा जा सकता तो इसका पता भी वहीं चल जाता। श्री सरकार द्वारा गृहीत पाठ है—

एत च लेण महादेवी महाराजमाता महाराज-[पि] तामही ददाति।

कोष्ठ के 'पि' को 'मा' पढ़े तो सारी गुत्थी सुलझ जाय और श्री पुलुमावि की मातामही गौतमी बलश्री सिद्ध हो। गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णी तथा गौतमीपुत्र भी यज्ञशातकर्णी के बीच में वासिष्ठीपुत्र श्रीपुलुमावि का शासन किधर से आ गया, इसे हमने प्रत्यक्ष देख लिया और जान लिया कि वास्तव में वासिष्ठी भी गौतमी की पुत्री है। इसी पुत्री का पुत्र होने के नाते पुलुमावि उसका 'नप्ता' हुआ और मामा गौतमीपुत्र शातकर्णी की कीर्ति का मेरु बना। नहीं तो कब कोई शासक किसी अन्य राजा का इतना गुणगान सहता है ?

इन्द्राणि गुप्त—पुलुमावि के विषय में जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि वास्तव में वही आचार्य दंडी का इंद्राणिगुप्त है, यहाँ इतना और भी दिखाया जाता है कि वस्तुतः जिस राजकुमार के साथ वह पला था वह था गौतमी पुत्र

यज्ञ श्रीशातकर्णी जो था गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णी का सहोदर। उसी के साथ बचपन में जो उसका क्रीड़ा-कलह हुआ वह आगे चलकर उसके राज्य का बाधक हुआ और अग्रज का स्थान उसे तब मिला जब यह पुलुमावि न रह गया। पुलुमावि का निधन किस प्रकार हुआ, इसका ठीक पता नहीं। किंतु अवंति सुंदरी कथासार में कहा गया है इसका कारण 'नियुद्ध' ही। उसमें कहा गया है—

स्वातिनाम्ना सहैवासौ ववृधे राजसूनुना।
क्रीडाकलहमारभ्य स्वैरं वैरमभूत्तयोः ॥१७७॥
बन्धुदत्तादिभिर्मित्रै रेकदा विहरन् वने।
पुरुद्वहतरामन्यैरधारयदसौ शिलाम् ॥१७८॥
शाक्यः संघिलको दृष्ट्वा बलं तस्यावधारयत्।
तमेकाकिनमादाय प्रविवेश बिलान्तरम् ॥१७९॥
रसोद्धरणकाले तु जिघांसंतन्निहत्य सः।
दरीपतनदुःखादीननुभूय वने चरन् ॥१८०॥
ततो विश्वलकं लब्ध्वा सुहृदं विन्ध्यगह्वरे।
स्त्रिया कयापि तं रात्रौ भक्ष्यमानमलक्षयत् ॥१८१॥
क्रुद्धेन तु गृहीता सा मुक्तशापा दिवं ययौ।
सौहृदय्यं निगृह्यान्तः प्रतस्थे पुनरप्यसौ ॥१८२॥
स गृहे शाकभिक्षुण्या वंचयित्वा जिघांसितः।
दुःस्वप्नबोधितस्तस्माद्वैदिशाभिमुखो ययौ ॥१८३॥
सुहृद्भिः सहितो भूत्वा बन्धनागारवर्तिनम्।
बन्धुदत्तं ततो हृत्वा जगामोज्जयिनीं प्रति ॥१८४॥
बन्धुदत्तगृहं गत्वा तस्मिन् भरतकन्यया।
अनुरक्तः सरागिण्या रेमे रंगपताकया ॥१८५॥
ततो विनयवत्याख्यामुद्याने नृपकन्यकाम्।
दृष्ट्वा दृष्टिविषेणान्तः स्पष्टं दष्ट इवाभवत् ॥१८६॥
कन्दर्पसर्पदष्टान्तर्दष्टा दर्वीकरेण च।
सा तु शूद्रकसंस्पर्शेनोभयस्या अजीव्यत ॥१८७॥

ततः कन्यापुरं गच्छन् रात्रौ हृच्छयमूर्च्छया ।
स्त्रैणाध्यक्षजनैः क्रुद्धैर्वध्योऽसावित्यवध्यत ॥१८८॥
ततः कथंचिन्निर्मुक्तो मृत्युप्रायादपायतः ।
धात्रीमुखेन तां कन्यामपहृत्य ययौ पुरात् ॥१८९॥
मार्गे मालवराजेन प्रसह्यापहृतां प्रियाम् ।
उपलभ्य तृषा तस्याः पानीयार्थी ययौ स्वयम् ॥१९०॥
विना विनयवत्यासौ गच्छन् कृच्छ्रमनीयत ।
वने वनचरप्रान्तैः कारां चोरचमूपतेः ॥१९१॥
तत्कन्ययानुभूयाज्ञावार्यदास्यभिधानया ।
अमुच्यत तया छन्नं बन्धनाद्बद्धरागया ॥१९२॥
ततः प्रियां परिभ्राम्यन् विन्ध्यकाननलुब्धकान् ।
लीनां विप्रकुले क्वापि श्रुतौ सत्वरमभ्ययौ ॥१९३॥
ततोऽपि मथुरां नीतामाकर्ण्य मथुरां ययौ ।
द्विजेन स्वतनूजायाः सखित्वे वर्ततामिति ॥१९४॥
तत्र स्नातः सरस्तोये निहितः स्तेयदर्शिना ।
पुरुषाश्चोर इत्येनं निन्युर्बद्धभुजद्वयम् ॥१९५॥
दृष्ट्वा विनयवत्येनं भर्तारं चोरचिह्नितं ।
अमात्येन सखी पित्रा क्षणं मृत्योर्न्यवर्तयत् ॥१९६॥
उपहारकृते रात्रौ पशुवन्मारितोऽप्यसौ ।
न जहौ जीवितं भूयः प्रेयस्या समगच्छत ॥१९७॥
स तु मालव एवासीदास्ते यस्या गृहे प्रिया ।
तत्कन्यामपि तन्वंगीमुपयेमे स यज्ञदाम् ॥१९८॥
मथुरेन्द्रदुहित्रासौ रमितः शूरसेनया ।
वसन् मृत्युमुखप्रायानपायानयमन्वभूत् ॥१९९॥
बहूनां विपदामन्ते विगृह्य स्वातिना सह ।
बालमित्रभटत्वैनं जीवग्राहमजिग्रहत् ॥२००॥
सुहृद्भिर्दयिताभिश्च प्रथितप्रेमभिः सह ।
शतं समाः क्षमामेकः शशास चतुरर्णवाम् ॥२०१॥

ब्रह्मरक्तो नियुद्धेन मत्वैव परमेश्वरः।
धर्मपालस्य नामासीत् कामपालाख्यः यो सुतः ॥२०२॥

[अवन्तिसुंदरीकथासार, चतुर्थपरिच्छेद]

'ब्रह्मश्री' के शाप से 'इन्द्राणिगुप्त अथवा 'शूद्रक' को जो-जो भोग भोगने पड़े उनका लेखा आपके सामने है। इतिहास के 'पुलुमावि' को जीवन में क्या कुछ करना पडा, इसका पता नही। परंतु सौभाग्य से आचार्य दंडी का यहाँ भी कहना है और कहना है स्वयं 'अवंतिसुंदरी कथा' में कि—

शूद्रकेणासकृज्जित्वा स्वच्छया खड्गधारया।
जगद्भूयोऽभ्यवष्टब्धं वाचा स्वचरितार्थया॥

तो क्या फिर काव्य के आधार पर इतिहास का पता लगाना ठीक न होगा? स्मरण रहे, इतिहास मे भी कहा गया है—

प्रसह्योत्सादकेन दक्षिणापथपतेस्सावकर्णिर्द्विरपिनीर्व्याजमवजित्या-वजित्यसम्बन्धाविदूरतया अनुत्सादनात्प्राप्तयशसा।

पुलुमाविका प्रणय—रुद्रदामा के इस जूनागढी लेख मे 'सम्बन्ध' का उल्लेख है, 'उत्सादन' की चर्चा है और है दक्षिणापथपति शातकर्णी के साथ यह संघर्ष। किंतु यही विधान है 'अविदूरता' का भी। अच्छा तो इस 'अविदूरता' का भेद क्या है जो इस प्रकार उलझा कर रख दिया गया है। प्रायः लोगों का कहना है कि रुद्रदामा की कन्या शातकर्णी-कुल में ब्याही गयी थी। किससे उसका व्याह हुआ था, इसी मे मतभेद है। यह विवाह कब और क्यो हुआ, यह भी अनुमान की बात है। किंतु रुद्रदामा के इसी उत्कीर्ण लेख मे जो 'भ्रष्टराजप्रतिष्ठापक' का प्रयोग इसके लिए किया गया है उससे व्यक्त होता है कि उसकी स्वाधीनता ही उसके 'उत्सादन' के मूल में है और अपनी आन ही 'उत्सादक' बनाती है किसी दक्षिणापथपति शातकर्णी को। हमारी समझ मे यह शातकर्णी है गौतमीपुत्र श्री यज्ञशातकर्णी जो उत्सादक बनता है 'पुलुमावि' के अनंतर। श्री पुलुमावि का विवाह ही यह 'अविदूरता' के मूल में मानना समीचीन इसलिये जान पडता है कि अब पुलुमावि भी इसी कुल का प्राणी हो गया था और था भी उक्त 'शातकर्णी' का भागिनेय। पुलुमावि के शासन में

स्वभावतः रुद्रदामा का बल बढ़ा होगा और उसके निधन के उपरान्त ही वह स्वतन्त्र बन बैठा होगा। स्मरण होगा कि 'अवन्तिसुन्दरी कथासार' मे स्पष्ट कहा भी गया है कि शूद्रक ने उज्जयिनी की नृप कन्या से विवाह किया। यदि नहीं तो फिर देख लीजिये कि किस प्रकार उसने उज्जयिनी की नृप कन्या 'विनय वती' से गुप्त रीति से विवाह किया और छिन जाने पर फिर उसकी टोह में मथुरा तक गया, जहाँ मथुरेन्द्र की दुहिता शूरसेना से विवाह किया।

टॉकने की बात है कि शूद्रक के शाप का अत इसी 'शूरसेना' के रमण के साथ हो जाता है और फिर वह लौटकर 'स्वाति' को बन्दी बनाता और 'राज्यश्री' को भोगता है। इस 'राज्यश्री' की प्राप्ति के पहले जहाँ कहीं किसी राजकन्या से उसका छिपकर रमण हुआ है उसका अर्थ है वहाँ आक्रमणकारी होना। उज्जयिनी की राजकन्या 'विनयवती' मथुरा में किसी 'मालव' के यहाँ थी का भाव है उस समय मथुरा का भी किसी विदेशी सत्ता के हाथ होना। सभी जगह शूद्रक को किसी राजकन्या के लिये जो मरना पडता है उसका रहस्य हमारी समझ मे यही है। और इसी विजययात्रा के परिणाम स्वरूप 'शूद्रक' को वह राज्य मिला जो वैसे 'स्वाति' को मिलता तो कुछ गडबड नही। घटना चक्र का घुमाव ही ऐसा था। हो सकता है कि शूद्रक की हत्या के लिये 'स्वाती' की ओर से कुछ षडयंत्र भी किया गया हो जिसका रूप 'कथासार' के 'शाक्य संघ-लिक' और 'शाक्यभिक्षुणी' की चेष्टा में सुरक्षित है। ब्राह्मण्यशूद्रक की घात में 'शाक्य' का लगा रहना कुछ अद्भुत नही, उस समय कुछ सघर्ष था ही। निदान सभी प्रकार के परिशीलन से पता चलता है कि हो न हो यही पुलुमावि शूद्रक के रूप में सस्कृत वाङ्मय में प्रतिष्ठित है और इसी के विषय में इसके अद्भुत नाटक मृच्छकटिक में कहा भी गया है—

समरव्यसनी प्रमादशून्यः ककुदं वेदविदां तपोधनश्च।
परवारणबाहुयुद्धलुब्धः क्षितिपालः किल शूद्रको बभूव॥

निधन—सब तो ठीक, पर वस्तुतः इस 'परवारणबाहुयुद्धलुब्धः' का अर्थ क्या? सो भी 'लुब्धः' का प्रयोग कैसा? यह कोई अच्छा कर्म तो है नही। 'परवारण' का अर्थ चाहे जो हो, पर 'बाहुयुद्ध-लुब्धः' में तो कोई भेद नहीं। हम इसी लोभ को शूद्रक के निधन का कारण समझते हैं। इसके पहले कहा

गया है 'शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः'। कारण दिया गया है संक्षेप मे सब कुछ कर लिया और पुत्र को राजा भी देख लिया। 'राजानं वीक्ष्य पुत्रं' मे पुत्र के राजा होने की तो बात है पर उसे राज देने की नहीं। उधर आचार्य दंडी के आधार पर कहा गया है—

ब्रह्मरक्षो नियुद्धेन मत्वैव परमेश्वरः।
धर्मपालस्य नामासीत् कामपालाख्य यो सुतः ॥२०२॥

इसमें द्वितीय पंक्ति का अर्थ चाहे जो हो, पर प्रथम पंक्ति के 'नियुद्ध' का अर्थ क्या समझा जाय। 'नियुद्ध' का अर्थ होता भी है 'बाहुयुद्ध' ही न? परिस्थिति के परिशीलन और प्रकरण के परितः विचार से अवगत होता है कि किसी 'बाहुयुद्ध' में परास्त होने पर शूद्रक ने अग्नि मे प्रवेश किया। आश्चर्य नही कि इस 'नियुद्ध' और इस 'बाहुयुद्धलुब्ध' में इसी का निर्देश हो। नही तो इसके पहले भी तो सूत्रधार ने स्पष्ट कह दिया था—

एतत्कविः किल—

द्विरेन्द्रगतिश्चकोरनेत्रः परिपूर्णेन्दुमुखः सुविग्रहश्च।
द्विजमुख्यतमः कविर्बभूव प्रथितः शूद्रक इत्यगाधसत्त्वः ॥

फिर इसी को बार-बार दोहराने का महत्त्व क्या?

उपाधि—हाँ, तो 'मृच्छकटिक' के 'राजानं वीक्ष्य पुत्रं' से सिद्ध हुआ कि शूद्रक अपने पुत्र को राजा देखकर स्वर्गस्थ हुआ था; किंतु इतिहास से कैसा क्या कुछ सिद्ध होता है, कह नही सकता। लोग तो शूद्रक किंवा 'पुलुमावि' को भी शातकर्णि ही समझते है। पर जैसा कि 'मत्स्यपुराण' में कहा गया है वह उनसे भिन्न है। मत्स्य का स्पष्ट कथन है—

पुलोमा सप्त वर्षाणि अन्यस्तेषाम् भविष्यति।

और इसी की पुष्टि होती है उन सिक्को से जिन्हे लोग भूल से सामन्त-सिक्के मान रहे हैं।

कोल्हापुर के निकट ब्रह्मपुरी से कुछ ऐसे सिक्के मिले है जिनका मर्म पाना कठिन हो रहा है। बात यह है कि उन पर ठप्पा है—

१—वासिष्ठीपुत्र विलिवायकुर,
२—माढरीपुत्र शिवलकुर, तथा
३—गौतमीपुत्र विलिवायकुर

का। उनके अध्ययन से सिद्ध होता है कि इनका कालक्रम भी यही है। कारण कि पहले तथा दूसरे के सिक्के पर तीसरे की छाप है और पहले पर दूसरे तथा तीसरे की। इनमें से प्रथम को हम शूद्रक अथवा वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि का सिक्का मानते है और द्वितीय को उसके पुत्र का जिसका नाम कदाचित 'माढरीपुत्र शकसेन' था, और जो था शक राजा रुद्रदामा का दौहित्र भी।

प्रश्न उठता है, सो तो ठीक; पर इन कुरान्त नामों का अर्थ क्या? क्यो वासिष्ठी-पुत्र को 'विलिवायकुर' कहा गया है और क्यो कहा गया है माढरीपुत्र को 'शिवलकुर', साथ ही फिर कहा गया है गौतमीपुत्र को भी 'विलिवायकुर'। हमारी दृष्टि मे कारण प्रत्यक्ष है। आप जानते ही है कि प्रथम और तृतीय के राजचिन्हों मे कोई ऐसा भेद नहीं कि उसको विशेष महत्व दिया जाय, पर द्वितीय के राज चिन्हो में विशेषता यह है कि उस पर एक 'चैत्य' का लांछन अधिक है। कहते हैं कि सातवाहन-सिक्कों पर चैत्य को स्थान उज्जैन के क्षत्रप शासको के कारण मिला और उन्ही की देखा देखी सातवाहन भी उसको अपनाने लगे। यदि बात यही है तो यह और भी स्फुट हो जाता है कि क्यो किसी शक—दौहित्र ने इस लांछन को फिर से उस समय अपनाया जब कि उसका सघर्ष था किसी शातकर्णी से। हम तो सचमुच यह कहना चाहते है, कि हमारी दृष्टि में 'शिवलकुर' का अर्थ है 'चैत्यध्वज'। माढरीपुत्र की ध्वजा मे चैत्य का लांछन रहा हो तो असंभव नहीं। इसी प्रकार 'विलिवायकुर' का संकेत है 'चापध्वज'। तमिल मे 'कुर' का अर्थ है 'ध्वजा' और 'विलिवाय' का अर्थ है 'इन्द्रधनुप'। सातवाहन-सिक्को पर धनुष-बाण का अंकन है ही। रही तमिल उपाधि की बात, सो प्रत्यक्ष ही उसके क्षेत्र में शासन के हेतु है। शूद्रक अथवा वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि का शासन तामिलदेश में था और 'पुलुमावि' था भी 'पुलोमारि' अथवा 'इन्द्राग्निगुप्त' किंवा 'पुलोमा' वा इन्द्र ही। तात्पर्य यह कि हमें इन उपाधियो और इन विरुदो के सहारे उस समय के इतिहास के मूल में बैठना चाहिए और यह समझ रखना चाहिए कि जो गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी को 'द्विजावरकुटुम्बवि-

वर्द्धन' की उपाधि से विभूषित किया गया है उसका कुछ कारण है। वास्तव में कहा जा सकता है कि यह वासिष्ठीपुत्र श्री पुलुमावि का शासन ही है जो 'तमिल' को भी 'आर्य' से बाँध देता है और यह है वस्तुतः इसी शूद्रक का यह प्रताप जो 'मृच्छकटिक' का 'शर्विलक' मंगल-कामना करता है—

जयति वृषभकेतुर्दक्षयज्ञस्य हन्ता,
तदनु जयति भेत्ता षण्मुखः क्रौञ्चशत्रुः।
तदनु जयति कृत्स्नां शुभ्रकैलासकेतु,
विनिहितवरवैरी चार्यको गां विशालाम् ॥१०-४६॥

शालिवाहन—मृच्छकटिक का 'आर्यक' कौन है और कौन है उसका 'शर्विलक' यह तो आगे की बात ठहरी। यहाँ अभी कहना इतना ही है कि यह 'वासिष्ठपुत्र विलिवायकुर' और कोई नही, हमारा चिरपरिचित 'वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि' ही है और है 'गौतमीपुत्र विलिवायकुर' भी फलतः वही हमारा पुराना 'गौतमीपुत्र श्री यज्ञशातकर्णी' जिससे वैमनस्य हो गया था 'क्रीडाकलह' में 'पुलुमावि' का और जो शासक बना था 'माढरीपुत्र शिवलकुर' को अंत में दबाकर। कह तो नही सकता पर लगता यही है कि 'शूद्रक' को समझने में अब तक भारी भूल हुई है और फलत. 'सातवाहन' का इतिहास भी अभी तक खुल कर सामने नही आ सका है। भूलना न होगा कि 'शालिवाहन' का शासन 'भाषा' की दृष्टि से बडे महत्त्व का है। इस शासन मे प्राकृत को जो महत्त्व मिला सो तो था ही, 'संस्कृत' भी शासक के लिये सुगम बनायी गयी; और कहा तो यहाँ तक जाता है कि 'पैशाची' की 'बृहत्कथा' भी किसी 'गुणाढ्य' की कृपा से इसी शासन मे बनी थी। जब 'प्राकृत' का इतना दुलार इस शासन में है तब यह मान लेने में विपत्ति क्या कि वास्तव में 'विलिवायकुर' और 'शिवलकुर' तमिल भाषा के शब्द है और उनके परितोषार्थ ही इस प्रकार सातवाहन-सिक्कों पर गृहीत हुए हैं। 'सातवाहन' कुल का नाम है और 'शालिवाहन' उसके स्वरूप वा ख्याति का शालिवाहन नाम का कोई राजा हुआ वा नही, हम नही कह सकते, पर इतना जानते अवश्य हैं कि हमारे देश में 'विक्रमादित्य' के साथ ही 'शालिवाहन' का भी साका चलता है। मूल का पता नही, पर अतीत दोनो के

साथ जुटा है। द्वितीय की विशेषता यह है कि वह निराशासक ही नहीं कवि भी है। राजा विक्रमादित्य और कवि शालिवाहन साथ ही राजा भी।

शूद्रक की पहिचान—'गुणाढ्य' की 'बृहत्कथा' चाहे जिस भाषा में रही हो, उसके मूल का कुछ पता नही। हाँ, उसकी कथा अनेक रूपो में हमारे सामने विराजमान है। हम यहाँ क्षेमेन्द्र के कथन को लेते हैं और दिखा देना चाहते हैं कि उसमें 'शूद्रक' के विषय में क्या कहा गया है। कहते है—

अस्ति शोभावती नाम नगरी संपदां निधिः।
भुवो भूषणमालेव भूरिरत्नविराजिनी ॥२६३॥
बभूव शूद्रकस्तस्यां यशस्वी पृथिवीपतिः।
भार्गवादिकथाः कार्श्यं यद्वीरचरितैर्ययुः ॥२६४॥
नेत्राम्बु शत्रुनारीणां पातयन्ती निरन्तरम्।
धूमावली—प्रतापाग्नेर्बभौ यस्यासिवल्लरी ॥२६५॥
यस्योरुरत्नवलये दोष्णि कर्पूरपाण्डुरे।
निपसादेव पृथिवी निःशेपाशेषसंख्यया ॥२६६॥
चतुर्गुणगुणोपेतपृथुसत्त्वसखं मनः।
यस्य संभागिवैश्वर्यमद्वितीयस्तु विक्रमः ॥२६७॥
तस्य सोमप्रभा नाम लावण्यामृतशालिनी।
बभूव वल्लभा चित्तकैरवस्थलशालिनी ॥२६८॥
तं कदाचिन्महास्थाने स्थितं शक्रमिवापरम्।
व्यजिज्ञपत्प्रतीहारो मौलिपल्लविताञ्जलिः ॥२६९॥
मालवीयो महासत्त्वः करवालसखो द्विजः।
देव वीरवरो नाम सेवार्थं द्रष्टुमिच्छति ॥२७०॥
इत्युक्त्वा प्राप स नृपभ्रूसमुल्लासशासनम्।
अवेशद्वीरवरं राजसिंहगुहां सभाम् ॥२७१॥
स प्रविश्य महीपालं ददर्श धवलांशुकम्।
लग्नदुग्धाब्धिकल्लोलं विश्रान्तमिव मन्दरम् ॥२७२॥
बिभ्राणं धवलोष्णीषमट्टहासं जयश्रियः।
आवर्तमानं व्योम्नीव हेलाकुटिलितं यशः ॥२७३॥

मौलिनीलमणिच्छायावलयैर्दूरसर्पिभिः ।
(दिशन्तं दिक्षु भूपानां मुखेषु श्यामिकामिव ॥२७४॥
विलोलकुन्तलोद्योतैर्विराजद्गण्डमण्डलम्) ।
रणलीलासमुद्भूतैः पुलकैरिव नोज्झितम् ॥२७५॥
हेमसिंहासनासीनं तारहारविराजितम् ।
मार्तण्डमिव मेरुस्थं दर्शावष्टेन्दुमण्डलम् ॥२७६॥
इन्द्रनीलमहानीलशिलान्यस्तांघ्रिपंकजम् ।
करालकालीयशिरोन्यस्तपादमिवाच्युतम् ॥२७७॥

[बृहत्कथामंजरी, ९ शशांकती]

मालवीय वीरवर ने शूद्रक की सेवा में रहकर उसकी राजलक्ष्मी को कैसे प्रसन्न किया और कैसे सकुटुम्ब देवी की बलि बना, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता है यह जानने की कि शूद्रक ने उसके आत्मबलिदान से प्रभावित हो किया यह कि—

ततः प्रभाते भूपालः सभास्थानमुपागतः ।
निवेद्य रात्रिवृत्तान्तं मन्त्रिभ्यो निश्चलस्ततः ॥३३०॥
ददौ वीरवरायाशु लाटराज्यं ससागरम् ।
नर्मदाकूलसहितं सगौडं दक्षिणापथम् ॥३३१॥
तं च शक्तिवरं दत्त्वा राजानं दक्षिणापथे ।
मेने तदुपकारस्य शतांशस्य प्रतिक्रियाम् ॥३३२॥

'बृहत्कथामंजरी' की इस 'प्रतिक्रिया' की चर्चा हो, इसके पहले ही यह भी निवेदन कर देना है कि 'सगौडं दक्षिणापथम्' का पाठान्तर है 'मरुकच्छं च भूरिदः'। 'मरुकच्छ' का शुद्ध रूप कदाचित् 'भरुकच्छ' रहा हो तो ठीक अन्यथा अर्थ में कुछ असुविधा होगी और इसे कहीं मरुभूमि वा मारवाड़ के पास मानना होगा। किंतु उधर उसी 'बृहत्कथा' के आधार पर सोमदेव का कहना है—

ददौ तस्मै सपुत्राय प्रीत्या वीरवराय च,
लाटदेशे ततो राज्यं स कर्णाटयुते नृपः ॥११९॥

[कथासरित्सागर, लम्बक १२, तरंग ११]

अस्तु, साधु यही प्रतीत होता है कि अवसान काल में मालवीय वीरवर को शूद्रक ने 'लाट' से लेकर 'कर्णाट' तक का राज्य दिया। 'अवसान' इसलिये कि स्पष्ट कहा गया है कि 'पृथिवी' ने 'वीरवर' से कहा था—

भो वीरवर जानीहि वत्स मां पृथिवीमिमाम्।
तस्या ममाधुना राजा शूद्रको धार्मिकः पतिः ॥४३॥
तृतीये च दिने तस्य राज्ञो मृत्युर्भविष्यति।
तादृशं च पतिं प्राप्स्याम्यहमन्यं नृपं कुतः ॥४४॥

[वही]

कह नही सकते कि 'वेतालपंचविंशतिका' का यह 'वीरवर' स्वय 'बृहत्कथा' का 'वीरवर' है वा नही; और यदि है तो 'अवन्तिसुंदरीकथासार' के 'बन्धुदत्त' से उसका कुछ लगाव है वा नहीं; पर इतना तो व्यक्त ही है कि इस शूद्रक को 'पुलुमावि' मान लेने मे कोई क्षति नही।

शूद्रक का दाक्षिण्य—शूद्रक का जो रूप 'अवंतिसुंदरीकथासार' में देखने को मिला है वह बहुत कुछ लम्पट वा बहुवल्लभ का रूप है। धीरे-धीरे हम देखते यह है कि आते-आते विद्यापति के यहाँ उसे ऐसा अनुकूल समय मिला कि वह आदर्श बन गया। विद्यापति ने 'कामकथा' मे उसी को अनुकूल नायक का आदर्श बनाया है और लिखा है—

अनुकूलो दक्षिणश्च विदग्धो धूर्त एव च।
घस्मरश्च समाख्याताः कामिनः पञ्चधा बुधैः ॥३॥

तेषु प्रथममनुकूलः कथ्यते। तद्यथा—

अनुरक्तः स्वभार्यायां परस्त्रीषु परांमुखः।
नायको धर्मशृंगारी सोऽनुकूलो निगद्यते ॥४॥

पुरा बभूव शूद्रको नाम राजा। तस्य सुखासन्तनाम्नी महिषी बभूव। समुत्पन्ने च द्वयोस्तारुण्यभावे परस्परानुभावात्क्रमेण तस्यां प्रेमवृद्धिर्जाता। स राजा द्वितीयां स्त्रियं न कामयते। महिषी तु पतिव्रतैव।

भूयादनश्वरं प्रेम यूनोर्जन्मनि जन्मनि।
धर्मशृंगारसंपृक्तः सीताराघवयोरिव ॥५॥

[पुरुषपरीक्षा, ३५ अनुकूल कथा [

शूद्रक की इस प्रेम कथा में उसका जो दृढ प्रेम दिखाया गया है वह देखते ही बनता है। प्राण देकर प्रिया को बचा लेने का भाव यहीं दिखाई देता है। उधर हम मृच्छकटिक में देखते हैं चारुदत्त और वसंत सेना को। शूद्रक कथन हो वा न हो, पर प्रकरण की प्रस्तावना मे कहा गया है—

अवन्तिपुर्यां द्विजसार्थवाहो युवा दरिद्रः किल चारुदत्तः।
गुणानुरक्ता गणिका च यस्य वसन्तशोभेव वसन्तसेना ॥६॥
तयोरिदं सत्सुरतोत्सवाश्रयं नयप्रचारं व्यवहारदुष्टताम्।
खल स्वभावं भवितव्यतां तथा चकार सर्वं किल शूद्रको नृपः ॥७॥

[मृच्छकटिक, प्रथम अंक]

'चकार सर्वं किल शूद्रको नृपः' से ध्वनित होता है कि वक्ता कोई और ही है। 'कविर्बभूव' 'अग्निं प्रविष्टः,' 'किल शूद्रको बभूव' आदि के प्रयोग से यह धारणा और भी दृढ हो जाती है कि यह 'चकार सर्वं किल शूद्रको नृपः' भी स्वयं शूद्रक की रचना नहीं है। 'किल' का इतना आग्रह ही सचेत करता है कि इसका रहस्य कुछ अवश्य है। उधर हम देखते हैं कि इसी प्रकार की चेष्टा तमिल के अनूठे काव्य 'शिलप्पदिकारम्' की प्रस्तावना में भी की गयी है कि इसका लेखक भी राजकुमार है। कह नहीं सकते कि इसका रहस्य क्या है कि इधर मृच्छकटिक मे यह लीला दिखायी देती है और उधर 'शिलप्पदिकारम्' मे। 'शिलप्पदिकारम्' के पूरक के रूप में एक दूसरी रचना 'मणिमेकलै' भी प्राप्त है जिसका रचयिता कहा गया है कोई 'कूलवाणिकन्'। रचनाकाल भी प्रायः इनका चलता है 'मृच्छकटिक' के साथ ही। किंतु इससे भी कहीं अधिक महत्त्व की बात यह है कि 'कूलवाणिकन् शीत्तलै शात्तन्' के नाम में जो 'शात्तन्' आया है उसे कुछ लोग 'शातवाहन' का अपभ्रंश समझते हैं और शोधक के सामने एक नया प्रश्न उपस्थित कर देते हैं। अस्तु, अब इस प्रश्न को टाला नहीं जा सकता कि वस्तुतः वस्तुस्थिति है क्या? कारण सिक्कों से सिद्ध हो गया है कि शूद्रक का लगाव 'तमिल' से था और सातवाहन शासक उस भाषा को भी अपनाते थे।

पैशाची—अच्छा होगा, यहीं गुणाढ्य की 'पैशाची' को भी परख लिया जाय। सो क्षेमेन्द्र के गुणाढ्य का कहना है—

प्रतिज्ञायेति तपसा विलोक्य वरदं गुरुम् ।
स कातन्त्रेण नृपतिं मासैश्चक्रे बहुश्रुतम् ।।४८।।
ततः पराजितो मौनी नृपेण स्थातुमर्थितः ।
शिष्याभ्यां सहितो दुःखाद्यातोऽहं दिशमुत्तराम् ।।४६।।
तपसा तत्र रुद्राणि दृष्ट्वा तद्वचसा ततः ।
त्वामासाद्य गते शापे मया जातिः स्मृता सखे ।।५०।।
ज्ञात्वा देवीप्रसादेन त्यक्तभाषात्रयोऽप्यहम् ।
पैशाचामनपभ्रंशसंस्कृतप्राकृतां श्रितः ।।५१।।

[बृहत्कथामजरी, कथापीठ]

भला 'अपभ्रंश,' 'संस्कृत' और 'प्राकृत' की भाषात्रयी को छोड़कर जिस 'पैशाची' में रचना की गयी उसकी गणना किसी देश भाषा के अतिरिक्त कहाँ होगी। इसके आगे कहा भी गया है—

प्राहिणोत्ता लिखित्वा च शातवाहनभूभुजे ।
स च लक्ष्मीमदोन्मत्तो नामन्यत विशृंखलः ।।८६।।
पैशाची वाग्मषीरक्तं मौनोन्मत्तश्च लेखकः ।
इति राजाब्रवीत्का वा वस्तुसारविचारणा ।।८७।।

[वही]

राजा शातवाहन की अवज्ञा का कारण भी यहीं दे दिया गया है और यह भी कह दिया गया है कि जहाँ संस्कृत की रुचि बढ़ी वही पैशाची की भावना भी जगी। सच पूछा जाय तो आज भी यह प्रसंग बड़े महत्त्व का है, अतः इसकी चर्चा कुछ और भी हो ले तो अच्छा।

सातवाहन की निरुक्ति—'बृहत्कथा' में 'सातवाहन' के विषय में जो कुछ कहा गया है उसमें मुख्य है—

एवमुक्ते गुणाढ्येन काणभूतिरभाषत ।
सातवाहन इत्यस्य कस्मान्नामाभवत्प्रभो ।।८७।।
ततोऽब्रवीद्गुणाढ्योऽपि शृण्वेतत्कथयामि ते ।
दीपकर्णिरिति ख्यातो राजाभूत्प्राज्यविक्रमः ।।८८।।

तस्य शक्तिमती नाम भार्या प्राणाधिकाभवत् ।
रतान्तसुप्तामुद्याने सर्पस्तां जातु दष्टवान् ॥८९॥
गतायामथ पञ्चत्वं तस्यां तद्‌गतमानसः ।
अपुत्रोऽपि स जग्राह ब्रह्मचर्यव्रतं नृपः ॥९०॥
ततः कदाचिद्‌द्राव्याहपुत्रासद्भावदुःखितम् ।
इत्यादिदेश तं स्वप्ने भगवानिन्दुशेखरः ॥९१॥
अटव्यां द्रक्ष्यसि भ्राम्यन्सिंहारूढं कुमारकम् ।
तं गृहीत्वा गृहं गच्छेः स ते पुत्रो भविष्यति ॥९२॥
अथ प्रबुद्धस्तं स्वप्नं स्मरन्राजा जहर्ष सः ।
कदाचिच्च ययौ दूरामटवीं मृगयारसात् ॥९३॥
ददर्श तत्र मध्याह्ने सिंहारूढं स भूपतिः ।
बालकं पद्मसरसस्तीरे तपनतेजसम् ॥९४॥
अथ राजा स्मरन्स्वप्नमवतारितबालकम् ।
जलाभिलाषिणं सिंहं जघानैकशरेण तम् ॥९५॥
स सिंहस्तद्वपुस्त्यक्त्वा सद्योऽभूत्पुरुषाकृतिः ।
कष्टं किमेतद्‌ब्रूहीति राज्ञा पृष्टो जगाद च ॥९६॥
धनदस्य सखा यक्षः सातो नामास्मि भूपते ।
सोऽहं स्नान्तीमपश्यं प्राग्गंगायामृषिकन्यकाम् ॥९७॥
सापि मां वीक्ष्य संजातमन्मथाभूदहं तथा ।
गान्धर्वेण विवाहेन ततो भार्या कृता मया ॥९८॥
तच्च तद्बान्धवा बुद्ध्वा ता च मां चाशपन्क्रुधा ।
सिंहौ भविष्यतः पापौ स्वेच्छाचारौ युवामिति ॥९९॥
पुत्रजन्मावधिं तस्याः शापान्तं मुनयो व्यधुः ।
मम तु त्वच्छरावातपर्यन्तं तदनन्तरम् ॥१००॥
अथावां सिंहमिथुनं संजातौ सापि कालतः ।
गर्भिण्यभूत्ततो जाते दारके ऽस्मिन्व्यपद्यत ॥१०१॥
अयं च वर्धितोऽन्यासां सिंहीनां पयसा मया ।
अद्य चाहं विमुक्तोऽस्मि शापाद्बाणाहतस्त्वया ॥१०२॥

तद्गृहाण महासत्त्वं मया दत्तममुं सुतम् ।
अयं ह्यर्थः समादिष्टस्तैरेव मुनिभिः पुरा ॥१०३॥
इत्युक्त्वान्तर्हिते तस्मिन्सातनामनि गुह्यके ।
स राजा तं समादाय बालं प्रत्याययौ गृहम् ॥१०४॥
सातेन यस्मादूढोऽभूत्तस्मात्तं सातवाहनम् ।
नाम्ना चकार कालेन राज्ये चैनं न्यवेशयत् ॥१०५॥
ततस्तस्मिन्गतेऽरण्यं दीपकर्णौ क्षितीश्वरे ।
संवृत्तः सार्वभौमोऽसौ भूपतिः सातवाहनः ॥१०६॥

[कथासरित्सागर, कथापीठ लम्बक, तरंग ६]

हम और कुछ नहीं, प्रसंगवश इतना तो कह ही देते हैं कि इस सातवाहनी कथा में से यदि अलौकिकता को निकाल दें और सीधे से कहा चाहें तो कह सकते हैं कि वस्तुतः सातवाहन नाम पडा है 'सात' अथवा 'साद' को 'वाहन' बनाने के कारण। 'साद' का प्रयोग उतना संस्कृत में नहीं मिलता पर, 'सादिन्' (अश्वारोही) का प्रयोग प्रायः मिल जाता है। रहो 'दीपकर्णी' की बात, सो भी और कुछ नहीं 'शातकर्णी' का ही रूपान्तर है जो दुराव के लिए कर दिया गया है। ऐसा कह नहीं सकता कि लोग इस 'सातवाहन' को 'वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि' मानेंगे वा नहीं, पर हमें तो भासता ऐसा है कि इसमे गौतमीपुत्र शातकर्णी को ही 'दीपकर्णी' कर दिया गया है। हम पहले ही देख चुके हैं कि श्री पुलुमावि का गोत्र श्री शातकर्णी के गोत्र से भिन्न था और आचार्य दंडी के अनुसार उसका पालन-पोषण भी हुआ था सातवाहन वा 'स्वाति' कुल में ही। आशा है पाठक यह भी न भूले होगे कि वह भ्रमा भी था विन्ध्याटवी मे बहुत और वहीं पकड़ा भी गया था किसी 'चोरचमूपति' के द्वारा। तो क्या इस 'चोर' को हम 'चोल' नहीं समझ सकते और उस समय के चोल-शासन की कुछ सीमा नहीं देख सकते?

गुणाढ्य—जो हो, प्रसंग पैशाची भाषा का है सो उसी की दृष्टि से देखिये और यह समझ रखिये कि इसी सातवाहन के शासन मे उसमें रचना होती है, कुछ किसी और के शासन में नहीं। इसीके शासन में इसी के मंत्री गुणाढ्य को किसी विलक्षण भाषा मे रचना की क्यो सूझी, इसकी भी कहानी बहुत रोचक है। कहते हैं और बदते हैं स्वयं गुणाढ्य जी ही—

श्रुत्वैवैतदसंभाव्यं तमवोचमहं रुषा।
षड्भिर्मासैस्त्वया देवः शिक्षितश्चेत्ततो मया ॥१४७॥
संस्कृतं प्राकृतं तद्वद्देशभाषा च सर्वदा।
भाषात्रयमिदं त्यक्तं यन्मनुष्येषु संभवेत् ॥१४८॥

[वही]

गुणाढ्य के रोष का कारण बना शर्ववर्मा का संस्कृत को सुगम और सरल बनाना। उनका 'कातन्त्र' व्याकरण इसी पैज का परिणाम है। शर्ववर्मा का प्रयास फला और 'सातवाहन' 'मोदक' की संधि मे पारंगत हो गये। चकित न हों, 'मोदक' का रहस्य है—

अथैका तस्य महिषी राज्ञः स्तनभरालसा।
शिरीषसुकुमारांगी क्रीडन्ती क्रममभ्यगात् ॥११३॥
सा जलैरभिषिञ्चन्तं राजानमसहा सती।
अब्रवीन्मोदकैर्देव परिताडय मामिति ॥११४॥
तच्छ्रुत्वा मोदकान्राजा द्रुतमानाययद्बहून्।
ततो विहस्य सा राज्ञी पुनरेवमभाषत ॥११५॥
राजन्नवसरः कोऽत्र मोदकानां जलान्तरे।
उदकैः सिञ्च मा त्वं मामित्युक्तं हि मया तव ॥११६॥
सन्धिमात्रं न जानासि माशब्दोदकशब्दयोः।
न च प्रकरणं वेत्सि मूर्खस्त्वं कथमीदृशः ॥११७॥

[वही]

जलक्रीडा के समय जिस महिषी ने ऐसी संस्कृत झाड दी वह थी 'विष्णु शक्ति दुहिता' जिसे हम कहा चाहते है राजा रुद्रदामन् की दुहिता। कारण उसका जूनागढ का उत्कीर्ण लेख ही बताया जा सकता है, जो उस प्राकृतयुग में संस्कृत का सत्कार करता है। उसी की दुहिता को यह भाषा 'दाय' मे मिली होगी और उसी को होगा संस्कृत से इतना अनुराग। और कुछ नही जिस प्रेरणा से हमने 'दीपकर्णी' को 'शातकर्णी' पढा है उसी प्रेरणा से 'विष्णुशक्ति' को 'रुद्रशक्ति'। शेष के विषय मे कहना ही क्या? हाँ, रह गया गुणाढ्य का व्रत। सो उन्हीं का तो कहना है—

स्वप्नादेशेन देव्या च तयैव प्रेषितस्ततः।
विन्ध्याटवीं प्रविष्टोऽहं त्वां द्रष्टुं भीषणामिमाम् ॥२५॥
पुलिन्दवाक्यादासाद्य सार्थं दैवात्कथंचन।
इह प्राप्तोऽहमद्राक्षं पिशाचान्सुबहूनमून् ॥२६॥
अन्योन्यालापमेतेषां दूरादाकर्ण्य शिक्षिता।
मया पिशाचभाषेयं मौनमोक्षस्य कारणम् ॥२७॥
उपगम्य ततश्चैतां त्वां श्रुत्वोज्जयिनीगतम्।
प्रतिपालितवानस्मि यावदभ्यागतो भवान् ॥२८॥
दृष्ट्वा त्वां स्वागतं कृत्वा चतुर्थ्या भूतभाषया।
मया जातिः स्मृतेत्येष वृत्तान्तो मेऽत्र जन्मनि ॥२९॥

[कथासरित्सागर, कथापीठलम्बक, तरंग ७]

यहाँ भी बात वही ठहरी। यह 'भूतभाषा' उत्तर की कोई आर्यभाषा नहीं। आप चाहे इसे पुलिन्द भाषा माने चाहे तमिल-भाषा, हमारा कोई आग्रह नही, पर ध्यान इतना अवश्य रहे कि स्वयं 'मौनी' गुणाढ्य निवासी थे दक्षिण के ही। उनका जन्म तो हुआ था 'प्रतिष्ठान देश के सुप्रतिष्ठित नामक नगर' मे और अध्ययन उन्ही के कथनानुसार हुआ था—

अथ शोकं समुत्सृज्य बालोऽपि गतवानहम्।
स्वावष्टम्भेन विद्यानां प्राप्तये दक्षिणापथम् ॥२२॥
कालेन तत्र संप्राप्य सर्वा विद्याः प्रसिद्धिमान्।
स्वदेशमागतोऽभूवं दर्शयिष्यन्निजान्गुणान् ॥२३॥
प्रविशंश्च चिरात्तत्र नगरे सुप्रतिष्ठिते।
अपश्यं शिष्यसहितः शोभां कामप्यहं तदा ॥२४॥

[वही, तरंग ६)

कहीं 'दक्षिणापथ' में ही। इसी से स्यात् उस समय संस्कृत-शिक्षा में वैसी दक्षता न प्राप्त कर सके जैसी कि शर्ववर्मा में थी। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश वा देशभाषा का परित्याग कर जिस 'पैशाची' का इन्होने स्वागत किया उसका नाम ही भर रह गया है। उसका लोप क्यों और कैसे हुआ, इसे कौन कहे? किंतु उसभाषा में जो 'बृहत्कथा' कही गयी वह आज भी बड़े आदर से उसी

भाषा में संक्षेप में पढ़ी जाती है जिसको सुलभ बनाने का प्रयत्न श्री शर्ववर्मा ने किया। कारण यह कहा जा सकता है कि उसकी परम्परा है—

कैलासे धूर्जटेर्वक्त्रात्पुष्पदन्तं गणोत्तमम्।
तस्माद्वररुचीभूतात्काणभूतिं च भूतले॥ २॥
काणभूतेर्गुणाढ्यं च गुणाढ्यात्सातवाहनम्।
यत्प्राप्तं शृणुतेदं तद्विद्याधरकथाद्भुतम्॥ ३॥

[वही, कथामुखलंबक, तरंग १]

पैशाची की परख—साथ ही भूलना न होगा कि काणभूति ने 'स्वभाषा' में ही यह कथा कही, किंतु गुणाढ्य ने कर दिया उसे 'पिशाच-भाषा' में। लिखा भी उसे वन में अपने 'शोणित' से। क्यों? क्या आज यह सरलता से नहीं कहा जा सकता कि 'लोकानुग्रह' की 'कांक्षा' से ही गुणाढ्य ने वास्तव में यह कार्य किया और राजा सातवाहन ने यही समझकर इसे स्वीकार भी किया? कुछ भी हो, इतना तो मानना ही होगा कि इस 'मोदक'-कथा में संस्कृत का प्रचार और 'पैशाची' का व्यवहार छिपा है। सातवाहन-शासन में जहाँ एक ओर संस्कृत सुगम बन रही है वहीं पैशाची लिपिबद्ध हो रही है। इस 'पैशाची' को पकड़ पाना आज अति कठिन हो गया है, किंतु हमारी समझ से यदि सिक्कों को प्रमाण माना जाय तो कहा जा सकता है कि यह पैशाची कोई द्राविड़ भाषा ही थी। कारण कि द्राविड़-देश में भी सातवाहन-शासन फैल चुका था और सचमुच ही 'भूतभाषा' एक ऐसी भाषा है जो 'देशभाषा' होते हुए भी संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश से सर्वथा भिन्न है। निदान सूझ पड़ता है कि हो न हो यही बृहत्कथा की पैशाची है। लाभप्रद होगा यह जान लेना भी कि इसको संस्कृत मे अनूदित किया था 'दुर्विनीत' ने जो कन्नड़ भाषा का कवि कहा जाता है। उसी के संबंध में कहा गया है—

"श्रीमत्कोंकणमहाराजाधिराजस्य, अविनीतनाम्नः पुत्रेण, शब्दावतारकारेण, देवभारतीनिबद्धबृहत्कथेन, किरातार्जुनीयपञ्चदशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन।"

[सोर्सेज आव कर्णाटक हिस्टरी]

अस्तु, कहा जा सकता है कि किसी द्राविड़ भाषा से ही यह अनुवाद संस्कृत में हुआ होगा। 'देवभारती' का संकेत 'पिशाचभारती' पर आश्रित हो तो हो सकता है। दुर्विनीत का समय सन् ५८५ से ६२५ ई० तक अनुमानतः कहा गया है। अतः यह अनुवाद बहुत पुराना ठहरता है और कहा जा सकता है कि इसी के प्रकाश में आ जाने के कारण मूल का लोप हो गया। सातवाहन सिक्को पर विचार करते हुए श्री वासुदेव उपाध्याय लिखते है—

चोलमंडल किनारे पर एक विचित्र सिक्का मिलता है

अग्रभाग	पृष्ठभाग
मस्तूल युक्त जहाज की मूर्ति तथा पुडुमावि लिखा है।	उज्जैनी चिह्न वर्तमान है।

(द) महाराष्ट्र देश के दक्षिण भाग कोल्हापुर में सीसा के बड़े गोलाकार सिक्के मिले है जिन पर—

अग्रभाग	पृष्ठभाग
चैत्य तथा स्वस्तिक की आकृति है	धनुष बाण तथा उसके चारों ओर लेख-शासक का नाम (१) वासिठीपुतस विडिवायकुरस (२) माढरिपुतस सिवलकुरस (३) गौतमीपुतस विडिवायकुरस लिखा मिला है।

विद्वानों की राय है कि ये सिक्के आन्ध्रनरेशो के नहीं है। इन्हें उनके विभिन्न प्रदेश के शासकों (वाइसरायों) ने तैयार किया था। विडिवायकुरस तथा शिवलकुरस स्थानीय पदवियाँ थीं।

[भारतीय सिक्के, पृ० १०६]

कहना न होगा कि इन पदवियों को हम ऐसा नहीं समझते और इन्हे हम पैशाची भाषा में उक्त शासकों की पदवी वा 'विरुद' मानते हैं। हमारा मत है कि वस्तुतः ये उसी भाषा के शब्द हैं जिसमें गुणाढ्य की बृहत्कथा लिखी गई थी

और जिससे 'देवभारती' में फिर उसे उतारा गया। सातवाहन शासन की राज-भाषा प्राकृत थी। उनका प्राकृत-प्रेम प्रसिद्ध है। 'हाल' की 'गाथासप्तशती' की एक प्रति में लिखा मिलता है—

इति श्रीमत्कुन्तलजनपदेश्वर-प्रतिष्ठानपत्तनाधीश-शतकर्णोपनामक द्वीपिकर्णात्मज—मलयवतीप्राणप्रिय-कालापप्रवर्तक—शर्ववर्मधीसख—मलयवत्युपदेशपंडितीभूत—त्यक्तभाषात्रय—स्वीकृतपैशाचिकपंडितराजगुणाढ्यनिर्मितभस्मीभवद् बृहत्कथाऽवशिष्टसप्तमांशावलोकनप्राकृतादिवाक्पञ्चकप्रीत-कविवत्सल-हालाद्युपनामकश्रीसातवाहननरेन्द्रनिर्मिता विविधान्योक्तिमय-प्राकृतगीर्गुम्फिता शुचिरसप्रधाना काव्योत्तमा सप्तशत्यवसानमगात् ॥

[अपभ्रंशकाव्यत्रयी, भूमिका, पृ० ६७]

सम्पादक श्री लालचन्द्र भगवानदास गांधी ने इसे पादटिप्पणी में देकर बड़ा काम किया है। इसमें एक साथ ही संस्कृत, प्राकृत तथा पैशाची का विधान हो गया है। 'कालाप' और कुछ नही 'कातन्त्र' का ही भक्ति परक दूसरा नाम है। 'बृहत्कथा' की रचना पैशाची में हुई ही। गाथासप्तशती प्राकृत में है ही, फिर कहना क्या रहा ? यही न कि यह सब कुछ हुआ 'सातवाहननरेंद्र' के शासन में। 'हाल' शालिवाहन को सभी लोग जानते हैं, पर कितने लोग है ऐसे जो 'शूद्रक' सातवाहन को भी बता सके ? हम दिखा आये हैं कि हमारी दृष्टि में वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि ही शूद्रक है। हम नही कहना चाहते कि वही 'हाल' भी है, किन्तु तो भी हमारा कहना है कि 'कालाप' और 'बृहत्कथा' की संगति तो बैठती है उसी के साथ। निदान हमारा कहना है कि शूद्रक का यथार्थ मर्म पाना है तो अध्ययन कीजिये एक साथ ही संस्कृत, प्राकृत तथा पैशाची वा 'द्राविडी' का। शूद्रक और कुछ नही, इसी त्रयी का अधिष्ठान है। वह प्राकृत का प्रेमी है, संस्कृत का जिज्ञासु है और है पैशाची वा द्राविडी का आश्रयदाता। आज उसी की है आवश्यकता। देखे तो उसके महत्त्व को।

कातन्त्र—शूद्रक का 'कातन्त्र' से कितना लगाव है, यह उसके 'विट' के इस कथन में भी देखा जा सकता है—

हा धिक्! अपरं मूर्तिमत् गमनविघ्नमुपस्थितम्।

एष हि पाणिनिपूर्वको दन्दशूकपुत्रो दत्तकलशिर्नाम वैयाकरणः। प्रति-खमेवोपस्थितोऽस्मान्। अपीदानीमविघ्नेनास्य वाग्वागुरामुत्तरेयम्। संरब्धमिवैनं पश्यामि। आम् वादविघट्टितेनानेन भवितव्यम्। तथा हि-अस्य कलहकण्डूबन्धुरा वागीषदपि स्पृष्टा देवकुलघण्टेवानुस्वनति। प्रियगणिकश्चैष धान्त्रः।

बात यहीं तक रह जाती तो यह 'वैयाकरण' के सिर बैठती। किंतु इसके आगे भी तो कुछ कहा गया है। सुनिये—

'किमाह भवान्—'अपि सुखमशयिष्ठाः' इति। का गतिः, भवतु, सभाजयिष्याम्येनम्। स्वागतमक्षरकोष्ठागाराय। वयस्य दत्तकलशे! संरब्ध मिव त्वां पश्यामि। कच्चित् कुशलम्? किं भवानाह? 'एषोऽस्मि बलि-भुग्भिरिव संघातबलिभिः कातन्त्रिकैरवस्कन्दितः' इति। हन्त! प्रवृत्तं काकोलूकम्, सखे! दिष्ट्या त्वामलूनपक्षं पश्यामि। किं ब्रवीषि—'काचेदानी मम वैयाकरणपारशवेषु कातन्त्रिकेष्वास्था' इति। यथातथास्तु भवतः। साधयाम्यहम्।

[पद्मप्राभृतकम्, पृ० ८-९]

'काकोलूक'-द्वन्द्व में 'कातन्त्रिक' 'काक' है तो ठीक ही है। शूद्रक उसे 'उलूक' कब समझ सकता है? परन्तु नहीं, इससे भी कहीं अधिक महत्त्व की है 'दत्तकलशि' की यह फबती—

काचेदानीं मम वैयाकरणपारशवेषु कातन्त्रिकेष्वास्था।

जानते हैं न कि 'पारशव' का अर्थ होता है वर्णसंकर—ब्राह्मण पिता और शूद्रा माता! तो क्या 'कातन्त्र' के निर्माण मे कुछ 'पैशाची' का भी योग रहा है जो उसपर यह फबती कसी गयी है? 'विट' कहता भी है—

किं ब्रवीषि? 'क सञ्चिचीर्षुः? तिष्ठ तावत्, किमसिदुद्रू पुः' इति। हा धिक् प्रसीदतु भवान्। नार्हस्यस्मान् एवं विधैः काष्ठप्रहारनिष्ठुरैर्वाग-शनिभिरभिहन्तुम्। साधु व्यावहारिकया वाचा वद। अभाजनं हि वयमी-दृशानां करभोद्गारदुर्भगानां श्रोत्रविषनिषेकभूतानां वैयाकरणवाग्व्यस-नानाम्।

यह तो रही 'व्याकरण' की होड़। अब 'भाषा' को लीजिये—

किं ब्रवीषि ? 'कथमहमिदानीमनेकवावदूकवादि वृषभविघट्टनोपार्जितामनेकधातुशतघ्नि वाचमुत्सृज्य स्त्रीशरीरमिव माधुर्यकोमलां करिष्यामि ?' इति । अहो अनाथः खल्वसि । कुतः—

स्वैरालापे स्त्रीवयस्योपचारे,
कार्यारम्भे लोकवादाश्रये च
कः संश्लेषः कष्टशब्दाक्षराणां
पुष्पापीडे कण्टकानां यथैव ॥"

[वही]

सरल और सुबोध भाषा की यह वकालत नहीं तो और क्या है ? साथ ही 'प्राकृत' का अनुराग भी । लीजिये, 'मृच्छकटिक' का सूत्रधार भी यही कहता है—

एषोऽस्मि भोः, कार्यवशात्प्रयोगवशाच्च प्राकृतभाषी संवृत्तः ।

यही उस समय के शासन का भी सूत्रधार कहता है और पैशाची प्राकृत को भी महत्त्व देता है तो अघट क्या घट जाता है ? कहा जाता है कि उसका यही भाषा-प्रेम है कि मृच्छकटिक में एक साथ इतनी प्राकृतो का प्रयोग मिल जाता है और उसका 'मैत्रेय' तो यहाँ तक कह जाता है कि—

मम तावद्द्वाभ्यामेव हास्यं जायते । स्त्रिया संस्कृतं पठन्त्या, मनुष्येण च काकलीं गायता । स्त्री तावत्संस्कृतं पठन्ती दत्तनवनस्येव गृष्टिः, अधिकं सूसूशब्दं करोति । मनुष्योऽपि काकली गायन्, शुष्कसुमनोदामवेष्टितो वृद्धपुरोहित इव मन्त्रं जपन्, दृढं मे न रोचते ।

[तृतीय अंक, २ प०]

शातकर्णी मुनि—सारांश यह कि 'पुलुमावि' के विषय में जो कुछ इतिहास में देखा गया है वही साररूप में साहित्य में भी है ; और 'शूद्रक' को उसी का उपनाम मानने में कोई क्षति नहीं । सातवाहन सिंहासन पर विराजमान होने के कारण वह 'सातवाहन' और 'शातकर्णी' भी कह दिया गया तो अनुचित नहीं हुआ । व्यवहार सदा से इसका द्योतक रहा है । कह तो नहीं सकते, पर हमें लगता यही है कि कालिदास के मुनि 'शातकर्णी' भी यहीं के प्राणी हैं । उनका रंग तो देखिये । कवि कहता है—

एतन्मुनेर्मानिनि शातकर्णेः पञ्चाप्सरो नाम विहारवारि ।
आभाति पर्यन्तवनं विदूरान्मेघान्तरालक्ष्यमिवेन्दुबिम्बम् ॥३८॥
पुरा सदर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिश्चरन्मृगैः सार्धमृषिर्मघोना ।
समाधिभीतेन किलोपनीतः पञ्चाप्सरोयौवनकूटबन्धम् ॥३९॥
तस्यायमन्तर्हितसौधभाजः प्रसक्तसंगीतमृदंगघोषः ।
वियद्गतः पुष्पकचन्द्रशालाः क्षणं प्रतिश्रुन्मुखराः करोति ॥४०॥

[रघुवंश, सर्ग १३]

उधर गुणाढ्य का मत है—

इत्थमृष्यवतारोऽयं नृपतिः सातवाहनः ।
दृष्टे त्वय्यखिला विद्या प्राप्स्यत्येव त्वदिच्छया ॥१८॥

[कथासरित्सागर, तरंग ७]

कर्णीपुत्र—'अखिला विद्या' वाले सातवाहन अथवा 'प्रसक्तसंगीतमृदंग-घोषः' वाले 'शातकर्णी' को भले ही आप दृष्टिपथ से ओझल कर लें, पर करेंगे क्या उस कर्णीपुत्र को जिसके बारे मे 'शूद्रक' का स्वयं कहना है—

'तत्कामं पुरुषविशेष इत्यसाधारण एव शब्दः कर्णीपुत्रे प्रतिवसति । तथापि नाम त्वलब्धगांभीर्यो धृतिमुपयात एनां व्याहारयामि । वासुदेवसेने किमस्माकं पररहस्यश्रवणेन । उदासीनाः खलु वयम् । तदामन्त्रये भवतीम् । कर्णीपुत्रोऽपि पाटलीपुत्रविरहात् स्वजनदर्शनोत्सुको भृशमस्वस्थः । स एषोऽद्य श्वो वा प्रस्थायते । पुनर्द्रष्टास्मि भवतीम् ।'

[पद्मप्राभृतकम्, पृ० २७]

'विट' के इस कथन को यों ही नही टाला जा सकता है । नहीं, 'उज्जयिनी' का 'पाटलीपुत्र' से लगाव जो है । यह लगाव कुछ न कुछ मृच्छकटिक में भी गोचर हो जाता है । देखिए 'संवाहक' वसन्तसेना से कहता है—

आर्ये ! पाटलिपुत्रं मे जन्मभूमिः । गृहपतिदारकोऽहम् । संवाहकस्य वृत्तिमुपजीवामि ।

तथा—

तत आर्ये एष निजगृह आहिण्डकानां मुखाच्छ्रुत्वाऽपूर्वदेशदर्शनकुतूहलेनेहागतः । इहापि मया प्रविश्योज्जयिनीमेक आर्यः शुश्रूषितः ।

[अंक २, १४ प०]

किंतु कहा नहीं गया कि कर्णीपुत्र के इस 'भृशमस्वस्थः' का रहस्य क्या है और क्या है तथ्यतः 'स्वजनदर्शनोत्सुक' का रहस्य । नहीं, ऐसी बात नहीं है। ध्यान से सुनें । उसी विट का वही समझाना है—

किं ब्रवीषि ?—'किमुच्चैः कथयसि, दुःखशीलः खलु भावः' इति । अलमलं यन्त्रणया—

दक्षात्मजाः सुन्दरि योगताराः
किं नैकजाताः शशिनं भजन्ते ।
आरुह्यते वा सहकारवृक्षः
किं नैकमूलेन लताद्वयेन ॥४३॥

[पद्मप्राभृतकम्, पृ० २७]

कामतन्त्र—विट ने कर्णीपुत्र और देवसेना को एक करने का जो प्रयत्न किया है सो तो है ही, परंतु हम कहा चाहते है यहाँ कुछ और ही । कारण, उसी विट का तो कहना है—

अहो नु खल्वयं लघुरूपोऽपि बलवान् मदनव्याधिः येनानेकशास्त्राधिगतनिष्पन्नबुद्धिः •सर्वकलाज्ञानविचक्षणो व्युत्पन्नयुवतिकामतन्त्रसूत्रधारः कर्णीपुत्रोऽपि नामैतामवस्थामुपनीतः ।

[वही, पृ० ३]

'कामतन्त्रसूत्रधार' के सहारे आपको कुछ जानना है तो कामाचार्य वात्स्यायन का यह सूत्र पकड़िये—

तस्य षष्ठं वैशिकमधिकरणं पाटलिपुत्रिकाणां गणिकानां नियोगाद्दत्तकः पृथक्चकार ।

[कामसूत्र, अधि० १, अ० १, सूत्र ११]

इसकी जयमंगलकृत व्याख्या है—

नियोगादिति । अन्यतमो माथुरो ब्राह्मणः पाटलिपुत्रे वसतिं चकार । तस्योत्तरे वयसि पुत्रो जातः । तस्य जातमात्रस्य माता मृता, पिताऽपि तत्रान्यस्यै ब्राह्मण्यै तं पुत्रत्वेन दत्त्वा कालेन लोकान्तरं गतः । ब्राह्मण्यपि ममायं दत्तकः पुत्र इत्यनुगतार्थमेव नाम चक्रे । स च तया संवर्धितोऽचिरेणैव कालेन सर्वा विद्याः कलाश्चाधीतवान् व्याख्यानशीलत्वाद्दत्तकाचार्य इति प्रतीतिमुपागतः । एकदा च तस्य चेतस्येवमभवत्, लोकयात्रा परा ज्ञेयाऽस्ति । सा प्रायशो वेश्यासु स्थितेति । ततो वेश्याजनं परिचयपूर्वकं प्रत्यहमुपागम्य तथा तामधिविवेद यथा स एवोपदेशस्य ग्रहणाय प्रार्थनीयोऽभूत् । ततोऽसौ वीरसेनाप्रमुखेण गणिकाजनेनाभिहितः, अस्माकं पुरुषरंजनमुपदिश्यतामिति' तन्नियोगात्पृथक् चकारेत्ययमाम्नायः । अन्यस्तु शास्त्राभिगमयुक्तियुक्तमाह–यत्र गर्भयात्रायां दत्तकनामा तत्पदावधूतेन प्रतिशयितेन त्र्यक्षेण शतः स्त्री बभूव, पुनश्च कालेन लब्धवरः पुरुषोऽभूत् । तेनोभयरसज्ञेन पृथक्कृतमिति । यदि बाभ्रव्योक्तमेव पृथक्कृतं किमपूर्वं स्वसूत्रेषु दर्शितं येनोभयरसज्ञता कल्प्यते । यदि चायमर्थः शास्त्रकृतोऽप्यभिमतः स्यात्तदानीं 'नियोगादुभयरसज्ञो दत्तकः' इत्येवमभिदध्यात् ।

श्रीजयमंगलजी के समय में इसकी जो मान्यता थी, वह अब आँख के सामने है और है सामने ही शूद्रक के विट का यह कथन भी—

> वेश्यांगणं प्रविष्टो मोहाद्विदुर्यदृच्छया वापि
> न भ्राजते प्रयुक्तो दत्तकसूत्रेष्विवोंकारः ॥२५॥

[पद्मप्राभृतकम्, पृ० १५]

हम पहले ही लिख चुके हैं कि दुर्विनीत ने 'बृहत्कथा' को 'देवभारती' का रूप दिया। यहाँ इतना और भी टाँक देना चाहते है कि उसी के पूर्वज श्री मन्माधवमहाधिराज ने 'दत्तकसूत्र' पर वृत्ति लिखी थी। देखिये 'केरेगालूर' का दानपत्र है—

स्वस्ति श्री जितं । भगवता गतघनगगनाभेन पद्मनाभेन । श्रीमज्जाह्नवेयकुलामलव्योमावभासनभास्करः, स्वखड्गैकप्रहारखंडितमहाशिलास्त-

म्भबलपराक्रमः, काण्वायनसगोत्रः श्रीमत्कोंगुणिमहाधिराजो भुवि विभु-तमोऽभवत् । तत्पुत्रो नीतिशास्त्रकुशलो दत्तकसूत्रस्य वृत्तेः प्रणेता श्रीमन्माधवमहाधिराजः ।

[म० आ० रि०, १६२०, नं० ३; सोर्सेज आव कर्णाटक हिस्टरी, भाग १ पृ. २८]

दत्तक—श्रीमाधवमहाधिराज और श्रीदुर्विनीत 'काण्वायन' और 'जाह्नवेय' थे और इसी से कहे भी जाते हैं गंग-शासक ही। सच तो यह है कि 'शुंग', 'कण्व' और 'शात' का इतिहास अभी तक बहुत कुछ अनुमान के आधार पर ही खडा है। हम अपनी ओर से इतना और जोड़ देना चाहते है कि जिस 'महार्यक औद' को हमने वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि का प्रपितामह कहा है वह कहीं कोई कण्व शासक ही न रहा हो और फलतः स्वयं शूद्रक भी इसी गोत्र का न रहा हो। ध्यान देने की बात है कि बृहत्कथा में जो दीपकर्णी और 'सातवाहन' की बात कही गयी है वह बहुत कुछ 'दत्तक' की जन्मगाथा से मिलती है। सातवाहन की भी माता मर जाती है। पिता दूसरी सिंहनी के द्वारा उसका पोषण कराता है और अंत में उसे दीपकर्णी को सौप कर स्वर्ग का मार्ग लेता है। तो फिर यही 'सातवाहन' 'दत्तक' क्यो नही, और यही दत्तक 'कर्णीपुत्र' क्यो नहीं? आचार्य दंडी का भी तो अभिमत है—

समुद्रदत्तनामानं वणिजं गणयस्व माम् ।
तस्य मे विधिवैषम्यात्कर्णीपुत्रेण मित्रताम् ॥७६॥
तेनापि गणिकाहेतोः परं वैरमभून्मम ।
कर्णीपुत्रः कलत्रं मे हर्त्तुं च प्रतिजज्ञिवान् ॥८०॥

[अवन्तिसुंदरीकथा, परिच्छेद ४]

निष्कर्ष—भाव यह कि यहाँ भी 'कर्णीपुत्र' 'गणिका' के चक्कर मे है। 'भाण' के 'कर्णीपुत्र' को हम प्रकरण' मे 'शर्विलक' के रूप में पाते हैं। उसका स्वयं विषाद है—

धिक्कृतमन्धकारम् । अथवा मयाप्यस्मद्ब्राह्मणकुलेन धिक्कृतमन्धकारम् । अहं हि चतुर्वेदविदोऽप्रतिग्राहकस्य पुत्रः शर्विलको नाम ब्राह्मणो गणिकामदनिकार्थमकार्यमनुतिष्ठामि । इदानीं करोमि ब्राह्मणस्य प्रणयम् ।

[मृच्छकटिक, अंक ३, १८ पृ०]

अब इस 'चतुर्वेद' ब्राह्मण को मथुरा का चौबे मान लें तो कोई क्षति नहीं। उसका अन्तिम 'रमण' हुआ भी तो था 'शूरसेना' के साथ ही। लीजिये—

मथुरेन्द्रदुहित्राऽसौ रमितः शूरसेनया।
वसन् मृत्युमुखप्रायानपायानयमन्वभूत् ॥१६६॥

[अवन्तिसुदरीकथासार, परि० ४]

अस्तु, इतने पर भी यदि संतोष न हुआ हो तो ध्यान से सुनें। उसी 'विट' का कहना है—

भोः सुष्ठुकृतम्। वंचितं खलु रहस्यं यदीदं न विस्तरतो ब्रूयाः। विस्तरत इदानीं श्रोतव्यम्। किमाह भवान्—'क इदानीमविनयप्रपंचमात्मनः प्रकाशयति। किन्तु समासतः श्रूयताम्। तया हि प्रसभमाक्रान्तयाभिहितोऽहम्—

संपातेनातिभूमिं प्रतरसि शठ हे मान्याः खलु वयं,
दौत्येनाभ्यागतायाः चपल न सदृशं यत्तेव्यवसितम्।
कृच्छ्रादुद्बुद्धास्मि जाता परगृहवसतिं संप्राप्य विजने।
मामैवं हा प्रसीद प्रिय विसृज पुरा कश्चित्प्रविशति ॥ इति ॥

इति। साधुः भोः अमृदंगो नाटकांकस्संवृत्तः। अनेन सुरतसन्धिच्छेदेन स्थिरीकृतो वासिष्ठीपुत्रेण विटशब्दः। वयस्य सुभगो भव। साधयाम्यहम्।

[पद्मप्राभृतकम्, पृष्ठ ४४]

हम और कुछ नहीं इस प्रसंग के अंत में केवल इतना ही निवेदन कर देना चाहते हैं कि हमने इसी 'वासिष्ठीपुत्र' को 'शूद्रक' माना है और भरसक इसी को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। 'कलां वैशिकीं' के कारण यही कामसूत्र का 'दत्तकाचार्य' भी है तो इसमें संदेह क्या? वात्स्यायन का 'वैशिक' अधिकरण इसी पर तो आश्रित है? फिर अन्यथा ऊहापोह क्या? प्रतीत होता है कि कामसूत्र का प्रणयन इसी वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि के शासन में हुआ। अन्यथा—

कर्तर्या कुन्तलः शातकर्णिः शातवाहनो महादेवीं मलयवतीम् (जघान) ॥ २८ ॥

[अधि० २, अ० ७]

का विवरण न होता। 'सातवाहन' का नाम ही पर्याप्त था। कुछ बाद में भी माना जा सकता है किन्तु कुछ पहले नहीं।

२. कवि शूद्रक

कविपरिचय—राजा शूद्रक की थाह लगी तो कवि शूद्रक की जिज्ञासा जाग उठी। कहने को तो 'मृच्छकटिक' की प्रस्तावना मे ही दोनो के विषय में बहुत कुछ कह दिया गया है, पर सच पूछिये तो यही सदा से शोध का संबल अथवा खोज का काँटा रहा है। अतएव अच्छा होगा, पहले इसी को भली भाँति परख लिया जाय और फिर इसी की छाया में कुछ आगे की भी सुधि ली जाय। सो सूत्रधार का आते ही कहना है—

अलमनेन परिषत्कुतूहलविमर्दकारिणा परिश्रमेण। एवमहमार्यमिश्रान्प्रणिपत्य विज्ञापयामि—यदिदं वयं मृच्छकटिकं नाम प्रकरणं प्रयोक्तुं व्यवसिताः।

फुरती को देखते विश्वास होता है कि बस प्रकरण का आरम्भ हुआ, किन्तु व्यवहार मे होता यह है कि सूत्रधार स्वयं 'शूद्रक' के परिचय में उलझ जाता है। वह बहुत थहा कर कहता है—

एतत्कविः किल—

> द्विरदेन्द्रगतिश्चकोरनेत्रः परिपूर्णेन्दुमुखः सुविग्रहश्च।
> द्विजमुख्यतमः कविर्बभूव प्रथितः शूद्रक इत्यगाधसत्त्वः॥३॥

इतना परिचय पर्याप्त था। उसका शरीर आँख में आ गया। उसके 'सत्त्व' का पता हो गया। शेष का पता उसकी रचना से आप ही हो जायगा। पर नहीं, सूत्रधार को इतने से सन्तोष कहाँ? नहीं, वह तो और भी बढ कर कहता है—

> ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलां वैशिकीं हस्तिशिक्षां,
> ज्ञात्वा शर्वप्रसादाद्व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य।
> राजानं वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा,
> लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिनसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः॥४॥

अच्छा हो गया शूद्रक का अग्नि-प्रवेश। अब तो प्रकरण का आरम्भ हो

जाना चाहिये ? पर नहीं, प्रचार का पेट इतने से ही कब भरा ? निदान सूत्रधार को और भी खुल कर कहना पड़ा—

समरव्यसनी प्रमादशून्यः ककुदं वेदविदां तपोधनश्च ।
परवारणबाहुयुद्धलुब्धः क्षितिपालः किल शूद्रको बभूव ॥५॥

सूत्रधार को इतने से सन्तोष हो गया, सो भी नहीं । अभी तो केवल कवि राजा का परिचय हुआ । यह किसी भी रूपक के पहले इसी रूप मे कहा जा सकता है । निदान व्यक्ति से हटकर कृति पर ध्यान गया और 'आर्यमिश्रों' से कहा गया——

अवन्तिपुर्यां द्विजसार्थवाहो युवा दरिद्रः किल चारुदत्तः ।
गुणानुरक्ता गणिका च यस्य वसन्तशोभेव वसन्तसेना ॥६॥

बात विलक्षण सी लगी । ब्राह्मण वैश्य का कार्य करे और जवानी में दरिद्र रहे । फिर भी 'वसन्तशोभा' जैसी वसन्तसेना गणिका उस दरिद्र के गुण पर अनुरक्त हो, कैसी अचरज की बात रही ! तो भी सूत्रधार ने और भी अभिमान से कहा—

तयोरिदं सत्सुरतोत्सवाश्रयं नयप्रचारं व्यवहारदुष्टताम् ।
खलस्वभावं भवितव्यतां तथा चकार सर्वं किल शूद्रको नृपः ॥७॥

नान्दी—सूत्रधार के इस बृहत् व्याख्यान का कारण क्या है ? क्या यह नाटक स्वयं 'अवन्तिपुरी' मे खेला जा रहा है ? निश्चय ही कवि शूद्रक तो यह देखने को जीवित नहीं रहा । और कहा जा सकता है कि यह खेला भी जा रहा है उसके निधन के बहुत दिन बाद । नहीं तो 'आर्यमिश्रों' को इतनी बडी भूमिका की आवश्यकता क्यो पडती ? और सो भी उस समय जब स्वयं सूत्रधार कहता है—

अलमनेन परिषत्कुतूहलविमर्दकारिणा परिश्रमेण ।

इसका भी कुछ कारण है । सूत्रधार नही चाहता कि रंगमंच पर कोई भी ऐसा कृत्य हो जिससे 'परिषत्कुतूहल' का विमर्दन हो । अभी हुआ ही क्या होगा ? नान्दी का पाठ ही न ? फिर उसके प्रति सूत्रधार की ऐसी उपेक्षा क्यो ? सो उसे भी सुन लीजिये । प्रथम पाठ है ।

पर्यंकग्रन्थबन्धद्विगुणितभुजगाश्लेषसंवीतजानो—
रन्तः प्राणावरोधव्युपरतसकलज्ञानरुद्धेन्द्रियस्य ।
आत्मन्यात्मानमेव व्यपगतकरणं पश्यतस्तत्त्वदृष्टया;
शंभोर्वः पातु शून्येक्षणघटितलयब्रह्मलग्नः समाधिः ॥१॥

भला समाधिस्थ शिव के दर्शन से किसी सामाजिक का कुतूहल जाग सकता है? 'पर्यंक' से जो भाव उठा भी तो 'समाधि' में लीन हो गया। सूत्रधार कुछ खिसका तो उसके कान में यह पाठ पड़ा—

पातु वो नीलकंठस्य कंठः श्यामाम्बुदोपमः ।
गौरीभुजलता यत्र विद्युल्लेखेव राजते ॥ २ ॥

'शान्त' गया तो 'शृंगार' आया, पर 'कुतूहल' के काम का एक भी न रहा। तो फिर इस 'नान्दी' का उपयोग क्या? इसके हेतु तो लोग 'प्रेक्षागृह' में जाते नहीं। तो फिर इस 'परिश्रम' से लाभ क्या? फिर परम्परा का यों ही पालन क्यों? तो क्या 'शूद्रक' को 'नान्दी' से प्रेम नहीं? शूद्रक की तो नहीं कहते पर किसी 'भास' के विषय में कहा जाता है—

सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः ।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥१५॥

[हर्षचरित, प्रथम उच्छ्वास]

चारुदत्त और मृच्छकटिक—बाणभट्ट के इस कथन की साधुता में संदेह नहीं। आज भासकृत नाटकों के जो रूप देखने को मिल रहे हैं आप ही इसके प्रमाण हैं कि बाण ने उनके विषय में जो कुछ कहा है ठीक ही कहा है। और, और भी प्रसन्नता की बात तो यह है कि हमारे सामने एक ऐसा भी रूपक विराजमान है जिससे स्थिति को समझने में पूरी सहायता मिलती है। लीजिये 'चारुदत्त' का आरम्भ है—

किन्तु खल्वद्य प्रत्यूष एव गेहान्निष्क्रान्तस्य बुभुक्षया पुष्करपत्र-पतितजलबिन्दू इव चंचलायेते इव मेऽक्षिणी। यावद् गेहं गत्वा जानामि किन्तु खलु संविधा विहिता न वेति। एतदस्माकं गेहम्। यावत् प्रविशामि। यथा लौहीपरिवर्तनकालसारा भूमिः, स्नेहोद्भावन-

सुगन्ध इव गन्धः, सुनिमित्तमिव परिभ्रमन् वरिवस्यकजनः, किन्तु खलु संविधा विहिता। अथवा बुभुक्षयौदनमिव जीवलोकं पश्यामि। यावदार्यां शब्दापयामि। आर्ये! इतस्तावत्।

इसी भाव को अब 'मृच्छकटिक' में देखिये—

अये, शून्येयमस्मत्संगीतशाला। क नु गताः कुशीलवा भविष्यन्ति। (विचिन्त्य) आं, ज्ञातम्।

शून्यमपुत्रस्य गृहं चिरशून्यं नास्ति यस्य सन्मित्रम्।

मूर्खस्य दिशः शून्याः सर्वं शून्यं दरिद्रस्य॥ ८॥

कृतं च संगीतकं मया। अनेन चिरसंगीतोपासनेन ग्रीष्मसमये प्रचंडदिनकरकिरणोच्छुष्कपुष्करबीजमिव प्रचलिततारके क्षुधा ममाक्षिणी खटखटायेते। तद्यावद्गृहिणीमाहूय पृच्छामि, अस्ति किंचित्प्रातराशो न वेति। एषोऽस्मि भोः, कार्यवशात्प्रयोगवशाच्च प्राकृतभाषी संवृत्तः।

यहाँ तक तो उसकी भूमिका भर रही। इसके आगे 'प्राकृत' में उसने जो कुछ कहा वही 'संस्कृत' में है—

'अविद, अविद भोः, चिरसंगीतोपासनेन शुष्कपुष्करनालानीव मे बुभुक्षया म्लानान्यंगानि। तद्यावद्गृहं गत्वा जानामि, अस्ति, किमपि कुटुम्बिन्या उपपादितं न वेति। इदं तदस्माकं गृहम्। तत्प्रविशामि। आश्चर्यम्। किं नु खल्वस्माकं गृहेऽन्यदिव संविधानकं वर्तते। आयामितंडुलोदकप्रवाहा रथ्या, लोहकटाहपरिवर्तनकृष्णसारा कृतविशेपकेव युवत्यधिकतरं शोभते भूमिः, स्निग्धगन्धेनोद्दीप्यमानेवाधिकं बाधते मां बुभुक्षा। तत्किं पूर्वार्जितं निधानमुत्पन्नं भवेत्। अथवाहमेव बुभुक्षातोऽन्नमयं जीवलोकं पश्यामि। नास्ति किल प्रातराशोऽस्माकं गृहे। प्राणाधिकं बाधते मां बुभुक्षा। इह सर्वं नवं संविधानकं वर्तते। एका वर्णकं पिनष्टि, अपरा सुमनसो ग्रथ्नाति। किंन्विदम्। भवतु। कुटुम्बिनीं शब्दाय्य परमार्थं ज्ञास्यामि। आर्ये! इतस्तावत्।

'चारुदत्त' की सीधी सादी भाषा को 'मृच्छकटिक' में जो सुचिन्तित रूप

मिला है वह आगे की वार्ता से और भी स्पष्ट हो जाता है। सबका उल्लेख न कर थोडे में दिया यहाँ यह जाता है कि 'चारुदत्त' में कहा गया है—

सूत्रधारः—किन्नामधेय आर्याया उपवासः ?

नटी—अभिरूपपतिर्नाम।

सूत्रधारः—किमन्यजात्याम् ?

नटी—आम्

किंतु यही वार्ता 'मृच्छकटिक' मे आकर यह रूप धारण कर लेती है—

सूत्रधारः—कि नामधेयोऽयमुपवासः ?

नटी—अभिरूपपतिर्नाम।

सूत्रधारः—आर्ये, इहलौकिकोऽथवा पारलौकिकः ?

नटी—आर्य पारलौकिकः।

सूत्रधारः—प्रेक्षन्तां प्रेक्षन्तामार्यमिश्राः। मदीयेन भक्तपरिव्ययेन पारलौकिको भर्तान्विष्यते।

नटी—आर्य, प्रसीद प्रसीद। त्वमेव जन्मान्तरे भविष्यसीति।

कहने का तात्पर्य यह कि 'चारुदत्त' की सहज रचना 'मृच्छकटिक' में आकर कुछ और ही रूप धारण कर लेती है और समास से व्यास की ओर ही नहीं मुड़ती अपि तु कला का रूप भी धारण कर लेती है। मृच्छकटिक में तर्क और चिन्तन का योग है। इसी से कहना ही पडता है कि वस्तुतः दोनो एक ही व्यक्ति की रचना नहीं ठहर सकती। और हो भी ऐसा क्यो नही ? 'मृच्छकटिक' का ध्येय भी तो कुछ और ही है ? इसी से तो उसमे स्पष्ट कहा गया है—

तयोरिदं सत्सुरतोत्सवाश्रयं नयप्रचारं व्यवहारदुष्टताम्।
खलस्वभावं भवितव्यतां तथा चकार सर्वं किल शूद्रको नृपः ॥७॥

'चकार सर्वं किल शूद्रको नृपः' मे 'किल' का अर्थ क्या ? 'कहा जाता है' वा 'निश्चय ही' ?

मृच्छकटिक की विशेषता—जहाँ तक 'सत्सुरतोत्सवाश्रय', 'खलस्वभाव' और 'भवितव्यता' का संबंध है, कहा जा सकता है, कि 'चारुदत्त' में भी इनका अभाव नहीं, पर 'नयप्रचार' और 'व्यवहारदुष्टता' के विषय में ऐसा नहीं

कहा जा सकता। कहा जा सकता है कि क्यों नहीं कहा जा सकता, जबकि उपलब्ध 'चारुदत्त' अधूरा ही है। निवेदन है, इसे भी यहीं देख ले। 'चारुदत्त' का प्रसंग है—

सूत्रधारः—सर्वं तावत् तिष्ठतु। को न्विदानीमार्याया उपवासस्योपदेशिकः ?

नटी—अनेन परिवस्थकेन चूर्णगोष्ठेन।

सूत्रधारः—साधु चूर्णगोष्ठ ! साधु।

नटी—यद्यार्यस्यानुग्रहः, तत इच्छेयमस्मादृशजनयोग्यं कञ्चिद् ब्राह्मणं निमन्त्रयितुम्।

उधर 'मृच्छकटिक' की स्थिति है—

सूत्रधारः—अयमुपवासः केन तवोपदिष्टः ?

नटी—आर्यस्यैव प्रियवयस्येन जूर्णवृद्धेन।

सूत्रधारः—(सकोपं) आः दास्याः पुत्र जूर्णवृद्ध, कदा नु खलु त्वां कुपितेन राज्ञा पालकेन नववधूकेशहस्तमिव सुगंधं छेद्यमानं प्रेक्षिष्ये।

नटी—प्रसीदत्वार्यः। आर्यस्यैव पारलौकिकोऽयमुपवासः। (इति पादयोः पतति)।

सूत्रधारः—आर्ये, उत्तिष्ठ। कथयात्रोपवासे केन कार्यम्।

नटी—अस्मादृशजनयोग्येन ब्राह्मणेनोपनिमन्त्रितेन।

पालक—'मृच्छकटिक' में 'राजा पालक' का प्रसंग किस युक्ति से लाया गया है इसको ध्यान में रखकर ही इसके कवि को समझना होगा। 'नयप्रचार' और 'व्यवहारदुष्टता' का विधान तभी बन सकता है जब कोई अत्याचारी नृशंस शासक सामने हो। इसी शासक को ला खड़ा करने के कारण ही तो मृच्छकटिक का सूत्रधार कह उठा है—

इह सर्वं नवं संविधानकं वर्तते।

तो फिर इस 'पालक' को जाने बिना 'शूद्रक' का रहस्य कैसे खुल सकता है ? देखिए न इसकी क्रूर नृशंसता कि यह 'नववधू' का भी मुंडन करा देता है। तो क्या यह कोई 'उपासक' है ? कवि कहता है—

आर्यकेणार्यवृत्तेन कुलं मानं च रक्षता ।
पशुवद्यज्ञवाटस्थो दुरात्मा पालको हतः ॥५१॥१०॥

अच्छा तो 'दुरात्मा' पालक के साथ ही पता लगाना होगा इस 'आर्यवृत्त' आर्यक का भी जिसने कि इस प्रकार किसी 'यज्ञवाटस्थ' का अंत किया । शर्विलक ने चारुदत्त से कहा था उसके बारे में यह कि—

त्वद्यानं यः समारुह्य गतस्त्वां शरणं पुरा ।
पशुवद्वितते यज्ञे हतस्तेनाद्य पालकः ॥५२॥१०॥

किंतु क्या यही सच भी है ? इससे चारुदत्त को सुखसन्तोष चाहे जितना मिला हो और चाहे वस्तु विन्यास में जितनी सहायता मिली हो, पर पते की बात तो स्वयं शर्विलक के ही कथनानुसार उसी की वाणी में यह है—

हत्वा तं कुनृपमहं हि पालकं भो—
स्तद्राज्ये द्रुतमभिषिच्य चार्यकं तम् ।
तस्याज्ञां शिरसि निधाय शेषभूतां,
मोक्ष्येऽहं व्यसनगतं च चारुदत्तं ॥४७॥१०॥

अस्तु, यदि यही सत्य है तो यह भी जानना होगा कि वास्तव में बात क्या है कि इतना कुछ कर सकने और कर लेने के बाद भी शर्विलक बनता कुछ नहीं है, परंतु बनाता सब कुछ है । यहाँ तक कि अंत में आर्य चारुदत्त से पूछता है—

तदुच्यतां किं ते भूयः प्रियं करोमि ?

चारुदत्त निवेदन करता है—

अतः परमपि प्रियमस्ति !

लब्धा चारित्रशुद्धिश्चरणनिपतितः शत्रुरप्येष मुक्तः,
प्रोत्खातारातिमूलः प्रियसुहृदचलामार्यकः शास्ति राजा ।
प्राप्ता भूयः प्रियेयं प्रियसुहृदि भवान्संगतो मे वयस्यो,
लभ्यं किं चातिरिक्तं यदपरमधुना प्रार्थयेऽहं भवन्तम् ॥५६॥१०॥

'चारुदत्त' नाटक में 'शर्विलक' भी 'सज्जलक' के रूप में है, पर वहाँ

'पालक' और 'आर्यक' का सर्वथा अभाव है। 'मृच्छकटिक' को समझना और उसके कवि को परखना है तो इस त्रयी को भली भाँति निरखना होगा। इसके बिना शूद्रक का उद्धार कहाँ ?

आर्यक—सो, कतिपय पुराणपंडितो का कहना है कि वास्तव मे 'पालक' और 'गोपालक' उज्जयिनी के राजा प्रद्योत के पुत्र थे और था 'आर्यक' इसी 'गोपालक' का पुत्र; परन्तु हमारी दृष्टि से यह मान्यता निराधार ही नहीं, मृच्छकटिक के मत के सर्वथा विपरीत है। कारण कि उसमें स्पष्ट कहा गया है—

> अरे रे वीरक-विशल्य-भीमांगद-दंडकालक-दंडशूरप्रमुखाः
> आगच्छत विश्वस्तास्त्वरितं यतध्वं लघु कुरुत।
> लक्ष्मीर्येन न राज्ञः प्रभवति गोत्रान्तरं गन्तुम् ॥६॥
> उद्यानेषु सभासु च मार्गे नगर्यामापणे घोषे।
> तं तमन्वेषयत त्वरितं शंका वा जायते यत्र ॥७॥
> रे रे वीरक किं किं दर्शयसि भणसि तावद्विश्रब्धम्।
> भित्त्वा च बन्धनकं कः स गोपालदारकं हरति ॥८॥६॥

स्मरण रहे, आर्यक का 'गोत्र' यदि पालक के गोत्र से अलग न होता तो कभी उसके राजा बन जाने पर लक्ष्मी का 'गोत्रान्तर' में जाना सिद्ध नही होता। 'पालक' के कुल का पता भले ही न हो पर आर्यक तो 'गोपालकदारक' अथवा आभीर वंश का है ही। प्रमाण के लिए इतना कह देना पर्याप्त है कि आर्यक और चारुदत्त का वार्तालाप ही यह सिद्ध करने को पर्याप्त है। देखिये—

> चारुदत्तः—(प्रवहणमधिरुह्य दृष्ट्वा च) अये तत्कोऽयम् ?
> करिकरसमबाहुः सिंहपीनोन्नतांसः,
> पृथुतरसमवक्षास्ताम्रलोलायताक्षः
> कथमिदमसमानं प्राप्त एवंविधो यो,
> वहति निगडमेकं पादलग्नं महात्मा ॥ ५ ॥
> ततः को भवान् ?
> आर्यकः—शरणागतो गोपालप्रकृतिरार्यकोऽस्मि।

चारुदत्तः—किं घोषादानीय योऽसौ राज्ञा पालकेन बद्धः ?

आर्यकः—अथ किम्।

चारुदत्तः—विधिनैवोपनीतस्त्वं चक्षुर्विषयमागतः,

अपि प्राणानहं जह्यां न तु त्वां शरणागतम् ॥६॥७॥

विदित ही है कि आर्य चारुदत्त ने कभी इस गोपालदारक आर्यक को पहले देखा तक नहीं, हाँ उसके बन्दी होने की कथा को जानता भर अवश्य है। तो फिर हम उसे उज्जयिनी के राजा 'गोपालक' का पौत्र अथवा 'पालक' का भतीजा कैसे मान सकते है ? नही, वह तपस्वी तो किसी 'घोष' का वासी जाति का गोपाल था। व्यक्ति की अपेक्षा उसकी 'जाति' ही प्रधान थी। उसका स्वयं कहना है—

भोः अहं खलु सिद्धादेशजनितपरित्रासेन राज्ञा पालकेन घोषादानीय विशसने गूढागारे बन्धनेन बद्धः। तस्माच्च प्रियसुहृच्छर्विलकप्रसादेन बन्धनात्परिभ्रष्टोऽस्मि। (अश्रूणि विसृज्य)

भाग्यानि मे यदि तदा मम कोऽपराधो,

यद्वन्यनाग इव संयमितोऽस्मि तेन।

दैवी च सिद्धिरपि लंघयितुं न शक्या—

गम्यो नृपो बलवता सह को विरोधः ॥२॥६॥

शर्विलक—भाव यह कि 'आर्यक' का संबंध राजा 'पालक' से नहीं। उसका लगाव तो 'शर्विलक' से है। किसी सिद्ध के आदेश से वह दैववश राजा बना तो इसमें उसका अपराध क्या ? हाथ तो इसमे 'शर्विलक' का ही विशेष है न जो उसको उस कारागार से मुक्ति मिली ? तो क्या इसके पहले इन दोनो में कोई संबंध न था ?। क्यो नही था ? सुनिये 'बलपति' चन्दनक कहता है—

कथमार्यको गोपालदारकः श्येनवित्रासित इव पत्ररथः शाकुनिकस्य हस्ते नियमितः। (विचिन्त्य) एषोऽनपराधः शरणागत आर्यचारुदत्तस्य प्रवहणमारूढः प्राणदस्य मे आर्यशर्विलकस्य मित्रम् ॥

[मृच्छकटिक, अंक ६, १६ प०]

'आर्यक' को 'शर्विलकमित्र' कहा गया है और कहा गया है साथ ही 'शर्विलक' को 'चन्दनक' का 'प्राणप्रद' भी। तो निश्चय ही 'पालक' का परम शत्रु है आर्य शर्विलक ही, कुछ 'आर्यक' नहीं। नही, आर्यक तो निमित्त भर बनाया गया है। शर्विलक कितना सचेत है इस कांड मे कि 'चन्दनक' को उसे देखकर सविस्मय कहना ही पडता है—

अरे निष्क्रमतो मम प्रियवयस्यः शर्विलकः पृष्ठत एवानुलग्नो गतः।

[वही, अ० ६ का अंत]

'चन्दनक' और 'शर्विलक' की मित्रता कहाँ की है और दोनों का इष्ट क्या है जो यहाँ इस प्रकार परस्पर बरत रहे है, इसको जान लेना कुछ बहुत कठिन नही है। चन्दनक राजा पालक का 'बलपति' है अवश्य, पर मूलतः उज्जयिनी का वासी नही। अपने प्रतिद्वन्द्वी सम्मिल सेनापति 'वीरक' से इसी से तो निवेदन करता है—

अरे कोऽप्रत्ययस्तव। वयं दाक्षिणात्या अव्यक्तभाषिणः। खष-खत्ति-कडकडट्टोबिल-कर्णाट-कर्ण-प्रावरण-द्रविड-चोल-चीन-बर्बर-खेर-खान-मुख मधुघातप्रभृतीनां म्लेच्छजातीनामनेकदेशभाषाभिज्ञा यथेष्टं मन्त्रयामः दृष्टो दृष्टा वा आर्य आर्या वा।

[वही, अंक ६, २० प०]

'चन्दनक' का यह कथन इस दृष्टि से बडे महत्त्व का है कि इससे पता चलता है कि वह वास्तव में 'दाक्षिणात्य' है और अनेक म्लेच्छभाषाओं को भी कुछ न कुछ जानता है। तो क्या 'शर्विलक' भी कहीं वही का निवासी है? देखा चाहिये कि उसकी स्थिति क्या है। सो उसका भी कहना है—

कथं राज्ञा पालकेन प्रिय सुहृदार्य्यको मे बद्धः। कलत्रवांश्चास्मि संवृत्तः। आः कष्टम्। अथवा।

द्वयमिदमतीव लोके प्रियं नराणां सुहृच्च वनिता च।
संप्रति तु सुन्दरीणां शतादपि सुहृद्विशिष्टतमः ॥२५॥

भवतु अपतरामि

[वही, अंक ४]

और संकल्प करता है—

अहमिदानीं—

ज्ञातीन्विटान्स्वभुजविक्रमलब्धवर्णान् ।
राजापमानकुपितांश्च नरेन्द्रभृत्यान् ।
उत्तेजयामि सुहृदः परिमोक्षणाय
यौगन्धरायण इवोदयनस्य राज्ञः ॥२६॥

अपि च

प्रियसुहृदमकारणे गृहीतं रिपुभिरसाधुभिराहितात्मशंकैः ।
सरभसमभिपत्य मोचयामि स्थितमिव राहुमुखे शशांकबिम्बम् ॥२७॥४॥

अपने संकल्प के अनुष्ठान में जो कुछ वह करता है वह अभी उतने महत्त्व का नही है जितना यह जान लेना कि वह स्वयं है क्या जो इस प्रकार उज्जयिनी मे क्रांति की सोच रहा है। उसकी दृष्टि में तो—

कामं नीचमिदं वदन्तु पुरुषाः स्वप्ने च यद्वर्धते,
विश्वस्तेषु च वञ्चनापरिभवश्चौर्यं न शौर्यं हि तत् ।
स्वाधीना वचनीयतापि हि वरं बद्धो न सेवाञ्जलिः ।
मार्गो ह्येष नरेन्द्र सौप्तिक वधे पूर्वं कृतो द्रौणिना ॥११॥३॥

किन्तु चोरी तो उसने प्रेयसी मदनिका के लिए ही तो की थी? कहा जा सकता है। पर इष्ट तो वहाँ भी उसको दासता से मुक्त करना ही है न? तो फिर 'शर्विलक' को ठीक से समझना चाहिये अन्यथा 'शूद्रक' का भेद न खुलेगा।

भाव रेभिल—सो शूद्रक का शर्विलक मूलतः उज्जयिनी का निवासी नहीं। वह तो किसी कार्यवश उज्जयिनी में आ भर गया है। यहाँ उसका परिचय पहले केवल दो से दिखाई देता है। हम पहले उसे पाते हैं दासी गणिका मदनिका के प्रेमी के रूप मे और फिर देखते है उसे उसी प्रसंग में संगीताचार्य भाव रेभिल के संबंध मे। शर्विलक को मदनिका मिल गई और दोनों वसतसेना के यहाँ से वर-वधू के रूप मे विदा हुए तो शर्विलक को सुन पडा कि प्रिय मित्र आर्यक घोर कारागार में जकडा गया। निदान मदनिका की प्रार्थना पर उसने निश्चय किया कि

उसे भाव रेभिल के यहाँ भेजा जाय। कारण, कुछ लगाव पहले का तो होगा ही नहीं तो वह प्रिया की प्रार्थना—

तत्परं नयतु मामार्यपुत्रः समीपं गुरुजनानाम्—

के समाधान में क्यों कहता—

साधु प्रिये साधु, अस्मच्चित्तसदृशमभिहितम्। (चेटमुद्दिश्य) भद्र जानीषे रेभिलस्य सार्थवाहस्योदवसितम्!

[वही, अंक ४, २३ प०]

शर्विलक की प्रिया मदनिका का गमन 'रेभिल' के घर हुआ, पर रेभिल और शर्विलक के संबंध का भेद न खुला। सार्थवाह वा भाव रेभिल से उसका लगाव क्या? स्वयं सार्थवाह वा किसी सार्थवाह कुल का तो वह था नहीं। तो क्या यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वह उज्जयिनी में आकर इसी सार्थवाह रेभिल के 'उदवास' मे रहता था और यही से अपना चक्र चलाता था? रेभिल से आर्य चारुदत्त की कैसी बनती थी यह उसकी इस प्रशंसा से आप ही अवगत हो जाता है

अहो! अहो!! साधु साधु रेभिलेन गीतम्।

[वही, अंक ३, २ प०]

कूटवास—'रेभिल' के यहाँ मदनिका चाहे जिस विचार से भेजी गयी हो, पर प्रकरण से इतना तो प्रकट ही है कि शर्विलक उज्जयिनी का निवासी नहीं। यदि वह वहाँ का वासी होता तो आर्य चारुदत्त के निवास से इतना अनभिज्ञ न होता कि उसी में सेंध देता। मदनिका जानना जो चाहती है कि आभूषण मिले कहाँ, तो शर्विलक उत्तर देता है—

आर्य प्रभाते मया श्रुतं श्रेष्ठिचत्वरे यथा—सार्थवाहस्य चारुदत्तस्य इति।

[वही, अंक ४, ७ प०]

किं बहुना, हमें संक्षेप में कहना यह है कि हम शर्विलक के उज्जयिनी-निवास के मूल में कूटनीति ही समझते हैं। उसके इस कथन पर टुक ध्यान तो दें। वह किस भाव में कहता है—

नृपतिपुरुषशंकितप्रचारं परगृहदूषणनिश्चितैकवीरम् ।
घनपटलतमोनिरुद्धतारा रजनिरियं जननीव संवृणोति ।।१०।।३।।

प्रथम पंक्ति को उसके उज्जयिनी-जीवन की दीपिका समझिये । वसन्तसेना अथवा उसकी दासी गणिका मदनिका से शर्विलक का परिचय क्यों और कहाँ होता है ? पता नहीं; परन्तु इतना तो प्रकट ही है कि शर्विलक की दशा अच्छी नही है । सो उसके इस कथन से व्यक्त है—

अये जर्जरस्नानशाटीनिबद्धं दीपप्रभयोद्दीपितं सत्यमेवैतदलंकरणभाण्डम् । भवतु । गृह्णामि । अथवा न युक्तं तुल्यावस्थं कुलपुत्रजनं पीडयितुम् । तद्गच्छामि ।

[वही अंक ३, १८ प०]

तो क्या शर्विलक की स्थिति कभी अच्छी थी और वह भी दैववश चारुदत्त की कोटि में आ गया था । उत्तर कुछ भी दिया जाय, पर मानना ही होगा कि शर्विलक निरा निर्धन नहीं । उसीका तो साथ ही यह भी कहना है—

दत्त्वा निशाया वचनीयदोषं निद्रां च जित्वा नृपतेश्च रक्षान् ।
स एष सूर्योदयमन्दरश्मिः क्षपाक्षयाच्चन्द्र इवास्मि जातः ।।११।।४।।

दाक्षिणात्य—कुछ भी हो, किंतु यह तो कहा नहीं जा सकता कि शर्विलक के 'नृपतिपुरुषशंकितप्रचार' एवं 'परगृहदूषणनिश्चितैकवीर' तथा 'निद्रां च जित्वा नृपतेश्च रक्षान्' का व्यवहार यों ही रूपक के लिए कर दिया गया है, और इनका उसके वास्तविक जीवन से कोई सम्बन्ध नही । कारण यह कि 'पालक' का निधन एक गहरे षडयंत्र का परिणाम है और है शर्विलक ही उसका सचमुच सूत्रधार । शर्विलक ने इसके लिये क्या कुछ किया इसका संकेत जहाँ-तहाँ प्रकरण में पाया जाता है । इन पदों में भी हमे वही संकेत गोचर होता है । उज्जयिनी में शर्विलक छिपा फिरता था, शत्रुकुल का नाश चाहता था. और इसके निमित्त कुछ इधर-उधर कर जनक्रांति को जन्म देना चाहता था । कदाचित् इसी से पालक को इसका पता भी हो गया और उसने उसके 'प्रिय मित्र' 'आर्यक' को झट बन्दी भी बना लिया । आया तो था वह उज्जयिनी में इसी विचार से । पर यहाँ आने पर उसका मन लग गया गणिका मदनिका में । वह मिली नहीं

कि फिर उसकी वासना जगी और उसने फिर 'प्रकृति' का पैंडा लिया। उसने सुना नहीं कि—

कः कोऽत्र भोः राष्ट्रियः समाज्ञापयति-एष खल्वार्यको गोपालदारको राजा भविष्यतीति सिद्धादेशप्रत्ययपरित्रस्तेन पालकेन राज्ञा घोषादानीय घोरे बन्धनागारे बद्धः।

[वही, अंक ४, २४ पृ०]

उसका चित्त फड़क उठा और वह उसके उद्धार में दत्तचित्त हुआ। स्मरण रहे यदि उसका जाल पहले से न बिछा होता तो उसको अपने अनुष्ठान में सच्ची सफलता कभी नहीं मिलती। चन्दनक तो अपना ही उसका उपकृत प्राणी और दाक्षिणात्य है। उसके अतिरिक्त एक चांडाल भी उसी के पक्ष का दिखायी देता है और अपनी इष्टदेवी से प्रार्थना कर कहता है—

भगवति सह्यवासिनि प्रसीद प्रसीद। अपि नाम चारुदत्तस्य मोक्षो भवेत् तदानुगृहीतं त्वया चांडालकुलं भवेत्।

[वही, अंक १०, २७ पृ०]

अभीष्ट—हो वा न हो, किंतु इतना तो सिद्ध ही है कि राजा पालक का अंत हुआ इसी शर्विलक के हाथ ही और इसी ने किया वह सब कुछ जो किसी 'आर्यक' को करना था। अस्तु, पालक का अंत हुआ तो आर्यचारुदत्त का मोक्ष होना ही चाहिए। केवल शील के कारण ही नहीं, नीति की बलवती प्रेरणा से भी। तभी तो उसका सोचना है—

अपि नामायमारम्भः क्षितिपतेरार्यकस्यार्यचारुदत्तस्य जीवितेन सफलः स्यात्।

[वही, अंक १०, ४८ पृ०]

'आर्यचारुदत्त' जैसे सुशील की अवहेलना और हत्या की आज्ञा से पालक लोकदृष्टि में इतना गिर गया था कि यज्ञस्थल में उसके वध से कोई कोलाहल न हुआ और लोकवन्द्य चारुदत्त के उद्धार से 'आर्यक' जम गया। शर्विलक ने सबसे पहले जो—

जयति वृषभकेतुर्दक्षयज्ञस्य हन्ता

का उद्घोष किया उसका कारण था यज्ञ के अवसर पर राजा का वध ही। राजा पालक किसी 'यज्ञ' में लीन क्यों हुआ था? बात यह थी कि सूरज निकलते-निकलते विकट कारागार से 'आर्यक' निकल भागा था और अनिष्ट के शमन के विचार से राजा को कोई अनुष्ठान करना आवश्यक था। वह प्रातःकाल ही 'यज्ञवाट' में जा जमा था। यही कारण है कि वसन्तसेना जब जीवित दिखायी देती है तब चांडाल कहता है—

तद्यावदेतद्वृत्तं राज्ञो यज्ञवाटगतस्य निवेदयावः।

[वही अं० १०, ३८ प०]

राजा पालक ने तो क्या इसी 'यज्ञवाट' से चारुदत्त की हत्या का आदेश दिया और यहीं उसके स्थान पर स्वयं बलिदान हुआ? निश्चय ही यह भी उसके निधन की शान्ति का एक कारण बना।

मनःशिल—'शर्विलक ने राजा के प्रतिकूल 'विट' को भी साधा था। उस 'विट' से उसको सहायता क्या मिली, कह नहीं सकते। हाँ, जिस 'विट' की सहानुभूति वसन्तसेना के साथ है और जो स्वयं साथ है उसके लोलुप 'शकार' के, उसी का कहना है उसी वसन्तसेना के विषय में—

किं यासि बालकदलीव विकम्पमाना,
रक्तांशुकं पवनलोलदशं वहन्ती।
रक्तोत्पलप्रकरकुड्मलमुत्सृजन्ती,
टंकैर्मनःशिलगुहेव विदार्यमाणा ।।२०।।१।।

'मनःशिल' के प्रति कवि का इतना अनुराग है कि यही विट इसी वसन्तसेना से फिर कहता है कि—

किं त्वं कटीतटनिवेशितमुद्वहन्ती,
ताराविचित्ररुचिरं रशनाकलापम्।
वक्त्रेण निर्मथितचूर्णमनःशिलेन,
त्रस्ता द्रुतं नगरदैवतवत्प्रयासि ।।२७।।१।।

मृच्छकटिक का यह 'मनःशिल' यहीं तक नहीं सीमित है। अरे! वह तो भाण 'पद्मप्राभृतक' में भी उपलब्ध है। वहाँ भी 'विट' का ही कथन है—

प्रबाललोलांगुलिना करेण मनश्शिलं कन्दुकमुद्वहन्ता।
स्वपल्लवाग्राभिहतैकपुष्पा नतोन्नता नीपलतेव भाति ॥

[पृष्ठ १६]

अस्तु, चन्दनक के 'दाक्षिणात्य' तथा चांडाल की 'सह्यवासिनी' के साथ कवि के इस 'मनःशिलगुहेव' को मिलाकर देखें तो पता चल जायगा कि इधर से भी 'शर्विलक' को 'शूद्रक' मानने में कोई क्षति नहीं। प्रत्युत प्रसंग तो इसके सर्वथा अनुकूल है। इसको और अधिक बढ़ाने की आवश्यकता इसीलिये भी नही रही कि यही विद्वानो का मत भी है कि शूद्रक दाक्षिणात्य था और यह उसकी रचना से सिद्ध भी है।

नहपान—अब रहा प्रश्न यह कि पालक कौन है। हमारी दृष्टि में उसे क्षहरात क्षत्रप नहपान मानना ही ठीक होगा। उसके बहुत से सिक्को पर जो गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी की छाप है उसका कारण भी यही हो तो ठीक ही है। उधर हमने देख भी लिया है कि उसे कहा गया है नासिक के गुहालेख में 'क्षहरातवंशनिरवशेषकर'। उसके साथ किसी अन्य का बध तो मृच्छकटिक में दिखाया नहीं गया, फिर यह सिद्ध कैसे हो गया कि उसके निधन से उसके वंश का नाश भी हो गया? अच्छा तो इस प्रश्न का समाधान भी प्रायः इस प्रकार हो ही जाता है कि कदाचित् उसके कोई पुत्र न था और इसी से उसके शासन में उसके जामाता 'उषवदात' का विशेष महत्त्व है। देखिये न उसके समय के एक लेख में कहा गया है—

भट्टारकाज्ञाप्त्या (नहपानाज्ञया) च गतं आसं वर्षतौ मालवैः रुद्धम् औत्तमभाद्रं (= उत्तमभद्रकाणाम् अधिपति) मोचयितुम्। ते च मालवाः प्रणादेन (ऋषभदत्तसैन्यहुंकारेण) इव अपयाताः (= पलायिताः), उत्तमभद्रकानां च क्षत्रियाणां सर्वे [मालवाः] परिग्रहाः (= वन्दिनः) कृताः [ऋषभदत्तेन]

[नहपानकालीन नासिक गुहालेख : गुहांक १०]

मृच्छकटिक में कही राजा पालक के वंश का उल्लेख नही मिला है, हाँ उसके श्याल शकार का कहना अवश्य है—

भवतु । लब्धो मयोपायः। दत्ता वृद्धशृगालेन शिरश्चालनसंज्ञा । तदेतं प्रेष्य वसन्तसेनां मारयिष्यामि । एवं तावत् । भाव, यत्त्वं मया भणितः तत्कथमेवं वृहत्तरैः मल्लकप्रमाणैः कुलैर्जातोऽकार्यं करोमि ?

विट का चट समाधान होता है—

> किं कुलेनोपदिष्टेन शीलमेवात्र कारणम् ।
> भवन्ति सुतरां स्फीताः सुक्षेत्रे कंटकिद्रुमाः ॥२६॥८॥

इसी प्रकार 'अधिकरणिक' के कान में भी वह कहता है—

> एवं वृहति मल्लकप्रमाणस्य कुलेऽहं जातः ।

[वही, अंक ९, ६ प०]

शकार के 'मल्लक' और 'मल्लकं' को लेकर हम क्या करें जब पालक के कुल का पता नहीं ? किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि यदि पालक भी इसी वर्ग का रहा हो तो संदेह नहीं । वह 'मनु' को तो मानता नहीं । अधिकरणिक का कथन है—

आर्यचारुदत्त ! निर्णये वयं प्रमाणम् । शेषे तु राजा । तथापि शोधनक विज्ञाप्यतां राजा पालकः—

> अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रीत् ।
> राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह ॥३९॥९॥

किन्तु 'पालक' उसकी एक भी नहीं सुनता और आर्यचारुदत्त को शूली का कठोर दंड देता है । यहाँ तक कि उदार चारुदत्त को भी कहना पड़ता है—

> अहो अविमृश्यकारी राजा पालकः ।

[वही, अंक ९, ३९ प०]

नृशंसता—हाँ, तो राजा पालक का अत्याचार यहाँ तक बढ गया था कि जहाँ उसे किसी 'नववधू' का माथ मुँडाने में आनन्द आता था वहीं उसके 'राष्ट्रिय' को किसी 'भिक्षु' को पशु बनाने में । नववधू की यातना का उल्लेख पहले हो चुका है । भिक्षु की दुर्गति को यहाँ देख लीजिये । किस परिताप से संवाहक भिक्षु कहता है—

आश्चर्यम् । एष स राजश्यालसंस्थानक आगतः । एकेन भिक्षुणापराधे कृतेऽन्यमपि यत्र यत्र भिक्षुं पश्यति तत्र तत्र गामिव नासिकां विद्ध्वापवाहयति । तत्कुत्राशरणः शरणं गमिष्यामि । अथवा भट्टारक एव बुद्धो मे शरणम् ॥

[वही अं. ८,२ प०]

ऐसे नृशंस और क्रूर शासन से जैसी त्राहि त्राहि की गोहार चारों ओर लगी होगी उसका अनुमान तो हम आप सरलता से कर सकते हैं, पर हम उसी सरलता से कह नहीं सकते कि वास्तव में यह दुर्दान्त शासन था किसका। किंतु जैसा कि बताया गया है इसे 'नहपान' का शासन मान लेने में कोई क्षति नहीं। 'शक' इस प्रकार की क्रूरशीलता के लिये पहले से ही प्रसिद्ध थे। जान पड़ता है कि उसकी इसी भूल को सुधारना चाहता था उसका जामाता उषवदात; पर उसे जीवन में पूरी सफलता न मिली और वह भी कहीं कुछ दानपुण्य कर रह गया। हाँ, रुद्रदामा ने अवश्य ही अपने उदार हृदय का परिचय दिया और अपने आप को इस भूमि का अंग समझा। गौतमीपुत्र श्रीसातकर्णी का उदय इसी 'क्षत्रिय दर्पमर्दन' के हेतु हुआ था और इसी 'क्षहरात' वंश का उसने नाश किया था। उसकी योजना इस विषय में कैसी और क्या कुछ थी, इसकी झलक मृच्छकटिक में पायी जाती है। आर्यचारुदत्त का कितना गहरा विषाद है—

> ईदृशैः श्वेतकाकीयै राज्ञः शासनदूषकैः ।
> अपापानां सहस्राणि हन्यन्ते च हतानि च ॥४१॥६॥

अस्तु, कहना ही होगा कि इसी 'श्वेतकाकीय' शासन का अंत किया था शर्विलक ने। शर्विलक का उल्लास है—

> आर्यकेणार्यवृत्तेन कुलं मानं च रक्षता ।
> पशुवद्यज्ञवाटस्थो दुरात्मा पालको हतः ॥५१॥१०॥

आर्यवृत्त—सच कहें तो कहना ही होगा कि 'मृच्छकटिक' इसी 'आर्यवृत्त' का रूपक है। उसका 'आर्यक' भी 'कुल' और 'मान' का अभिमानी है; पर है अभिनय में प्रायः हमारी आँख से ओझल। क्या कभी आपने राजा आर्यक को देखा है ? कहने को तो शर्विलक ने उच्च स्वर से कह दिया—

५

जयति वृषभकेतुर्दक्षयज्ञस्य हन्ता,
तदनु जयति भेत्ता षण्मुखः क्रौंचशत्रुः ।
तदनु जयति कृत्स्नां शुभ्रकैलासकेतुं,
विनिहतवरवैरी चार्यको गां विशालाम् ॥४६॥१०॥

पर दिखाया किसने है कि वास्तव में उसका महत्त्व क्या है। स्मरण रहे, पहले जय हो 'वृषभकेतु' अर्थात् शिव की, फिर हो 'क्रौंचशत्रु' षडानन की, और तब कही जा कर जय हो 'आर्यक' की। उस 'आर्यक' की जिसने हिमालय तक की वसुधा को अपने अधीन कर लिया है। इसी को हम उस समय के इतिहास की भाषा में कह सकते हैं कि प्रथम जय हो गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी की, फिर जय हो उनके सुत वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि की, और फिर जय हो गोपालदारक किसी गोपाल की। उसका नाम कदाचित् रहा हो 'बप्पक' जो 'आर्यक' के रूप में नाटक मे विद्यमान है। इस कल्पना का आधार है 'रुद्रसीह' के शासन, सं. १०३ का यह लेख—

आभीरेण सेनापति-वापकस्य पुत्रेण सेनापति-रुद्र [भू] तिन [ा ग्रा] मे रसो [प] द्रियेवा [पी] [खा] नि [ता] बन्धापितश्च सर्व्वसत्त्वानां हितसुखार्थमिति ॥

[सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृ० १७६]

जिससे प्रकट होता है कि आभीरो मे ऐसा नाम प्रचलित था। हम इस आर्यक मे इतिहास इतना ही मानते है कि उस समय उज्जयिनी का शासक बना दिया गया कोई आभीर जिसकी पहले से ही 'पालक' से शत्रुता थी। ऐसा मानने का कारण यह कि वस्तुतः पालक का हन्ता और शासन का सब कुछ कर्त्ता मृच्छकटिक में है 'शर्विलक' ही। शर्विलक चाहता है कि 'शकार' को घोर दंड दे पर आर्य-चारुदत्त की उदारता के सामने उसे झुकना पड़ता और इस आर्य आदेश को अपनाना पड़ता है कि—

शत्रुः कृतापराधः शरणमुपेत्य पादयोः पतितः ।
शस्त्रेण न हन्तव्यः उपकारहतस्तु कर्तव्यः ॥५४॥१०॥

यही कारण है कि 'शकार' जैसा घोर प्राणी 'उपकारहत' करके छोड़ दिया जाता है और सबके अंत में 'भरतवाक्य' के रूप में कामना यह की जाती है—

क्षीरिण्यः सन्तु गावो भवतु वसुमती सर्वसंपन्नसस्या,
पर्जन्यः कालवर्षी सकलजनमनोनन्दिनो वान्तु वाताः ।
मोदन्तां जन्मभाजः सततमभिमता ब्राह्मणाः सन्तु सन्तः,
श्रीमन्तः पान्तु पृथ्वीं प्रशमितरिपवो धर्मनिष्ठाश्च भूपाः ॥६१॥१०॥

मृच्छकटिक के रचयिता कवि शूद्रक की कामना क्या है? वह इस भरत वाक्य में आप ही मुखरित हो रही है। उसे ध्यान से सुने और सावधान हो देखें कि उसका संविधान कैसा और क्यों है।

नरवाहन—कवि शूद्रक की देन? इसकी जानकारी के पहले इतना और जान लें कि यहाँ नहपान के बारे मे जो कुछ कहा गया है उसकी पुष्टि बहुत कुछ अन्यत्र से भी हो जाती है। देखिए श्री जगनलाल गुप्त का कथन है—

इस शालिवाहन शकाब्द के संस्थापक के विपय में यह ऐतिहासिक तत्त्व सदैव स्मरण रखने योग्य है कि इस महान् विजेता ने भी विक्रम-संवत् के संस्थापक की नाईं शकों का पराभव किया था और उसी की स्मृति मे यह शकाब्द भी विक्रमाब्द से १३५ वर्ष पश्चात् चलाया गया था। इसके शकों से युद्ध करने का वृत्तांत जैन ग्रंथों से जिस प्रकार ज्ञात होता है उसे विस्तार में न देकर उस संबंध के मूल वाक्यों को ही उद्धृत किया जाता है—

भरुकच्छपुरेऽत्रासीद् भूपतिर्नरवाहनः ।
ससमृद्धात्मकोषस्य श्रीमदप्यवमन्यते ॥१॥
इतः प्रतिष्ठानपुरे पार्थिवः शालिवाहनः
बलेनापि समृद्धः स रुरोध नरवाहनम् ॥२॥
आनयत्परिशीर्षाणि यस्तस्याऽऽदान्महर्धिकः ।
लक्षं विलक्षं तत्तस्य नित्यं घ्नन्ति तद्भटाः ॥३॥
हा तस्यापि भटाः केप्यानिन्युः सोदान्नकिञ्चन ।
सोऽथ क्षीणजनो नष्ट्वा पुनरेति समान्तरे ॥४॥
पुनर्नष्ट्वा तथैवेति नाभूद् तद्ग्रहणक्षमः ।
अथैके मायया हालं सचिवो निरवास्यत ॥५॥

स परम्परयाज्ञासीद् भरुकच्छनराधिपः ।
अपास्तोऽल्पापराधोऽपि निजामात्यस्ततः कृतः ॥६॥
ज्ञात्वा विश्वस्तं सोऽव्यक्तं राज्यं प्रायेण लभ्यते ।
तदन्यस्य भवस्यार्थे पाथेयं कुरु पार्थिव ॥७॥
धर्मस्थानविधानाद्यैर्द्रव्यप्रायाय तत्ततः ।
आगान्मन्त्रिगिरा हालः पार्थिवोऽथाह मन्त्रिणम् ॥८॥
मिलितोऽसि किमस्य त्वं सोऽवदन्नमिलाम्यहम् ।
अथान्तःपुरभूषादि द्रविणैस्तं तदाक्षिपत् ॥९॥
हालेऽथ पुनरायाते निर्द्रव्यत्वान्ननाश सः ।
नगरं जगृहे हालो द्रव्यप्रणिधिरेषिकाः ॥१०॥

ये श्लोक जिनमें शकनरेश नरवाहन या नहपान की पराजय का वृत्तांत दिया है श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के आवश्यकसूत्र के उत्तरार्द्ध की १३०४ वीं गाथा के भाष्य मे भद्रवाहु ने निर्युक्ति भाष्य में लिखे हैं जिस पर हरिभद्र सूरि की वृत्ति भी है ।

[विक्रमस्मृति ग्रन्थ, ग्वालियर, पृ० ७४]

प्रस्तुत सामग्री से इतना तो प्रकट ही है कि शकनरेश 'नरवाहन' का अन्त बड़ी चाल से किया गया और 'धर्मस्थानविधान' में मग्न कर उसे झट परलोकवासी बना दिया गया। अधिक तो नही कह सकते पर यदि इस शकनरेश को 'पालक' तथा इस 'अमात्य' को 'शर्विलक' समझ लें तो स्थिति बहुत कुछ झलक उठती है। 'शालिवाहन' को गौतमीपुत्र शातकर्णी माना जा सकता है और सारा विधान आप ही बन जाता है। यहाँ यह भी भूलने की बात नहीं कि कभी कोई 'शूद्रकाब्द' भी माना जाता था। सो क्या था, इसका ठीक ठीक पता नहीं, किन्तु अमरकोश के टीकाकार भट्ट क्षीरस्वामी का मत है—

पृथा कुन्ती च कृष्णा पांचाली याज्ञसेन्यपि ।
द्रौपदी विक्रमादित्यः साहसांकः शकान्तकः ॥
शूद्रकस्त्वाग्निमित्रो वा हालः स्याच्छालिवाहनः ।

[नामलिंगानुशासनम्, पूना, पृ० १७६]

अग्निमित्र—यदि 'अमात्य' का नाम होता अथवा इस 'अग्निमित्र' का ही ठीक ठीक पता होता तो कदाचित् स्थिति बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती। पर दोनों के अभाव में कहना यहाँ यह है कि यह 'अग्निमित्र' कालिदास का 'अग्निमित्र' होता तो स्यात् 'भास' और 'सौमिल्ल' के साथ 'शूद्रक' का भी नाम वहीं दिखाई देता। जो कुछ हो, अभी तो हमें केवल यही कहना है कि हमारी समझ में यह 'अग्निमित्र' कोई दूसरा ही अग्निमित्र है। वाक्पति ने कहा भी है—

भासम्मि जलणमित्ते कुन्तीदेवे अ जस्स रहुआरे।
सौबन्धवे अ बन्धम्मि हारीयन्दे अ आणदो॥

[गउडवहो]

तो क्या इस 'जलणमित्त' को 'ज्वलनमित्र' वा 'अग्निमित्र' मानकर इसके साथ 'शूद्रक' की संगति बैठायी जा सकती है और 'शूद्रक' तथा 'भास' को एक ही समय में माना जा सकता है? समाधान परिशीलन चाहता है। इसका अध्ययन भास के प्रसंग में होना चाहिए। तो भी प्रसगवश यहाँ इतना तो कह ही दिया जाता है कि हमारी दृष्टि मे—

शूद्रकस्त्वग्निमित्रो वा हालः स्याच्छालिवाहनः।

में उस समय का इतिहास छिपा है। हम पहले ही दिखा चुके हैं कि हमारे विचार में वासिष्ठीपुत्र श्री पुलुमावि ही राजा शूद्रक है और वह है सातवाहन कुल से भिन्न प्राणी। हो सकता है मूलतः मित्र-वंश का ही रहा हो और राग-रंग के कारण दूसरा अग्निमित्र ही माना जाता हो। जो हो, हमारा कहना यह भी है कि वास्तव में 'भास' का अर्थ भी कुछ बहुत अच्छा नहीं होता। भला 'गृद्ध' किसी को भा सकता है? किन्तु उसकी दृष्टि की सराहना कौन नही करता? 'हास' की दृष्टि से तो नाम अच्छा है न? तो फिर उसे 'शूद्रक' का साथी मान लेने में क्षति क्या? एक बात और। मृच्छकटिक में स्पष्ट कहा भी तो गया है—

शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः

तो फिर वह 'ज्वलनमित्र' वा 'अग्निमित्र' क्यों नहीं?

उपसंहार—अधिक तो कह नहीं सकता, पर जी जानता है कि यदि भास को राजा शूद्रक का राजकवि मान लिया जाय तो 'चारुदत्त' और 'मृच्छकटिक' की उलझन भी बहुत कुछ सुलझ जाय और यह भी स्पष्ट हो जाय कि भास के 'भरत वाक्य' मे किसी शासक का निश्चित नाम क्यों नहीं आता। बात यह है कि उस समय वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि का शासन, जिसे हमने शूद्रक माना है, चल रहा था गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी की ओर से। और जो राजा होते हुए भी अपने को राजा नहीं कहता था तो उसका राजकवि उसे 'राजसिंह' के अतिरिक्त और किस नाम से घोषित करे? भाव यह कि प्रभूत प्रमाण इस पक्ष में हैं कि भास को राजा शूद्रक का राजकवि माना जाय और खुलकर कह दिया जाय कि वास्तव में उसी की प्रेरणा से कवि भास 'चारुदत्त' की रचना में लीन थे। किंतु दैव का दुर्विपाक कहिये कि बीच ही में चल बसे। निदान शूद्रक को आप ही अपनी कामना पूरी करनी पड़ी और फलतः 'चारुदत्त' झट 'मृच्छकटिक' में परिणत हो गया। उसका परितः परिवर्धन और संशोधन हुआ।

शूद्रक को अपनी रचना सफल जँची तो जीवन के शेष अंग को भी व्यक्त करना ठीक समझा। लीजिये 'पद्मप्राभृतक' नाम भाण भी बन गया। है न उसमें 'वेशवास' की पूरी झाँकी? कर्णीपुत्र और देवसेना का 'मदनकर्म' तो उसमें साध्य ही ठहरा। किंतु बीच-बीच में मार्ग में सुहृदो के यहाँ 'शश' महाराज ने जो कुछ देखा उसमें उस समय का सारा शिष्ट समाज आ गया। कवि क्या, वैयाकरण भी अछूता न बचा। किसी को यह भाण इतना भा गया कि उसने खुल कर लिख दिया—

वररुचिरीश्वरदत्तः श्यामिलकः शूद्रकश्च चत्वारः।
एते भाणान् बभणुः का शक्तिः कालिदासस्य॥

हो सकता है, यह किसी भाँड़ कवि का ही मत हो और भाण को बढाने के लिए ही उसने 'कालिदास' को चुनौती दी हो, किंतु आप 'पद्मप्राभृतक' का पाठ कर सहसा यह नही कह सकते कि इसमे तथ्य नही, निरी भँडैती है। इसका एक श्लोक है—

वासन्तीकुन्दमिश्रैः कुरवककुसुमैः पूरितः केशहस्तो,
लग्नाशोकशिशखान्तः स्तनतटरचितस्सिन्दुवारोपहारः।

प्रत्यग्रैश्चूतपुष्पैः प्रचलकिसलयैः कल्पितः कर्णपूरः,
पुष्पन्यग्राग्रहस्ते वहसि सुवदने मूर्तिमन्तं वसन्तम् ॥२६॥

इसको दृष्टि में रखकर कालिदास के यक्ष के इस कथन पर ध्यान दें—

हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं
नीतालोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः।
चूडापाशे नवकुरवकं चारु कर्णे शिरीषं
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं बधूनाम् ॥२॥

[उत्तरमेघ]

कालिदास के यहाँ नारी के अंगों में सभी ऋतुओं का साक्षात्कार होता है तो शूद्रक के यहाँ केवल वसन्त का। एक ही नारी-लता मे सभी ऋतुओं के पुष्पों के प्रयोग से उस स्थान की महिमा जागती है। किंतु उसी नारी लता मे पूरे वसन्त को खिला देना कोई कम कौतुक का काम नहो। 'वासन्तीकुन्दमिश्र' से 'मूर्तिमन्तवसंत' तक पहुँचने में आपको जितना समय लगे, पर एक बार आपकी दृष्टि ने जहाँ इसका परिक्रमण कर लिया वहाँ तो फिर सर्वत्र वसन्त ही वसन्त है न? 'मूर्तिमन्त वसन्त' को पाकर कौन नहीं अपने को धन्य समझेगा? हम सबकी तो नहीं, पर अपनी यही कहे देते हैं कि हम कालिदास को शूद्रक का ऋणी समझते हैं। शूद्रक हैं भी कालिदास से पुराने। 'कालिदास' नामक ग्रंथ में उनके समय का विचार किया गया है। अतः यहाँ इतना ही पर्याप्त है। कवियों की पूर्वापर मीमांसा से कोई लाभ नहीं जब शूद्रक का खरा इतिहास सामने है।

---

३. संविधानक

भास और शूद्रक—शूद्रक की पहेली पहले से ही बहुत कुछ उलझी हुई थी कि 'कोढ में की खाज' निकल आई भास की बुझौवल। आज भास और शूद्रक को लेकर जितना विवाद बना है उतना किसी या किन्ही को लेकर नहीं। नाम तो बड़ा ठहरा दोनो का हां, पर काम एक का भी ऐसा नहीं जिससे उसका पूरा पता चले। हाँ सुभीते की बात इतनी अवश्य है कि मृच्छकटिक की प्रस्तावना में उसके कवि का परिचय दिया गया है, पर भास का ऐसा पता कही नहीं। भास का नाम अभी तक नाम ही भर था; किंतु गणपति शास्त्री के उद्योग से अब उनकी रचना भी सामने आ गयी? उनकी न सही, पर किसी की रचना तो इस नाम से हमारे सामने रख दी गई। तो फिर हम क्या करे? यह तो कोई भी कभी भी कह सकता है कि किसी भी छाप के अभाव में हम इस रचना को उस कवि की क्यो मानें, पर भारी एक सूत्रता को देखते हुए कोई कैसे कह सकता है कि 'मृच्छकटिक' का 'चारुदत्त' से कोई लगाव नहो। सम्बन्ध दोनो में इतना गहरा है कि हम उन्हे सहोदर न कह पिता-पुत्र के रूप में देखना चाहते हैं। भास के चारुदत्त की स्थिति चाहे जो रही हो, पर मृच्छकटिक के कवि का कहना है—

१—किंतु खल्वस्माकं गृहेऽन्यदिव संविधानकं वर्तते,

२—इह सर्वं नवं संविधानकं वर्तते,

३—तत्किं पुनरिदं नवमिव संविधानकं वर्तते।

भला जिस नाटक का सूत्रधार ही अपने घर के संविधानक में इस प्रकार उलझ गया है और अंत तक समझ नहीं पाता कि वस्तुतः स्थिति है क्या, उसका सामाजिक उसके संविधानक को चटपट कैसे बता सकता है और झट धड़ल्ले से कैसे कह सकता है कि उसका संविधानक कितना नवीन और कितना प्राचीन है? तो भी सूत्रधार की वाणी में कह देने में कोई क्षति नहीं कि मृच्छकटिक का संविधानक सबसे पहले तो 'अन्यदिव' है और पहले समझा

भी प्रायः यही गया। फिर कहा गया कुछ अधिक दृढता से कि 'इह सर्वं नवं वर्तते'। परन्तु 'चारुदत्त' के प्रकाश में आते ही सबको सोचना पडा कि 'तत्किं पुनरिदं नवमिव वर्तते।' स्थिति आज भी यही है। आज भी भास और शूद्रक तथा चारुदत्त और मृच्छकटिक का विवाद पूर्ववत् बना है। हम इस विवाद के विषय में अभी कुछ नहीं कहना चाहते। प्रसंग आने पर कुछ इसकी चर्चा भी हो लेगी।

नामकरण—अभी हमें दिखाना यह है कि नाटक का मर्म कहाँ है जो उसका नाम मृच्छकटिक पड़ा। चारुदत्त नाम भी तो ठीक ही था। 'दरिद्र चारुदत्त' भी बुरा न था। पर नहीं, शूद्रक को कुछ तो सूझा होगा जो नाटक का नाम रख दिया 'मृच्छकटिक'। अद्भुत ! अपूर्व !!

अच्छा तो लीजिये। बालक्रीडा का प्रसंग है। चारुदत्त की चेटी रदनिका उसके पुत्र रोहसेन को खेलाने निकली है। बालक के मनोविनोद के लिए कहती है—

एहि वत्स शकटिकया क्रीडावः।

प्रस्ताव तो अच्छा था, पर घाव गहरा कर गया। दारक कुछ दमक कर बोल उठा—

रदनिके किं ममैतया मृत्तिकाशकटिकया। तामेव सौवर्णशकटिकां देहि।

बस सारा अतीत आँखों में उतर आया और होनहार कुछ और बनकर फबा। रदनिका बालक की माँग से विचलित हो उठी और किसी प्रकार उसके बहाने अपने को संतुष्ट कर कहा—

जात ! कुतोऽस्माकं सुवर्णव्यवहारः। तातस्य पुनरपि ऋद्ध्या सुवर्णशकटिकया क्रीडिष्यसि।

किन्तु इतना तो वह जानती ही थी कि इससे बालक की लालसा न भरेगी और उसका हठ और भी बढ उठेगा। निदान बहलाने की सूझी और झट वसन्तसेना के पास पहुँची। वसन्तसेना का हृदय उमड़ा और प्रश्न हुआ—

कस्य पुनरयं दारकः। अनलंकृतशरीरोऽपि चन्द्रमुख आनन्दयति मम हृदयम्।

किंतु यह हृदय का आनंद कितना महँगा पड़ा। अलंकृत शरीर ने कितने हृदयों को रौंद डाला। उत्तर मिला—

एष खल्वार्यचारुदत्तस्य पुत्रो रोहसेनो नाम।

चारुदत्त के नाम का जादू काम कर गया। गणिका ने पुत्र में पिता को देखा और कहा—

एहि मे पुत्रक आलिग।

पुत्रक आलिंगन तो क्या करता, वसन्तसेना की गोद में जा रहा। प्रशंसा हो ली तो प्रश्न हुआ—

अथ किं निमित्तमेष रोदिति।

कारण गूढ़ न था। झट सामने आ गया। चारुदत्त की दरिद्रता गणिका को खल उठी। उसने खिन्न विषाद में कहा—

हा धिक्! हा धिक्!! अयमपि नाम परसंपत्त्या संतप्यते। भगवन्कृतान्त पुष्करपत्रपतितजलबिन्दुसदृशैः क्रीडसि त्वं पुरुषभागधेयैः।

कहने को कह तो दिया पर तपस्विनी ने समझा कहाँ कि इसी कृतान्त का सामना उसे भी करना है। सोचा 'सौवर्णशकटिका' का बन जाना कठिन क्या है। बालक से कह दिया—

जात! मा रुदिहि। सौवर्णशकटिकया क्रीडिष्यसि।

यहाँ तक तो एक प्रकार की सामान्य बात रही। इसके आगे जो कुछ हुआ वही नाटक का प्राण और प्राणी का सर्वस्व है। बालक ने अनुपम प्यार से प्रसन्न हो पूछा—

रदनिके! कैषा।

प्रश्न जितना सरल उत्तर उतना ही दुरूह था। वसंतसेना ने कहा—

पितुस्ते गुणनिर्जिता दासी।

भला यह कोई बालक के समझने की बात थी। वह अन्यमनस्क सा हो उठा। उधर रदनिका ने समझाया—

जात ! आर्या ते जननी भवति।

बात घर की कही गयी थी, पर गले के नीचे की नही। निदान बालक भी बोल उठा—

रदनिके ! अलीकं त्वं भणसि। यद्यस्माकमार्या जननी तत्किमर्थमलंकृता।

कितनी गहरी चोट ! कितनी भोली बानी !! इसका समाधान ही तो प्रकरण का प्राण है। जी, वसन्तसेना फूट पड़ी। पहले तो उसके मुख से निकला—

जात ! मुग्धेन मुखेनातिकरुणं मन्त्रयसि।

और फिर रोती हुई आभूषण उतार कर बोली—

एषेदानीं ते जननी संवृत्ता। तद्गृहाणैतमलंकारम्।
सौवर्णशकटिकां कारय।

वसन्तसेना कहती ही रह गयी—

जात ! कारय सौवर्णशकटिकाम्।

सौवर्णशकटिका—किन्तु न बनी कभी वह 'सौवर्णशकटिका'। नहीं वह तो आर्य चारुदत्त के विनाश का बनी कारण। चारुदत्त ने उन 'आभरणों' को "सौवर्णशकटिका' के योग्य न समझा तो इससे क्या हुआ ? प्रेम का यह उपहार उनके गले पड़ा और सारे नगर ने देख लिया कि वसंतसेना के अलंकार चारुदत्त के प्राण लेना चाहते हैं। बावला जग क्या जाने कि कौन किसको क्या देता और किससे क्या लेता है। लेन-देन का व्यापार प्रेम मे कुछ और ही होता है। कवि ने 'सुवर्ण' को समझा और 'मृत्तिका' को परखा तो बरबस नाम चला 'मृच्छ-कटिक' का। सचमुच 'मृच्छकटिक' की मिट्टी की पहिचान कितनों को है ? है न अद्भुत यह संविधान ? मृच्छकटिक और कुछ नहीं इसी 'सुवर्ण' की लीला है। इसी सुवर्ण को खोकर गणिका वन्द्य बनती है और इसी 'सुवर्ण' के अभाव में "वन्द्य' चारुदत्त पापी। अपनी दृष्टि में न सही समाज की दृष्टि में, व्यवहार के

बीच में। हम 'मृच्छकटिका' से खेल सकते हैं, पर हम मुग्ध रोहसेन की भाँति खेलना चाहते हैं 'सौवर्णशकटिका' से। इसी से तो हमारी होती है यह यातना! हो, पर 'प्रकरण' का नाम तो होना चाहिये यथार्थ में 'सुवर्णशकटिका' ही। कारण, समूचे संविधान में आप क्या देखते हैं? यही न कि 'सुवर्ण' पर ही सबकी दृष्टि है? वसन्तसेना इसी सोने के बहाने फिर चारुदत्त से मिलना चाहती है तो शर्विलक इसी सोने की सहायता से प्रेयसी मदनिका का उद्धार करता है। शकार इसी के अभाव में चारुदत्त को हत्यारा सिद्ध करता है तो चारुदत्त इसी को गले लगा शूली पर चढने को चल पड़ता है। कहाँ तक कहे, वसन्तसेना की अम्माजान और रोहसेन की माता को भी इसके लिये कुछ करना पड़ता है; और विदूषक तथा रदनिका की इसकी रखवाली में नोक-झोक भी हो जाती है। अरे अधिकरण का निर्णय भी तो इसी पर आश्रित है? फिर शूद्रक को हो क्या गया था कि उसने इस 'सुवर्ण' को छोड़ 'मिट्टी' को अपने प्रकरण का प्रतीक बनाया और उसका नाम रख दिया 'मृच्छकटिका' किंवा 'मिट्टी की शकटिका'! तो क्या इससे स्वयं स्फुट नहीं हो जाता कि सचमुच शूद्रक का ध्यान है रोहसेन की 'मृच्छकटिका' अथवा आर्यचारुदत्त की दरिद्रता पर न कि 'वसन्तसेना' की समृद्धि अथवा 'सौवर्णशकटिका' पर? स्मरण रहे यह वह नाटक है जो सोने पर नहीं शील पर चलता है और इसी से अपना अलग चरित भी बना जाता है। यह है भी तो इसी से 'है' का पक्षपाती? 'हो' से इसकी विशेष अभिरुचि नहीं। 'हो' का विधान तो बस 'भरतवाक्य' भर में किया गया है। नहीं तो उसके पहले भी आर्यचारुदत्त का कहना है—

> लब्धा चारित्रशुद्धिश्चरणनिपतितः शत्रुरप्येष मुक्तः,
> प्रोत्खातारातिमूलः प्रियसुहृदचलामार्यकः शास्ति राजा।
> प्राप्ता भूयः प्रियेयं प्रियसुहृदि भवान्संगतो मे वयस्यो,
> लभ्यं किं चातिरिक्तं यदपरमधुना प्रार्थयेऽहं भवन्तम् ॥५६-१०॥

शर्विलक के 'साहस' से सब कुछ सम्पन्न हो गया तो फिर कामना काहे की रही। फिर भी सन्तोष के हेतु कुछ विचार तो होना ही चाहिए। बालक 'सुवर्ण' के लिए रोता और किसी दूसरे की 'सौवर्णशकटिका' से खेलना चाहता है। उसे

अपनी 'मृच्छकटिका' नहीं भाती। उसमें उसे रस नहीं मिलता। वह 'परसंपत्ति' का भूखा जो है। परंतु प्रौढ़ कहता और अनुभव बताता है कि—

कांश्चित्तुच्छयति प्रपूरयति वा कांश्चिन्नयत्युन्नति,
कांश्चित्पातविधौ करोति च पुनः कांश्चिन्नयत्याकुलान्।
अन्योन्यं प्रतिपक्षसंहतिमिमां लोकस्थिति बोधय—
न्नेष क्रीडति कूपयन्त्रघटिकान्यायप्रसक्तो विधिः ॥६०॥१०॥

तो क्या 'मृच्छकटिक' का सारा संविधानक इसी प्रपंच पर आश्रित है और 'कूपयन्त्रघटिका न्याय' ही उसका अंतिम न्याय है ? पुत्र 'सौवर्णशकटिका' चाहता है पिता 'कूपयन्त्रघटिकान्याय' के बल पर सदा अपनी धुन में लीन है। माता 'सपत्नी' का आलिंगन करती है तो गणिका भी कृतार्थ हो जाती है। सचमुच जी जाती है। तभी तो चेटी भी सहर्ष कहती है—

अहो संविधानकम्।

चारुदत्त की अपूर्णता—'संविधानक' की प्रशंसा चाहे जितनी भर करें किन्तु यह बताये विना वास्तव मे कल्याण कहाँ कि आर्यचारुदत्त का आर्यक से लगाव कैसा ? यदि बात 'मृच्छकटिक' की ही होती तो तर्क-वितर्क भी कुछ मंद ही रहते; परंतु उधर हम देखते क्या हैं ? यही न कि किसी 'भास' का कोई 'चारुदत्त' भी सामने खड़ा है जिसका किसी 'आर्यक' से कभी का कोई संबंध नहीं। 'चारुदत्त' और 'मृच्छकटिक' को देखते ही कोई भी फडककर बोल उठता है—दोनो मे यह साम्य कैसा ? 'मृच्छकटिक' की पूर्णता में किसी को संदेह नहीं, सन्देह का स्थान नहीं, पर 'चारुदत्त' की स्थिति अजीब है। उसे पूर्ण कहने का साहस हो सकता है, हुआ है भी; किन्तु है वह भी वस्तुतः अपूर्ण ही। उसके अन्त पर ध्यान दें। प्रसंग मदनिका की विदा का है और है गणिका वसन्त सेना के अभिसरण का। कवि का कथन है ध्यान देने के योग्य, क्योंकि इसी से उसका मर्म पाया जा सकता है। देखिये—

गणिका—(स्वैराभरणैर्मदनिकामलंकृत्य) आरोहत्वार्य आर्यया सह प्रवहणम्।

मदनिका—अज्जुके ! किमेतत्।

गणिका—मा खलु मा खल्वेवं मन्त्रयित्वा। आर्या खल्वसीदानीं संवृत्ता।

गृह्णात्वार्यः। (मदनिकां गृहीत्वा सज्जलकाय प्रयच्छति)

सज्जलकः—(आत्मगतम्) भोः। कदा खल्वस्याः प्रतिकर्तव्यं भविष्यति।

अथवा, शान्तं शान्तं पापम्।

नरः प्रत्युपकारार्थी विपत्तौ लभते फलम्।
द्विषतामेव कालोऽस्तु योऽस्या भवतु तस्य वा ॥ ७ ॥

(तया सह निष्क्रान्तः सज्जलकः)

गणिका—चतुरिके!

(प्रविश्य)

चेटी—अज्जुके! इयमस्मि।

गणिका—हञ्जे! पश्य जाग्रत्या मया स्वप्नो दृष्ट एवम्।

चेटी—प्रियं मे, अमृतांकनाटकं संवृत्तम्।

गणिका—एहीममलंकारं गृहीत्वार्यचारुदत्तमभिसरिष्यावः।

चेटी—अज्जुके! तथा। एतत् पुनरभिसारिकासहायभूतं दुर्दिनमुन्नमितम्।

गणिका—हताशे! मा खलु वर्धय।

चेटी—एत्वेत्वज्जुका।

(निष्क्रान्ते)।

[चारुदत्त, चतुर्थ अंक]

अवश्य ही यह आगे की भूमिका है और इसके अनेक पद 'पताका' का काम करते हैं। 'अमृतांकनाटक' का यह दृश्य आगे चलकर और भी भव्य होने को न होता तो चेटी को यह 'दुर्दिन' ही क्यों दिखाई देता? स्मरण रहे, गणिका का ध्यान इस 'अलंकार' पर भी है। और यही 'अलंकार' तो 'मृच्छकटिक' को 'सौवर्णशकटिका' में परिणत करना चाहता है? अधिक क्या कहा जाय, 'सज्जलक' की वेदना भी तो वन्ध्या नहीं रहना चाहती। यह उसी का तो आलाप है—

नरः प्रत्युपकारार्थी विपत्तौ लभते फलम्।

तो फिर 'विपत्ति' के बिना नाटक का अवसान कहाँ? नहीं घटनाचक्र पुकार कर कहता है कि 'चारुदत्त' की इति नहीं। अभी तो उसे सम्पन्न होना है। दरिद्र चारुदत्त की दरिद्रता बनी रहे और गणिका का अभिसार भी पूरा न हो, यह भला किसी 'भास' से कब संभव है! अधिक क्या, वस्तु स्थिति के यथार्थ बोध के लिये रामचन्द्र गुणचन्द्र का यह कथन ही पर्याप्त है। कहते हैं—

ततो दैवायत्तफले दरिद्रचारुदत्तादिरूपके पुरुषव्यापारस्य गौणत्वात् कथं प्रारम्भादयः स्युः ? न, तत्रापि नायकस्य फलार्थित्वात्, फलस्य च प्रारम्भादिनान्तरीयकत्वात्।

[नाट्यदर्पण, पृ० ५२]

'फलागम' से ही रूपक का अन्त होता है और 'दरिद्रचारुदत्त' का 'फलागम' है क्या इस उपलब्ध 'चारुदत्त' में? सरलता से कहा जा सकता है, कुछ भी नहीं। निश्चय ही कुछ भी नहीं इसलिये कि रूपक दृश्य होता है, परोक्ष से उसका नाता नहीं। निदान मानना पड़ता है कि प्रस्तुत 'चारुदत्त' पूरा नहीं अधूरा है। अधूरा है, पर था कभी वह प्रायः पूरा ही। इस तथ्य को पुष्ट मानने का प्रमाण एक यह भी है कि श्री सागरनन्दी ने लिखा है कि—

रुजः प्रहारादिप्रभवा वेदनाः। यथा शक्त्यंके लक्ष्मणः। चूडामणौ जीमूतवाहनः। तामकायने स एव। तत्र ते पीडां नाटयन्ति। अन्येऽपि मनः क्षोभजननमनिमित्तदर्शनमपि रुजापक्ष एव व्याचक्षते। यथा चारुदत्तः

शुष्कद्रुमगतो रौति आदित्याभिमुखं स्थितः।
कथयत्यनिमित्तं मे वायसो ज्ञानपंडितः॥

[नाटकलक्षण रत्नकोश, पृ० ४१]

चारुदत्त का यह कथन मृच्छकटिक में इस रूप में देखा जा सकता है और कहा जा सकता है कि इसी अवसर तथा इसी स्थान पर वह 'दरिद्रचारुदत्त' में भी रहा होगा। हाँ, तो शूद्रक का कथन है—

चारुदत्तः—(सशंकम्) तत्किमपरम्।

रूक्षस्वरं वाशति वायसोऽयममात्यभृत्या मुहुराह्वयन्ति।
सव्यं च नेत्रं स्फुरति प्रसह्य ममानिमित्तानि हि खेदयन्ति ॥१०॥

शोधनकः—एत्वेत्वार्यः स्वैरमसंभ्रान्तम्।

चारुदत्तः—(परिक्रम्याग्रतोऽवलोक्य च)

शुष्कवृक्षस्थितो ध्वांक्षः आदित्याभिमुखस्तथा।
मयि चोदयते वामं चक्षुर्घोरमसंशयम्॥११॥६॥

कहने की आवश्यकता नहीं, समझने की बात है कि इस 'शुष्कद्रुमगत' का इस 'शुष्कवृक्षस्थित' से क्या लगाव है और 'आदित्याभिमुख' तो दोनो में एक ही ठहरा। यहाँ तक कि 'अनिमित्त' भी दोनो मे बना ही है। तो क्या अब भी किसी को यह कहने में संकोच हो सकता है कि वास्तव में 'चारुदत्त' अधूरा है और 'दरिद्रचारुदत्त' मे निश्चय ही 'अधिकरण' का दृश्य भी रहा होगा। व्यवहार यात्रा में ही चारुदत्त को यह अपशकुन हुआ हो तो ठीक ही है, अन्यथा हो चाहे जब, पर प्रत्येक दशा में उसे होना होगा 'उपलब्ध' चारुदत्त के चतुर्थांक के उपरान्त ही।

प्रियसुहृद्—अस्तु, हमारा कहना है कि संविधानक की अपूर्वता 'मृच्छकटिक' के 'चारुदत्त' मे ही नही बहुत कुछ उसके 'आर्यक' में भी है। चारुदत्त और वसन्तसेना का 'सत्सुरतोत्सव' तो 'दरिद्रचारुदत्त' मे भी प्राप्त था। उसको लेकर 'मृच्छकटिक' को यह अभिमान कैसे हो सकता है? हाँ! सोचने की बात है कि आर्यचारुदत्त प्रकरण के अंत में साहसी शर्विलक से कहता क्यो है—

प्राप्ता भूयः प्रियेयं प्रियसुहृदि भवान्संगतो मे वयस्यो
लभ्यं किं चातिरिक्तं यदपरमधुना प्रार्थयेऽहं भवन्तम्॥

सच पूछिये तो सारे रहस्य की कुंजी धरी है इसी 'प्रियसुहृदि भवान्संगतो मे वयस्यः' में। 'इयं प्रिया भूयः प्राप्ता' को तो हम भास की देन कह सकते हैं; किन्तु क्या 'प्रियसुहृदि संगतः भवान् मे वयस्यः'की भी स्थिति यही है? प्रस्तुत प्रकरण के आधार पर निर्द्वन्द्व भाव से कहा जा सकता है—नहीं। नहीं क्यों? इसीलिए कि 'दरिद्रचारुदत्ते' में उसका विधान नही। मृच्छकटिक की सफलता इसी 'संगति' और इसी मित्रता में है। इसमें 'आर्यक' के कारण आर्यचारुदत्त और साहसी शर्विलक में मित्रता जुटी है। तभी तो चारुदत्त सरलता से कह जाता है—

प्रियसुहृदि भवान्संगतो मे वयस्यः।

अर्थात्—भवान् प्रियसुहृदि संगतः मे वयस्यः।

तो क्या इससे यह नही निष्कर्ष निकलता कि वास्तव में मृच्छकटिक की सफलता इसी त्रयी—'चारुदत्त, आर्यक और शर्विलक' के संविधान मे है ? इसी को चाहें तो हम कह सकते हैं 'शील', 'शौर्य' और 'साहस' के योग के बिना कल्याण नही। 'श्री' की प्राप्ति केवल 'शील' से नहीं होती। शत्रु के नाश के निमित्त 'शौर्य' और 'साहस' की भी आवश्यकता पड़ती है।

शूद्रक की सूझ—तो फिर 'आधिकारिक' के साथ 'प्रासंगिक' का मेल होना ही चाहिए, अन्यथा संविधानक कैसा ? सो 'चारुदत्त' के चतुर्थ अंक के अंत मे देखा गया है कि जहाँ एक ओर मदनिका सज्जलक के साथ विदा होती है वहीं गणिका वसन्तसेना भी अपने प्रिय चारुदत्त के पास अभिसरण करती है। किन्तु मृच्छकटिक मे ऐसा नही होता। यहाँ मदनिका का जाना हुआ नही कि गणिका के द्वार पर विदूषक आ धमका और इस प्रकार कुछ और ही प्रसंग छिड़ गया। कथावस्तु की दृष्टि से तो इसका उतना महत्त्व नही। कवि यदि चाहता तो वसन्तसेना के प्रासाद के विषय में विदूषक से इतना ही कहलाकर कथा को चलता करता कि—

एवं वसन्तसेनाया बहुवृत्तान्तमष्टप्रकोष्ठं भवनं प्रेक्ष्य यत्सत्यं जानामि एकस्थमिव त्रिविष्टपं दृष्टम्। प्रशंसितुं नास्ति मे वाग्विभवः।

किन्तु उसने ऐसा नहीं किया और एक एक प्रकोष्ठ का पूरा परिचय दिया। कारण समय पर आपही व्यक्त होगा। यहाँ बताना इतना भर है कि यही 'भास' और 'शूद्रक' की परख है। भास ने तो 'गणिका' के अलंकार से मदनिका को अलंकृत कर दिया किन्तु शूद्रक ने ऐसा नही किया। उसने इसी अलंकार से 'मृच्छकटिका' का काम लिया और अंत मे चारुदत्त के विनाश का इसी को बीज बना दिया। बात यह है कि 'दरिद्रचारुदत्त' में मदनिका के कहने से सज्जलक इसे गणिका को देने जाता है और वहाँ परिलक्षित हो जाता है। गणिका स्पष्ट कहती है—

अहं जानामि तस्य गेहे साहसं कृत्वानीतोऽयमलंकारः। तस्य गुणाननुकम्पतामार्यः'।

किन्तु यहाँ यह बात नहीं होती। यहाँ तो बड़ी चातुरी से गणिका शर्विलक को बनाती और न समझने पर खुलकर अंत मे निवेदन करती है—

अहमार्यचारुदत्तेन भणिता-य इममलंकारकं समर्पयिष्यति तस्य त्वया मदनिका दातव्या। तत्स एवैतां ते ददातीत्येवमार्येणावगन्तव्यम्।

सुनना था कि शर्विलक मन ही मन समझ गया—

अये विज्ञातोऽहमनया।

[मृच्छकटिक, चतुर्थ अंक]

उधर 'सज्जलक' की भी स्थिति है—

कथं विदितोऽस्म्यनया।

[चारुदत्त, चतुर्थ अंक]

दोनों की व्यंजना में जो भेद है वही दोनों के कौशल मे भी। मृच्छकटिक का शर्विलक उधर अपनी प्रिया का अभिवादन करता है और मग्न हो चल पड़ता है परन्तु बीच ही में उसे सुनायी पड़ता है कि आर्यक घोर बन्धनागार में बद्ध हो गया। फिर क्या था, प्रिय से अलग हो मित्र के उद्धार मे लगा। रंग मे कैसा भंग पड़ा? आर्यक का यह प्रसंग किस कुशलता से कथा के बीच मे ही जोड़ दिया गया इसे आप तब तक भली भाँति नही समझ सकते जब तक इतना और भी न जान लें कि यहाँ भी 'अलंकार' के बदले 'रत्नावली' पाकर वह चेटी से यही कहती है—

चेटि गृहाणैतमलंकारम्। चारुदत्तमभिरन्तुं गच्छामः।

और फलतः चेटी भी वही बाधा दिखाती है—

आर्ये! पश्य पश्य। उन्नमत्यकालदुर्दिनम्।

प्रसंग पर ध्यान देने तथा रचनाओं को तौल लेने से पता चलता है कि मृच्छकटिक का कवि 'दरिद्रचारुदत्त' को ही अपने साँचे में ढाल रहा है और इस प्रकार उसकी सहायता से अपने इष्ट के पोषण में लीन है। इससे पहले भी उसने 'आर्यक' को हमारी दृष्टि में ला दिया है। मृच्छकटिक की यह योजना ध्यान देने के योग्य है। दर्दुरक का कहना है—

प्रधानसभिको माथुरो मया विरोधितः। तन्नात्र युज्यते स्थातुम्। कथितं च मम प्रियवयस्येन शर्विलकेन यथा किल आर्यकनामा गोपालदारकः सिद्धादेशेन समादिष्टो राजा भविष्यति इति। सर्वश्चास्मद्विधो जनस्तमनुसरति। तदहमपि तत्समीपमेव गच्छामि।

[मृच्छकटिक, अंक २; १३ प०]

क्रांति की योजना—इससे पाया गया कि 'आर्यक' को राजा बनाने का प्रयत्न पहले से भी चल रहा था और शर्विलक ही इसका नेता था। जान लें, इसे भी भली भाँति जान ले कि यह 'दर्दुरक' भी शूद्रक की देन है। है 'चारुदत्त' में भी 'संवाहक' का प्रसंग है और है उसमें भी 'द्यूत' का उल्लेख। किन्तु अल्प, बहुत थोड़ा। उसमे सीधे से 'संवाहक' कह देता है—

आर्ये! शरणागतोऽस्मि।

किन्तु यहाँ 'नेपथ्य' में सुन पड़ता है—

अरे भट्टारक दशसुवर्णस्य रुद्धो द्यूतकरः प्रपलायितः प्रपलायितः। तद्गृहाण गृहाण। तिष्ठ तिष्ठ, दूरात्प्रदृष्टोऽसि।

शूद्रक ने संवाहक के प्रसंग मे 'दर्दुरक' को यों ही नही ला दिया है। नहीं, उसके द्वारा उन्होंने अपनी सारी योजना व्यक्त कर दी है और यह प्रकट दिखा दिया है कि शर्विलक का यह प्रिय वयस्य किस प्रकार उज्जयिनी में अपना काम कर रहा है। हाँ, उसी का उल्लास है—

भो द्यूतं हि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यम्।

किन्तु इससे होता क्या है। क्या चोर शर्विलक और जुआड़ी दर्दुरक को शूद्रक ने कुछ और ही नहीं बना दिया है? दर्दुरक का भी तो अभिमान है—

कि भवानाह—अयं द्यूतकरः सभिकेन खलीक्रियते न कश्चिन्मोचयति इति। नन्वयं दर्दुरो मोचयति।

इतना ही नहीं, अपि तु उसका यहाँ तक कहना है—

अरे मूर्ख! अहं त्वया मार्गगत एव ताडितः। श्वो यदि राजकुले ताडयिष्यसि तदा द्रक्ष्यसि। [मृच्छकटिक, अंक २]

तो क्या इतना और भी यहाँ कह जाना ठीक न होगा कि दर्दुरक शर्विलक का निरा मित्र ही नहीं अपितु उसी कैंडे का जीव भी है? संवाहक आर्य चारुदत्त का संवाहक ठहरा और दर्दुरक शर्विलक का साथी। फिर शकार-सभिक की भी कुछ गति बने तो संविधान की विधि बैठे। उज्जयिनी का 'प्रधान सभिक माथुर' कितना क्रूर था इसे आप 'शकार' के साथ देखें और 'संस्थानक' तथा 'सभिक' की आँख से 'शासक' को भी आँक लें। सूत्रधार ने क्रुद्ध कर नटी से प्रारम्भ में कहा भी तो था कि कब उसके घर में फूट डालने वाले अथवा कुछ अन्यथा पाठ पढ़ानेवाले जूर्ण वृद्ध की घोर दुर्गति राजा पालक के द्वारा देखने को मिलेगी? सब का सार यह कि मूल प्रकरण में यह प्रसंग बडी कुशलता से जोड़ा गया है और इसके द्वारा उस समय के देशकाल को भी बहुत कुछ व्यक्त किया गया है।

दैवयोग—हाँ, तो वसन्तसेना ने बड़ी दृढता से चेटी से कहा था—

उदयन्तु नाम मेघा भवतु निशा वर्षमविरतं पततु।
गणयामि नैव सर्वं दयिताभिमुखेन हृदयेन ॥३३॥४॥

और फलतः किया भी ऐसा ही। चारुदत्त के पास पहुँची तो विनोद की सूझी और फूल से ताड़ती हुई बोल पडी—

अयि द्यूतकर! अपि सुखस्ते प्रदोषः?

प्रिय ने भी खिलकर समाधान किया—

अयि प्रिये!

सदा प्रदोषो मम याति जाग्रतः,
सदा च मे निश्वसतो गता निशा।
त्वया समेतस्य विशाललोचने,
ममाद्य शोकान्तकरः प्रदोषकः ॥३७॥५॥

'प्रदोष' सुख से बीता तो 'प्रभात' ने कुछ और ही रंग दिखाया। वसन्तसेना ने प्रतिबुद्ध हो सुख से पूछा—

चेटि! कुतः पुनर्युष्माकं द्यूतकरः।

और इस 'द्यूतकर' की योजना के अनुसार आगे बढी तो भाग्यवश शकार के पंजे मे जा पड़ी। 'प्रवहण विपर्यय' से भाग्य विपर्यय हो गया। किन्तु हुआ इसी विपर्यय मे आर्यक तथा चारुदत्त का साक्षात्कार भी। वसन्तसेना का बध! आर्यक का उद्धार! यही तो इस विपर्यय का परिणाम है। तो क्या व्यष्टि के बलिदान में समष्टि का कल्याण छिपा है? आर्यक ने रो कर कहा भी था—

> भाग्यानि मे यदि तदा मम कोऽपराधो
> यद्वन्यनाग इव संयमितोऽस्मि तेन।
> दैवी च सिद्धिरपि लंघयितुं न शक्या—
> गम्यो नृपो बलवता सह को विरोधः ॥२॥६॥

किन्तु 'भाग्य', 'दैव' और शूद्रक के 'संविधान' ने दिखा दिया कि बिना किसी नरसंहार के पालक का अंत हो गया और आर्यक के साथ ही आर्य चारुदत्त का भी उदय हुआ। आर्यक चिन्ता मे था—

> भवेद्गोष्ठीयानं न च विषमशीलैरधिगतं,
> वधूसयानं वा तदभिगमनोपस्थितमिदम्।
> वहिर्नेतव्यं वा प्रवरजनयोग्यं विधिवशा—
> द्विविक्तत्वाच्छून्यं मम खलु भवेद्दैवविहितम् ॥४॥६॥

इसी दैवविहित प्रवहण के मर्म को समझाने के विचार से शूद्रक ने 'दरिद्र-चारुदत्त' को 'मृच्छकटिक' मे परिणत कर दिया है और भास के हास को अंजन लगा दिया है। कहिये, है न इसी से यह अद्भुत सविधानक?

भवितव्यता—'मृच्छकटिक' के संविधानक की बड़ी विशेषता यह है कि उसका नायक विवश है। विवशतावश ही उसका सारा व्यापार चल रहा है। प्रकरण के संविधान पर ध्यान दें तथा उसके प्रत्येक अंक की मीमांसा में लगें तो अवगत हो कि सारे संविधानक में चारुदत्त का शील ही मुख्य है। उसके नाम से जो काम होता है वह उसके काम से नहीं। कदाचित् यही कारण है कि किसी भी अंक में उसकी प्रधानता नहीं। सौभाग्य की बात है कि मृच्छकटिक के अङ्को के नाम उसी में प्राप्त हैं। अतएव हमें पहले उन्हीं को प्रमाण में लाना है। अच्छा तो उनका निर्देश है—

१—अलंकारन्यास, (२) द्यूतकरसंवाहक, (३) सन्धिच्छेद, (४) मदनिका-शर्विलक, (५) दुर्दिन, (६) प्रवहणविपर्यय, (७) आर्यकापहरण, (८) वसन्त-सेनामोटन, (९) व्यवहार, तथा (१०) संहार।

यदि पात्रों की दृष्टि से देखा जाय तो 'संवाहक', 'मदनिका', 'शर्विलक', 'आर्यक' और 'वसन्तसेना' के नाम अवश्य ही इस नामकरण में दिखाई पड जाते हैं अन्यथा हैं सभी गौण ही। कारण यही कि यह वास्तव में 'भवितव्यता' प्रधान नाटक है और घटना ही इसमें मुख्य है। इसका अर्थ यह निकला कि इसके संविधान की उपेक्षा हो नहीं सकती और इसके संविधानक में मूँड मारना ही होगा। सो लीजिए, इस संविधानक के वास्तव में दो खंड हैं जिन्हें हम क्रम से 'न्यास' और 'विपर्यय' खंड कह सकते हैं। 'न्यास खंड' का पर्यवसान होता है 'दुर्दिन' के संभोग में तो 'विपर्यय खंड' का उपसंहार होता है 'संहार' के लोक कल्याण में। निश्चय ही 'उपकारहत' ही मृच्छकटिक का ध्येय है। 'शर्विलक' सब कुछ मान लेता है, पर 'शकार' को क्षमा करना नहीं चाहता। उधर 'आर्यचारुदत्त' सब कुछ छोड़ सकता है, पर अपनी आर्यता को नहीं छोड़ सकता। फलतः प्रकरण के अंत मे उसी की प्रतिष्ठा होती है। देखिये न शर्विलक कहता है—

एवं यथाहार्यः। परमेनं मुंच मुंच। व्यापादयामि।

'आर्य' समाधान करता है—

अभयं शरणागतस्य।

कारण, आर्यनीति की पुकार है—

शत्रुः कृतापराधः शरणमुपेत्य पादयोः पतितः।
शस्त्रेण न हन्तव्यः उपकारहतस्तु कर्तव्यः ॥५५॥१०॥

फिर भी जो लोग 'मृच्छकटिक' को हिन्दू नहीं समझते वे क्या समझते हैं, सचमुच हम कह नहीं सकते। परन्तु हम इतना कहे बिना रह भी नहीं सकते कि तब तक उनकी समझ में 'मृच्छकटिक' आ भी नहीं सकता जब तक वे इस 'उपकारहत' को नहीं समझ लेते। उनको शर्विलक भा सकता है, पर भारत

अधीन रहा 'चारुदत्त' का ही। कारण, यह निरा 'दत्त' नहीं 'चारु' दत्त है न ? स्मरण रहे, न्यास खंड का अंत है—

> अये इन्द्रधनुः। प्रिये ! पश्य पश्य—
> विद्युज्जिह्वेनेदं महेन्द्रचापोच्छ्रितायतभुजेन
> जलधरविवृद्धहनुना विजृम्भितमिवान्तरीक्षेण ॥५१॥५॥

तदेहि। अभ्यन्तरमेव प्रविशावः।"

किन्तु क्या इस प्रकार की बाहरी विजृम्भा से भाग कर 'अभ्यन्तर' में प्रिया का चिर सुख लूटा जा सकता है ? निवेदन है—नहीं। इसी को व्यक्त करने के हेतु तो 'विपर्यय' का विधान हुआ है ? इस 'विपर्यय खंड' में 'प्रवहणविपर्यय' तो होता ही है, पर इससे पहले भी होता है एक और ही 'विपर्यय।' और वह यह कि 'न्यास' 'दान' में बदल जाता है। और 'गणिका' 'माता' बन जाती है। भूला न होगा किसी को वसन्तसेना का यह कहना—

एपेदानी ते जननी संवृत्ता। तद्गृहाणैतमलंकारम्। सौवर्णशकटिकां कारय।

'जननी' वसन्तसेना अपनी करनी से बनी और यहाँ तक बनी कि इसी से रीझ कर राजा ने उसे 'वधू' का बाना दे दिया। शर्विलक ने कहा भी है—

आर्ये वसन्तसेने ! परितुष्टो राजा भवतीं वधूशब्देनानुगृह्णाति।

कितना महँगा पड़ा यह 'वधू शब्द' एक सुघर 'गणिका' के लिये। किन्तु भाग्य का फेर तो देखिये कि जो अलंकार न्यास के रूप में रख दिया गया था उसकी चोरी से शर्विलक का घर बसा तथा गणिका मदनिका को 'अवगुण्ठन' वा वधूपद मिला, और इस प्रकार जो 'सौवर्णशकटिका' के निमित्त दान कर दिया वही जनक चारुदत्त की शूली का कारण बना। सच है होनहार को कौन रोक सकता है। शकार वसन्तसेना के हेतु क्या नहीं करता, पर कभी वह उसको भर आँख देखती भी नहीं और पीछा किये जाने पर पूछती भी है किस भोले भाव से—

> आर्य ! अस्मात्किमप्यलंकरणं तर्क्यते।

[अंक १, ३० प०]

विट निवेदन करता है—

भवति वसन्तसेने ! न पुष्पमोषमर्हत्युद्यानलता । तत्कृतमलंकरणैः ।

विधि की विडम्बना तो देखिये कि 'उद्यान' में ही इस 'उद्यानलता' का गला घुटा और 'अलंकार' ही उसके प्रिय के विनाश का कारण बना । सच कहिये कैसा संविधानक रहा ? कहाँ क्या से क्या हो गया ?

उलझन—कतिपय आलोचकों का मत है कि प्रकरण का संविधानक गठा नही रहा; स्थल स्थल पर प्रायः वह ढीला हो गया है । कारण उनकी समझ में कुछ भी हो, पर वास्तव में स्थिति भी यही है क्या ? कहते हैं कि वस्तुतः इस प्रकरण में दो रूपको की सामग्री है । उनको एक में नाथ देने से बात बिगड गई । हो सकता है । अपनी अपनी दृष्टि ठहरी । परंतु देखना तो हमें यह है न कि इस प्रकरण की प्रकृति कैसी ठहरी ? आगे की कौन कहे, प्रथम अंक के ही इस कथन को लीजिये और कृपया गाँठ रखिये कि यह शकार की चेतावनी है । यह विदूषक से किस आन के साथ कहता है—

अरे दुष्ट बटुक ! भणिष्यसि मम वचनेन तं दरिद्रचारुदत्तकम्—एषा ससुवर्णा सहिरण्या नवनाटकदर्शनोत्थिता सूत्रधारीव वसन्तसेना नाम गणिकादारिका कामदेवायतनोद्यानात्प्रभृति त्वामनुरक्तास्माभिर्बलात्कारानुनीयमाना तव गेहं प्रविष्टा । तद्यदि मम हस्ते स्वयमेव प्रस्थाप्यैनां समर्पयसि ततोऽधिकरणे व्यवहारं विना लघु निर्यातयतस्तव मयानुबद्धा प्रीतिर्भविष्यति । अथवाऽनिर्यातयतो मरणान्तिकं वैरं भविष्यति ।

शकार की यह वार्ता जब चारुदत्त के कान में पड़ती है तब वह उसकी अवज्ञा करता है और वसन्तसेना की चिन्ता में मग्न रहता है । उस समय उसकी स्थिति होती है—

चारुदत्तः—(सावज्ञम्) अज्ञोऽसौ । (स्वगतम्) अये कथं देवतोपस्थानयोग्या युवतिरियम् । तेन खलु तस्यां वेलायाम्—

प्रविश गृहमिति प्रतोद्यमाना न चलति भाग्यकृतां दशामवेक्ष्य ।
पुरुषपरिचयेन च प्रगल्भं न वदति यद्यपि भाषते बहूनि ॥५६॥१॥

'मरणान्तिक वैर' के प्रति चारुदत्त की यह अवज्ञा सचमुच उसके 'मरण' का कारण बनी। भाग्य से दूसरे या तीसरे ही दिन उसे, यह 'गणिकादारिका' कहीं प्राप्त हो जाती तो क्या होता। प्रयत्न में तो वह पहले से था ही। चारुदत्त का परिचय तो अभी कल का था। उसका अधिकार इस 'गणिकादारिका' पर इसलिये और भी अधिक था कि उसकी माता उसे इसी के साथ ब्याहना चाहती थी। प्रतीत होता है, यह इसी प्रपंच का परिणाम है कि संस्थानक वसन्तसेना के पीछे पड़ जाता है और उसे अपने घर बुला कर अपनी कामना पूरी करना चाहता है। परिस्थिति अब यह है—

प्रथमा चेटी—(उपसृत्य) आर्ये माताज्ञापयति—गृहीतावगुंठनं पक्षद्वारे सज्जं प्रवहणम्। तद्गच्छ इति।

वसन्तसेना—चेटि ! किमार्यचारुदत्तो मां नेष्यति ?

चेटी—आर्ये ! येन प्रवहणेन सह सुवर्णदशासाहस्रिकोऽलंकारोऽनुप्रेषितः।

वसन्तसेना—कः पुनः सः ?

चेटी—एष एव राजश्यालः संस्थानकः।

वसन्तसेना—(सक्रोधम्) अपेहि मा पुनरेवं भणिष्यसि।

चेटी—प्रसीदतु प्रसीदत्वार्या। सन्देशेनास्मि प्रेपिता।

वसन्तसेना—अहं सन्देशस्यैव कुप्यामि।

चेटी—तत्किमिति मातरं विज्ञापयिष्यामि।

वसन्तसेना—एवं विज्ञापयितव्या-यदि मां जीवन्तीमिच्छसि तदेवं न पुनरहं मात्राज्ञापयितव्या।

[अंक ४, आरम्भ]

राजश्याल संस्थानक के प्रति वसन्तसेना का जो भाव है वह भला उसे कब सह्य हो सकता है। सच तो यह है कि वास्तव में मृच्छकटिक में दोहरा संघर्ष है। एक तो 'चारुदत्त' और 'शकार' का तथा दूसरा 'पालक' और 'आर्यक' का; किन्तु कहने को ही यह दो हैं। नहीं तो वास्तविक तो यह है कि राजवर्ग एक ओर है और प्रजावर्ग है दूसरी ओर। राजश्याल शकार प्रकट और स्वयं राजा प्रच्छन्न है।

'श्याला' के कार्य ही बताते हैं कि शासन कैसा चल रहा है। और संघर्ष है भी किस लिए? वसुधा और वसन्तसेना के लिए ही न? पृथ्वी की रक्षा कौन करे और कौन करे स्त्री का सत्कार भी! भोग के लिए तो पालक भी आतुर है और आतुर है राष्ट्रिय शकार भी। पर है किसी को इनमें भूमि और भार्या की चिन्ता! निदान कहना ही पड़ता है कि इस 'नवसंविधानक' को देखना चाहिए नायक और प्रतिनायक की दृष्टि से। यदि प्रतिनायक की दृष्टि प्रधान न होती और नायिका ही सब कुछ समझ ली जाती तो प्रकरण के 'संहार' में चारुदत्त से क्यों कहा जाता—

प्रतिष्ठितमात्रेण तव सुहृदार्यकेणोज्जयिन्यां वेणातटे कुशावत्यां राज्यमतिसृष्टम्। तत्प्रतिमान्यतां प्रथमः सुहृत्प्रणयः।

[अंक १०]

मृच्छकटिक में चारुदत्त को 'गणिका' ही नहीं मिलती। नहीं उसी के साथ 'कुशावती' का राज्य भी मिल जाता है। वह धरनी और घरनी से परिपूर्ण हो जाता है। शर्विलक और कुछ नहीं अपने जीवन में केवल यही करता है कि गण तथा गणिका को धर्षण से बचाना और नर-नारी को सुशासित कर दिखाता है। चारुदत्त के प्रसाद से इसी से 'राष्ट्रियशठ' भी उपकारहत हो अपने पद पर बना रहता है। सचमुच अनुपम है यह संविधानक।

द्वन्द्व—मृच्छकटिक को केवल नायक-नायिका का खेल समझना ठीक नहीं। कारण उसका सूत्रपात होता है—

चारुदत्तः—वयस्य दारिद्र्यं हि पुरुषस्य—
निवासश्चिन्तायाः परपरिभवो वैरमपरं
जुगुप्सा मित्राणां स्वजनजनविद्वेषकरणम्।
वनं गन्तुं बुद्धिर्भवति च कलत्रात्परिभवो
हृदिस्थः शोकाग्निर्न च दहति सन्तापयति च॥१५॥

तद्वयस्य कृतो मया गृहदेवताभ्यो बलिः। गच्छ। त्वमपि चतुष्पथे मातृभ्यो बलिमुपहर।

विदूषकः—न गमिष्यामि।

चारुदत्तः—किमर्थम्।

विदूषकः—यत एवं पूज्यमाना अपि देवता न ते प्रसीदन्ति तत्को गुणो देवेष्वर्चितेषु ।

चारुदत्तः—वयस्य मा मैवम् । गृहस्थस्य नित्योऽयं विधिः ।

तपसा मनसा वाग्भिः पूजिता बलिकर्मभिः ।
तुष्यन्ति शमिनां नित्यं देवताः किं विचारितैः ॥१६॥

तद्गच्छ । मातृभ्यो बलिमुपहर ।

विदूषकः—भोः न गमिष्यामि । अन्यः कोऽपि प्रयुज्यताम् । मम पुनर्ब्राह्मणस्य सर्वमेव विपरीत परिणमति । आदर्शगतेव छाया वामतो दक्षिणा दक्षिणातो वामा । अन्यच्चैतस्यां प्रदोषवेलायामिह राजमार्गे गणिका विटाश्चेटा राजवल्लभाश्च पुरुषाः संचरन्ति । तस्मान्मण्डूकलुब्धस्य कालसर्पस्य मूषिक इवाभिमुखपतितो वध्य इदानीं भविष्यामि । त्वमिहोपविष्टः कि करिष्यसि ?

सच पूछिये तो यही मृच्छकटिक का सार है । इसी के उपरान्त 'विट' वसन्तसेना से कहता है—

वसन्तसेने ! तिष्ठ तिष्ठ ।
कि त्वं भयेन परिवर्तितसौकुमार्या
नृत्यप्रयोगविशदौ चरणौ क्षिपन्ती ।
उद्विग्नचंचलकटाक्षविसृष्टदृष्टि-
र्व्याधानुसारचकिता हरिणीव यासि ॥१७॥१॥

भाव यह कि मृच्छकटिक में 'प्रणय' का नहीं 'प्राप्ति' का द्वन्द्व है और इसी द्वन्द्व को मुखर कर दिखाना उसके कवि का काम । चारुदत्त और शकार का द्वन्द्व जितना प्रखर है उतना चारुदत्त और वसन्तसेना का लगाव नहीं । यही कारण है कि यह प्रकरण प्रेम का प्रलाप नहीं जीवन का अंग हो गया है और उस समय के जीवन का दर्पण सा बन गया है । निश्चय ही मृच्छकटिक का ध्येय निराला है । उसको थोड़े में प्रकरण के भीतर बहुत कुछ कह जाना है । कदाचित् यही कारण है कि उसका संविधानक भी ऐसा बन गया है । अन्यथा 'वस्तु' और 'नायक' की दृष्टि से उसका इतना विस्तार कहाँ ? 'हाँ 'रस' की दृष्टि से चाहे जो कह लें ।

स्थिति—विचारने की बात है कि मृच्छकटिक में विस्तार वा विवरण का यह विधान क्यों ? थोडे में क्या प्रकरण का कार्य नही सध सकता था ? निवेदन है उसका कार्य ही कुछ अपूर्व है। स्मरण रहे उसका कार्य यदि चारुदत्त और वसंतसेना का प्रणय होता तो उसकी स्थिति भी कुछ और होती और होता उसका संविधान भी कुछ और ही। परंतु नहीं, पाठक भली भाँति जानता है कि मृच्छकटिक में प्रधानता है चरित्र की। 'चारित्रशुद्धि' का ऐसा रूपक है कहीं अन्यत्र भी ? स्मरण रहे, नायक चारुदत्त का विषाद है—

> सत्यं न मे विभवनाशकृतास्ति चिन्ता,
> भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति।
> एतत्तु मां दहति नष्टधनाश्रयस्य
> यत्सौहृदादपि जनाः शिथिलीभवन्ति ॥१३॥१॥

स्थिति तो यही है, पर 'शील' और 'चरित्र' का विभव तो देखिये कि 'नगरश्री' वसन्तसेना इसी 'सौहृद' का परिचय देती, और अपने चरित्र के कारण 'गणिका' से 'वधू' बन जाती है। उसकी धारणा है—

दरिद्रपुरुषसंक्रान्तमनाः खलु गणिका लोकेऽवचनीया भवति।

और शकार का अभिमान है—

> अहं वरपुरुषमनुष्यो वासुदेवः कामयितव्यः।

फलतः शकार का पतन और गणिका का उद्धार होता है। किसी राष्ट्रिय राजश्यालक में यह अकड़ कहाँ से आ जाती और अपना क्या करतब दिखाती है, यह इसी संविधानक से भली भाँति जाना जाता है, यही इसका महत्त्व भी है।

उद्देश्य—संविधानक की इतनी विवेचना के अन्तर भी यह कहना शेष ही रह गया कि वास्तव में यह है किसका संविधान। इसमें तो संदेह नहीं कि इस संविधानक के मूल में है दरिद्र चारुदत्त का ही संविधान। शूद्रक ने भास के चारुदत्त को लिया अथवा भास ने शूद्रक के चारुदत्त को, इसकी मीमांसा भी कुछ जहाँ तहाँ देखने को मिल जायगी और कही कहीं यह भी पढ़ने को मिल जायगा कि वास्तव में दोनों का आधार कोई और ही चारुदत्त है। हम इस उलझन को यहाँ नहीं लेते और सीधी भाषा मे सीधे से कह देते है कि हमारी समझ में

'चारुदत्त' का ही परिष्कृत रूप है 'मृच्छकटिक'। किसी शूद्रक को इस परिष्कार की आवश्यकता क्यों पड़ी, इसको जान लेना भी कुछ विकट नहीं। सूत्रधार ने 'आमुख' में ही इसे स्पष्ट कर दिया है। उसके 'चकार सर्वं किल शूद्रको नृपः' की व्याप्ति कितनी है। शूद्रक ने परिष्कार और परिवर्द्धन का काम किस न्याय से किया, इसका भी संकेत यहाँ है ही। उदाहरण के लिए एक श्लोक लीजिए। 'चारुदत्त' में पाया जाता है—

दारिद्र्यात् पुरुषस्य बान्धवजनो वाक्ये न सन्तिष्ठते,
सत्त्वं हास्यमुपैति शीलशशिनः कान्तिः परिम्लायते।
निर्वैरा विमुखीभवन्ति सुहृदः स्फीता भवन्त्यापदः,
पापं कर्म च यत् परैरपि कृतं तत्तस्य सम्भाव्यते ॥६॥१॥

और 'मृच्छकटिक' में कहा गया है—

दारिद्र्यात् पुरुषस्य बान्धवजनो वाक्ये न सन्तिष्ठते,
सुस्निग्धा विमुखीभवन्ति सुहृदः स्फारीभवन्त्यापदः।
सत्त्वं ह्रासमुपैति शीलशशिनः कान्तिः परिम्लायते
पापं कर्म च यत्परैरपि कृतं तत्तस्य संभाव्यते ॥३६॥१॥

निश्चय ही 'निर्वैरा' को 'सुस्निग्धा', 'स्फीता' को 'स्फारी' एवं हास्य को 'ह्रास' में परिणत कर कुछ परिष्कार का ही परिचय दिया गया है, और द्वितीय को तृतीय तथा तृतीय को द्वितीय चरण में लाकर कुछ विचार-क्रम को ठीक करने का उद्योग किया गया है। साथ ही इसके आगे और इतना भी कहा गया है—

संगं नैव हि कश्चिदस्य कुरुते संभाषते नादरा-
त्संप्राप्तो गृहमुत्सवेषु धनिनां सावज्ञमालोक्यते।
दूरादेव महाजनस्य विहरत्यल्पच्छदो लज्जया,
मन्ये निर्धनता प्रकाममपरं षष्ठं महापातकम् ॥३७॥१॥

अपि च

दारिद्र्य शोचामि भवन्तमेवमस्मच्छरीरे सुहृदित्युषित्वा।
विपन्नदेहे मयि मन्दभाग्ये ममेति चिन्ता क गमिष्यसि त्वम् ॥३८॥१॥

संस्करण—कथा की दृष्टि से इन दोनो श्लोकों का कोई महत्त्व नहीं, पर 'शील' की दृष्टि से इनका कुछ महत्त्व है। 'क्व गमिष्यसि त्वम्' में बात गहरी कही गयी है, पर 'षष्ठं महापातकम्' में कोई ऐसी बात नही जिससे 'प्रकरण' का मुँह खुले। इसी से हमारा कहना है कि वास्तव में इस संविधानक मे 'नाट्य'ही नहीं काव्य भी है और कही कहीं विस्तार के कारण काव्य ही मुखर हो उठा है। बहुत विचारने से जान पड़ता है कि वास्तव मे इस प्रकरण के तीन सस्करण हुए हैं और तीसरा सस्करण ही आज वर्तमान रूप में विराजमान है। पहला रूप तो कहा जा सकता है कि 'चारुदत्त' के रूप में कुछ प्रकट हो गया है और तीसरा रूप वर्तमान 'मृच्छकटिक' का है ही। इसका दूसरा रूप क्या रहा, ठीक ठीक नही कहा जा सकता; पर परिस्थिति के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि वह 'आर्यक' को लेकर बना होगा और इस प्रकार के अति विस्तार से अलग रहा होगा। विचार के लिए वसंतसेना के घर को लीजिये। उसके 'बहु-वृत्तान्तमष्टप्रकोष्ठं भवन' से नाट्य का क्या हित होता है? हाँ, उससे उस समय के विभव की एक झाँकी मिल जाती है और किसी गणिका का सुखी जीवन भी सामने आ जाता है। परन्तु उसमें 'वृत्त' की उत्सुकता मारी जाती है और हम काव्य जगत् का आनंद लेने लगते है। इसी से हमारा कहना है कि यह रूप प्रकरण को सचमुच तब मिला है जब यह निरा नाटक न रहकर प्रतिनिधि काव्य बन गया है और 'दृश्य' तथा 'श्रव्य' के भेद को सामने न रखकर इसने जीवनको काव्य का विषय बना दिया और इसके भीतर जीवन के व्यापक रूप को समेटने का प्रयत्न किया इसी से तो इसके सूत्रधार ने स्पष्ट कहा भी है कि—

तयोरिदं सत्सुरतोत्सवाश्रयं नयप्रचारं व्यवहारदुष्टताम्।
खलस्वभावं भवितव्यतां तथा चकार सर्वं किल शूद्रको नृपः॥७॥१॥

घटना काल—सारांश यह कि आर्यचारुदत्त और गणिका वसन्तसेना के प्रेम के बहाने से इसमें दिखा दिया गया—१—नयप्रचार, २—व्यवहारदुष्टता, ३—खलस्वभाव, तथा ४—भवितव्यता। अतएव इसमें आ गया है उस समय का पूरा जीवन, जिसे देखने को चाहिये अतीत की आँख। मृच्छकटिक के संविधानक के प्रसंग में इतना और जान लेना चाहिए कि वास्तव में इसका घटना-क्षेत्र कहाँ रहा है और इसके घटने में कुल काल लगा कितना है। सो प्रथम के सबंध में

तो विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। सभी जानते हैं कि 'उज्जयिनी' और 'उद्यान' ही इनकी क्रीडा-भूमि हैं। हाँ, द्वितीय के विषय में यहाँ कुछ अवश्य कहना है। कह तो नहीं सकते, किन्तु कहने को पर्याप्त साधन प्राप्त हैं कि प्रकरण का प्रारम्भ होता है 'रत्नषष्ठी' के दिन ही। सबसे पहले नटी और सूत्र-धार के प्रसंग को लीजिए—

सूत्रधारः—अयमुपवासः केन तवोपदिष्टः ?
नटी—आर्यस्यैव प्रियवयस्येन जूर्णवृद्धेन।

अतएव कहा जा सकता है कि नटी के 'अभिरूपपतिर्नाम' उपवास में 'जूर्ण-वृद्ध' का हाथ है। उधर हम विदूषक के मुँह से भी सुनते हैं—

एष चार्यचारुदत्तस्य प्रियवयस्येन जूर्णवृद्धेन जातीकुसुमवासितः प्रावारकोऽनुप्रेषितः सिद्धीकृतदेवकार्यस्यार्यचारुदत्तस्योपनेतव्य इति।

[अङ्क १, ६ पृ०]

कहा जा सकता है कि जब स्वयं चारुदत्त देव-पूजा को विदूषक से 'गृहस्थस्य नित्योऽयं विधिः' कहता है तब इसे विशेष महत्त्व देने का कोई कारण नहीं। निवेदन है—घटना फिर भी तो किसी विशिष्ट दिन की ही तो होगी। देखिये न—

विदूषकः—भोः, अलं परकलत्रदर्शनशंकया। एषा वसन्तसेना काम-देवायतनोद्यानात्प्रभृति भवन्तमनुरक्ता।

चारुदत्तः—इयं वसन्तसेना। (स्वगतम्)

यया मे जनितः कामः क्षीणे विभवविस्तरे।
क्रोधः कुपुरुषस्येव स्वगात्रेष्वेव सीदति ॥५५॥१॥

और यही कारण तो है कि चारुदत्त जूर्णवृद्ध के 'जातीकुसुमवासित' प्रावारक को पाकर चिन्तामग्न हो गया और विदूषक को टोकना पड़ा—

भोः किमिदं चिन्त्यते ?

कुछ भी हो, इतना तो व्यक्त ही है कि इसी दिन वसन्तसेना का 'न्यास' चारुदत्त के घर रखा गया और उसको घर पहुँचाते समय चन्द्रमा का उदय हुआ अतः इसके 'षष्ठी' होने में कोई बाधा नहीं। यहीं इतना और भी ज्ञात रहे कि नटी ने सूत्रधार से पूछने पर यह भी कहा था—

अस्मादृशजनयोग्येन ब्राह्मणेनोपनिमन्त्रितेन ।

[अंक १, आमुख]

और आर्या धूता ने भी विदूषक से यही कहा—

अहं खलु रत्नषष्ठीमुपोषितासम् । तत्र यथाविभवानुसारेण ब्राह्मणः प्रतिग्राहितव्यः । स च न प्रतिग्राहितः तत्तस्य कृते प्रतीच्छेमां रत्नमालिकाम् ।

[अंक ३, २६ प०]

अस्तु, सरलता से कहा जा सकता है कि वस्तुतः प्रकरण का प्रारम्भ होता है 'अभिरूपपति' के उपवास के दिन ही । वसन्तसेना का स्वागत भी इसी दिन होता है । वसन्तसेना घर पहुँच कर जिस दशा में पहुँच जाती है उसका अंकन द्वितीय अंक में हुआ है । घटना-स्थल तो स्पष्ट है, पर दिन का स्पष्ट उल्लेख नहीं । हाँ, समय प्रातःकाल का माना जा सकता है—

आर्ये ! मातादिशति-स्नाताभूत्वा देवतानां पूजां निवर्तय इति ।

[अंक २, आरम्भ]

यहीं यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वसन्तसेना सहसा अभिसरण क्यों नही करती । वह कहती है—

चेटि ! सहसाभिसार्यमाणः प्रत्युपकारदुर्बलतया मा तावत् जनो दुर्लभदर्शनः पुनर्भविष्यति ।

[अंक २, १ पू०]

हाँ, तृतीय अंक अवश्य ही दूसरे पक्ष मे घटता है । यह कृष्ण नहीं शुक्ल पक्ष है—

विदूषकः—भो वयस्य आपणान्तररथ्याविभागेषु सुखं कुक्कुरा अपि सुप्ताः । तद्गृहं गच्छावः (अग्रतोऽवलोक्य) वयस्य ! पश्य पश्य । एषोऽप्यन्धकारस्येवावकाशं ददन्तरिक्षप्रसादादवतरति भगवांश्चन्द्रः ।

[अंक ३, ५ प०]

तथा—

(नभोऽवलोक्य सहर्षम्) अये ! कथमस्तमुपगच्छति स भगवान्मृगांकः ।

[अंक ३, ६ प०]

और इसकी इति होती है—

चारुदत्तः—तद्गच्छतु भवान् । अहमपि कृतशौचः सन्ध्यामुपासे ।

प्रातःकाल में ।

चतुर्थ अंक की घटना इसी 'प्रातःकाल' की है और सायंकाल की घटना है पंचम अंक में, कुछ रात्रि तक । कह सकते हैं—रात्रिभर । वसन्तसेना की रात्रि वहीं कटती है न ? दूसरे दिन मध्याह्न तक षष्ठ, सप्तम और अष्टम अंक की घटनाएँ घट जाती हैं । इसमें कोई विवाद नहीं । नवम और दशम अंक की घटनाएँ घटती हैं तीसरे दिन । अर्थात् कुल समय तीन सप्ताह से अधिक नहीं लगता । वीरक आपही सोचता है—

पादप्रहारपरिभवविमाननाबद्धगुरुकवैरस्य ।
अनुशोचत इयं कथमपि रात्रिः प्रभाता मे ॥२३॥९॥

तद्यावदधिकरणमण्डपमुपसर्पामि ।

जिससे सिद्ध है कि यह घटना प्रवहण निरीक्षण के दूसरे दिन की है ।

घटना-स्थल—घटनास्थल में एक ही स्थल ऐसा है जिसका उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है । चन्दनक दूर ही से पुकार कर कहता है—

किं न पश्यत्यार्यः । महाराजप्रासादं दक्षिणेन महाञ्जनसंमर्दो वर्तते ।

[अंक १०, ५५ प०]

विचारने की बात है कि आर्या धूता 'महाराजप्रसाद' के निकट दक्षिण दिशा में अपनी सती की चिता क्यों लगाती हैं और क्यों क्रांति का प्राणी चन्दनक वहाँ पहुँच जाता है । देखिये न उधर खाट पर पड़े-पड़े पाद प्रहार से पीड़ित प्रधान तन्त्रिल सेनापति व्यवहार की सोच रहे हैं और इधर राजधानी में गुपचुप क्या-क्या हो रहा है । आर्या धूता के इस त्याग का कुछ भी प्रभाव क्या पालक पर पड़ सकता था ? जी उसका अंत तो 'यज्ञवाट' में इसके पहले ही हो चुका था । किंतु इसका पता धूता को कब था ?

अस्तु, हमने सभी प्रकार से देख लिया कि शूद्रक का यह संविधानक कितना सफल है। हाँ, कदाचित् यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब इसी के पहले दिन सायंकाल ऐसा दुर्दिन हुआ था कि आर्य चारुदत्त को प्रसन्नता के साथ विदूषक से कहना पड़ा था—

> वयस्य ! नार्हस्युपालब्धुम् ।
> वर्षशतमस्तु दुर्दिनमविरतधारं शतह्रदा स्फुरतु ।
> अस्मद्विधदुर्लभया यदहं प्रियया परिष्वक्तः ॥४८॥५॥

तब उसी दुर्दिन के दूसरे दिन ऐसा सुदिन कैसे हो गया कि पुष्पकरंडकोद्यान में शकार को विट से कहना पड़ा—

भाव कापि वेला स्थावरकचेटस्य भाणितस्य प्रवहणं गृहीत्वा लघुलघ्वागच्छ इति । अद्यापि नागच्छतीति चिरमस्मि बुभुक्षितः । मध्याह्ने न शक्यते पादाभ्यां गन्तुम् । तत्पश्य पश्य—

> नभोमध्यगतः सूर्यो दुष्प्रेक्ष्यः कुपितवानरसदृशः ।
> भूमिर्दृढसंतप्ता हतपुत्रशतेव गान्धारी ॥१०॥८॥

'शकारवचन' कह कर इसकी उपेक्षा भी नही की जा सकती । कारण, विट का भी तो कहना है—

एवमेतत्—

> छायासु प्रतिमुक्तशष्पकवलं निद्रायते गोकुलं
> तृष्णार्तैश्च निपीयते वनमृगैरुष्णं पयः सारसम् ।
> संतापादतिशंकितैर्न नगरीमार्गो नरैः सेव्यते
> तप्तां भूमिमपास्य च प्रवहणं मन्ये क्वचित्संस्थितम् ॥११॥८॥

निश्चय ही कल की वर्षा यहाँ नही हुई, अन्यथा यहाँ आज इतना ताप क्यों होता ? 'अकाल दुर्दिन' मे ऐसा असंभव भी नही ।

प्रकरण के प्रारम्भ में ही चारुदत्त ने वसन्तसेना को रदनिका समझकर कहा था—

रदनिके ! मारुताभिलाषी प्रदोषसमयशीतार्तो रोहसेनः । ततः प्रवेश्यतामभ्यन्तरमयम् । अनेन प्रावारकेण छादयैनम् ।

जिससे प्रकट होता है कि अभी प्रदोष समय वायु चलने से शीतल हो जाता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकरण का सारा समय वैशाख मास में घट जाता है और 'कामदेवायतनोद्यान' की घटना की संगति भी इससे बैठ जाती है। अतएव हो न हो, यही मास इस प्रकरण का घटनाकाल है।

पद्मप्राभृतक—'मृच्छकटिक' के अतिरिक्त शूद्रक का एक 'भाण' भी है जिसका नाम है 'पद्मप्राभृतक'। कथावस्तु तो प्रायः उसमें कुछ भी नहीं है, पर है उसमें उस समय के वेश-जीवन की पूरी झाँकी। तो भी संविधानक के इस प्रकरण में उसको छोड़ जाना ठीक नहीं। इसलिए थोड़े में कह दिया जाता है कि उसका संविधान है कर्णीपुत्र और देवसेना का प्रेमप्रपंच। एक दिन देवसेना की बहिन देवदत्ता ने अपने परिचारक पुष्पांजलिक को कर्णीपुत्र के पास भेजा जिससे पता चला कि उधर देवसेना भी उसी की भाँति सन्तप्त है। देवदत्ता उसके उपचार के उपरान्त पधारेगी। फिर क्या था, कर्णीपुत्र ने मूलदेवसख शश को दूत बनाया और उन्होंने समय काटकर उचित समय पर एकान्त में वहाँ पहुँचना ठीक समझा। समय बिताने में सबकी खबर ले ली और अन्त में नायक का काम भी पूरा कर दिया। संक्षेप मे यही है इस भाण की कथा। इसे मृच्छकटिक के साथ पढ़ने से उस समय का सारा जीवन सामने आ जाता है। इसे उसका पूरक ही समझिये।

---

४. चरित्र-चित्रण

उपोद्घात—तत्वतः देखा जाय तो मृच्छकटिक नाटक नहीं शास्त्र ठहरता है और फलतः पात्र नहीं चरित्र ही इसके सामने हैं। चरित्र-निर्माण की कला कोई शूद्रक से सीख ले। चारुदत्त, वसन्तसेना, शकार, शर्विलक और विदूषक मैत्रेय ही नही अपितु वीरक, चन्दनक, दर्दुरक, मदनिका, रदनिका और विट, चेट तथा चांडाल भी अपना शास्त्र लिये बहुत कुछ कहने को रंगमंच पर आ जमे हैं। राजा के अतिरिक्त सभी को मंच पर स्थान है। ब्राह्मण यहाँ बनिया बन गया है और वेश्या पतिव्रता। आप कहेंगे हो नही सकता। निवेदन है, शूद्रक के शास्त्र को आपने पढा कहाॅ जो ऐसा अविश्वास कर रहे है। उसके चतुर्वेदी शर्विलक को आप ने कभी देखा है? वह चोर है, गणिका प्रेमी है और है साथ ही अपने चरित्र का अभिमानी भी। शूद्रक की दृष्टि में चरित्र पोथी से नहीं बनता। नही, वह तो बनता है जीवन के सदाचार से। आज साहित्य के क्षेत्र में नित्य जो नये नये लटके चल रहे है उनका कारण है गुरुता का अभाव। अतएव आज शूद्रक को परखने की जितनी आवश्यकता है उतनी किसी भी अन्य कवि को नहीं। क्रांति क्या है और किस प्रकार सुचारु रूप से वह संपन्न होती है इसे मृच्छकटिक में देख ले। शर्विलक सा क्रांतिकारी अन्यत्र कहाँ? वह पापी के रूप में सामने आता और भीतर ही भीतर अपना करतब दिखा कैसा पुण्यात्मा बन जाता है! उदारता भी इस 'प्रकरण' में इतनी कि 'पालक' के अतिरिक्त बध तो क्या दंड भी किसी को नही मिलता। यहाँ तक कि 'शकार' जैसा खल भी अपने पद पर आरूढ रहता है और उसका स्थान चारुदत्त की कृपा से ज्यो का त्यो बना रह जाता है। 'भाग्य' और 'पुरुषार्थ' का ऐसा विधान अन्यत्र कहाँ? यहाँ का चांडाल भी तो प्रार्थना करता है—

भगवति सह्यवासिनि प्रसीद। अपि नाम चारुदत्तस्य मोक्षो भवेत् तदानुगृहीतं त्वया चांडालकुलं भवेत्।

कहिये इस नाटक मे अनुगृहीत कौन नही हो जाता ? अन्त में 'सुदुःसह' शकार भी तो आप ही कह जाता है—

भट्टारक चारुदत्त शरणागतोऽस्मि । तत्परित्रायस्व । यत्तव सदृशं तत्कुरु । पुनर्नेदृशं करिष्यामि ।

इसमें मर्मभेदी है—यत्तव सदृशं तत्कुरु । पुनर्नेदृशं करिष्यामि ।

सुकृत—इतिहास साक्षी है कि सदा 'भारत' ने भरसक प्रथम के पालन का प्रयास किया, पर द्वितीय के पालन में 'आततायी' सदा असमर्थ रहा । तो भी शूद्रक ने दिखा ही दिया उसका मोक्ष । कारण शुद्धि का अभाव नहीं। नहीं, वही अपनी आन है—यत्तव सदृशं तत्कुरु । कह तो नहीं सकता, किन्तु इतना जानता अवश्य हूँ कि यदि हमारे देश के नेता इसको एक बार भलीभाँति पढ लें तो निश्चय ही राष्ट्र का बडा उपकार हो और 'राष्ट्रिय' का स्वरूप भी बहुत कुछ खुल जाय । कहाँ तक कहें, यहाँ 'हृदय' की वह पुकार भी है जिसकी प्रेरणा से आज न जाने क्या क्या हो रहा है । कहने का भाव यह कि शूद्रक ने मृच्छकटिक की सृष्टि यों ही नही कर दी है । नहीं, उसमे तो जीवन की आँख रख दी गई है । इसी से यहाँ फिर दावे के साथ कहा जाता है कि इसका अध्ययन राष्ट्रसेवी के लिए अनिवार्य कर दिया जाय । कारण, इसमें 'दरिद्रनारायण' का दर्शन है, गणिका का सच्चा अनुराग है, नयप्रचार है, व्यवहार की दुष्टता है और है खलस्वभाव के साथ भवितव्यता भी । सभी कुछ तो है और है इस रूप मे कि आप सहज में ही अपनी संस्कृति को देख सकते हैं और सरलता से समझ भी सकते हैं कि वास्तव में इसलाम के पहले भी आपकी स्थिति क्या थी और आपका विचार कितना व्यापक तथा उदार था ।

'शास्त्र' से होता क्या है जब तक उसका व्यवहार ठीक न हो और मानव अपने आचार से उसका परिचय न दे । आचार भी जब तक साकार रूप धारण नहीं करता हृदय में अपना स्थान नहीं बनाता । इसीलिये उसको काव्य का रूप देना पड़ता है । काव्य भी जब कान के साथ ही आँख को परितृप्त करता है तब धन्य हो जाता है । इसी से शूद्रक का शास्त्र 'दृश्य' बनकर हमारे सामने आया है और हम अपने जीवन को उसमें चरित के रूप में देख

सकते हैं। यों तो मृच्छकटिक के सभी पात्र अपने चरित्र को लेकर मंच पर आते हैं और अपने कर्तव्य की छटा दिखा आँख से ओझल हो जाते हैं, पर उनमें से जो बहुत टिकते हैं उनके नाम है—१—चारुदत्त, २—वसन्तसेना, ३—शकार, ४—संवाहक और ५—विदूषक। किन्तु प्रकरण में जो सबसे अधिक अपना करतब दिखाता और थोड़े में न जाने क्या कर जाता है वह क्रान्तिकर्त्ता 'शर्विलक' ही है। 'आर्यक' का आना और जाना भी घटना के रूप में होता है, उससे इतना बोध हो जाता है कि कोई बात नही, आगे चलकर अच्छा राजा होगा। उसका प्रतिद्वन्द्वी पालक तो कभी मंच पर आता नहीं। उसका 'वीरक' भी लात खाकर अधिकरण मे पहुँचता है। विट और चेट तो 'काम' और 'अर्थ' के प्रतीक ही ठहरे। उनकी जोड़ी भी देखने योग्य है।

नगरश्री वसन्तसेना

परिचय—जी हाँ, सचमुच मृच्छकटिक जोडी का नाटक है और इसकी सर्वप्रधान जोडी है वसन्तसेना और चारुदत्त की। चारुदत्त का कहना ही क्या? प्रकरण में वह तो पक्का 'शिव' ठहरा, 'शक्ति' का सारा काम तो करना पड़ता है वसन्तसेना को। इस प्रकरण मे एक ऐसी विशेषता भी है जिससे इसे उर्दू के लोग भी पसन्द करेंगे। यहाँ सपत्नी का कोप नही 'सपत्न' का प्रकोप है। उर्दू के लोग 'रकीब' को कोसते हैं, पर यहाँ तो रकीब के प्राण पर आ बनी है। आर्य चारुदत्त को प्राणदंड मिलता है वसन्तसेना के कारण ही न? और शकार रचता है प्रपंच भी उसी के हेतु न? वसन्तसेना के चाहक और ग्राहक का यह द्वन्द्व है किसी दूसरे रूपक में? सो भी समझ रखना चाहिये कि वसन्तसेना को 'नगरश्री' यो ही नहीं कह दिया गया है। नही उसके साथ राजलक्ष्मी का वास भी है। अतएव उसका अध्ययन भी ध्यान से होना चाहिये और यह भी जान लेना चाहिये कि यह प्रकरण नायिका प्रधान क्यों है। सच है। है इसमें भी नारी की निन्दा। किन्तु सच तो कहें है कहीं इसमें कोई कुत्सिता नारी भी? क्यों? कहा तो इसमें यहाँ तक गया है—

तरुणजनसहायश्चिन्त्यतां वेशवासो,
विगणय गणिका त्वं मार्गजाता लतेव।

वहसि हि धनहार्यं पण्यभूतं शरीरं,
समुपचर भद्रे सुप्रियं चाप्रियं च ॥३१॥१॥

इसमें संदेह नही कि वेश्या के लिये उस समय यही मर्यादा थी और यही था उस समय उसका शास्त्रसम्मत धर्म। किन्तु मृच्छकटिक मे है कोई वेश्या जो 'पण्यभूत शरीर' को ही चरितार्थ करती हो? झलक उसकी अवश्य है पर स्वरूप उसका कही नही। वसन्तसेना ही नहीं उसकी दासी गणिका मदनिका को भी तो देखिये। स्त्री की किस मर्यादा को लेकर खड़ी हुई है! कहने का भाव यह कि शूद्रक ने चरित को जन्म और कर्म से अलग कर देखा है और समाज को एक अलग तथ्यग्राहिणी दृष्टि दी है। वसन्तसेना का अति संक्षिप्त परिचय है—

अपद्मा श्रीरेषा प्रहरणमनंगस्य ललितं,
कुलस्त्रीणां शोको मदनवरवृक्षस्यकुसुमम्।
सलीलं गच्छन्ती रतिसमयलज्जाप्रणयिनी,
रतिक्षेत्रे रंगे प्रियपथिकसार्थैरनुगता ॥१२॥५॥

किन्तु यह उस वसन्तसेना का परिचय है जो जन्म और कर्म से गणिका है, कुछ चरित्र से नहीं। चरित्र से तो वह 'कुलस्त्रीणां शोकः' कदापि नही है। कारण सपत्नी ब्राह्मणी कुलवधू का उल्लास है—

दिष्ट्या कुशलिनी भगिनी!

उसका भी समाधान है—

अधुना कुशलिनी संवृत्तास्मि।

[अंक १०, ५८ प०]

शील—'सपत्नी' का परस्पर यह भाव अन्यत्र कहाँ? होता भी क्यों नहीं, वसन्तसेना के चरित ने उसको मोह लिया था। स्मरण रहे वसन्तसेना 'जननी' पहले बनी थी पत्नी बाद में। उसका वात्सल्य तो देखिये कि अपने शरीर का सारा आभूषण उस बच्चे पर न्यौछावर कर देती है जो 'सुवर्ण शकटिका' के लिये तरस रहा था। उसके हेतु ललक-ललक कर रो रहा था।

फिर कोई माता इस प्राणी से सशंक कैसे हो सकती थी ? निश्चय ही अपने आचरण से इसने उसे मोल ले लिया। ध्यान तो दीजिए इस प्रसंग पर—

दारकः—रदनिके कैषा ?
वसन्तसेना—पितुस्ते गुणनिर्जिता दासी।
रदनिका—जात ! आर्या ते जननी भवति।

बालक 'जननी भवति' को क्या जाने ? वह तो जानता है 'जननी' को। उस जननी को जानता है जिसके तन पर आभूषण नहीं। निदान अलंकृता वनिता को वह जननी मान नही सकता। तो वसन्तसेना को भी तो जननी बनने के लिये कुछ करना है ? हाँ, वही जो कुछ कि उसने किया। सुना नही कि झट बोल उठी—

जात ! मुग्धेन मुखेनातिकरुणं मन्त्रयसि।

भोली बानी ने किस वेध का काम किया। मुँह से बानी, आँख से आँसू और शरीर से आभूषण साथ उतरे। लो वह 'गणिका' से सचमुच 'जननी' बन गई। कहा तो था उसने उसे जात ही ? सुनिये उसका भी समाधान है अलंकार उतारकर—

एषेदानीं ते जननी संवृत्ता।

किन्तु यह तो 'नाट्य' की बात रह जाती। 'जननी' का काम तो यह हुआ—

तत् गृहाणैतमलंकारम्। सौवर्णशकटिकां कारय।
[अंक ६, आरंभ]

निश्चय ही दारक अलंकार की आभा और चमक-दमक में सोने की गाडी भूल गया होगा। नहीं तो 'मृच्छकटिका' का नाम ही क्यों जगता ?

नैपुण्य—और भी ध्यान देने की बात है कि इस गृह में प्रवेश पाते ही वसन्तसेना ने 'विट से कहा था—

भाव एषा छत्रधारिका भावस्यैव भवतु।

बात ताड़ने की है। भाव समझने का है। 'भावस्यैव' में 'एव' की

व्यंजना क्या है ? क्या अब लौट कर वसन्तसेना फिर जाना नहीं चाहती ? यहीं अपना घर बसा कर रहा चाहती है ? उत्तर हाँ के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? वसन्तसेना का भाव भले ही यह रहा हो, पर विट इतनी दूर की नहीं सोचता । वह इतना ही समझता है कि—

अनेनोपायेन निपुणं प्रेपितोऽस्मि ।

और फलतः आशीर्वाद भी देता है—

साटोपकूटकपटानृतजन्मभूमेः,
शाठ्यात्मकस्य रतिकेलिकृतालयस्य ।
वेश्यापणस्य सुरतोत्सवसंग्रहस्य,
दाक्षिण्यपण्यसुखनिष्क्रयसिद्धिरस्तु ॥२६॥५॥

किन्तु क्या यह आशीर्वाद वसन्तसेना को भा सकता था ? 'वेश्यापण' में उसे लाभ कहाँ ? उसकी तो एकमात्र कामना है किसी चारुदत्त की कुलवधू बनकर रहने की । इसी से तो कभी दासी गणिका मदनिका से उसने कहा भी था—

सांप्रतं त्वमेव वन्दनीया संवृत्ता । तद्गच्छ । आरोह प्रवहणम् । स्मरसि माम् ।

[अंक ४, २४ पू०]

क्यों, इसलिये न कि अब वह 'गणिका' की कोटि से निकलकर 'वधू' की कोटि में पहुँच गई और मार्ग की लता न रह कर किसी उद्यान की बेलि बन गई ?

अभिसारिका—प्रश्न उठता और वसन्तसेना के विषय का सबसे बड़ा प्रश्न है भी यही की वस्तुतः कामक्रीडा के क्षेत्र में उसकी स्थिति है क्या ? विट ने उसको सचेत किया था—

सकलकलाभिज्ञाया न किंचिदिह तवोपदेष्टव्यमस्ति । तथापि स्नेहः प्रलापयति । अत्र प्रविश्य कोपोऽत्यन्तं न कर्तव्यः ।

यदि कुप्यसि नास्ति रतिः कोपेन विनाथवा कुतः कामः ।
कुप्य च कोपय च त्वं प्रसीद च त्वं प्रसादय च कान्तम् ॥३४॥५॥

इतना ही नहीं अपितु उसके प्रिय आर्य चारुदत्त से कहला भी दिया—

एषा फुल्लकदम्बनीपसुरभौ काले घनोद्भासिते
कान्तस्यालयमागता समदना हृष्टा जलार्द्रालका ।
विद्युद्वारिदगर्जितैः सचकिता त्वद्दर्शनाकांक्षिणी ।
पादौ नूपुरलग्नकर्दमधरौ प्रक्षालयन्ती स्थिता ॥३५॥५॥

और फलतः आर्य चारुदत्त ने अनुभव भी किया कि—

धन्यानि तेषां खलु जीवितानि ये कामिनीनां गृहमागतानाम् ।
आर्द्राणि मेघोदकशीतलानि गात्राणि गात्रेषु परिष्वजन्ते ॥४६॥५॥

निश्चय ही इस जोडी का यह प्रथम समागम था और वसन्तसेना अभि-सारिका के रूप में यहाँ पहुँची थी। किंतु क्या वह मुक्तयौवना भी थी ? यदि होती तो 'विट' का आदेश ही कुछ और होता। वह इस प्रकार उसे 'कोप' और 'काम' का भाव न सिखाता। भूला न होगा कि कभी 'राजश्यालक' शकार के विट ने उसे राजमार्ग पर जाते देखकर छूटते ही कहा था—

किं त्वं भयेन परिवर्तितसौकुमार्या
नृत्यप्रयोगविशदौ चरणौ क्षिपन्ती ।
उद्विग्नचंचलकटाक्षविसृष्टदृष्टि-
र्व्याधानुसारचकिता हरिणीव यासि ॥१७॥१॥

'हरिणी' की भाँति घबरा कर भागने की आवश्यकता 'गणिका' वसन्तसेना को क्यों पडी? विदूषक के कथनानुसार तो यह सन्ध्या समय विचरन्त काल था—

प्रदोषवेलायामिह राजमार्गे गणिका विटाश्चेटा राजवल्लभाः पुरुषाः संचरन्ति।

[अंक १, १६ प०]

कौमार—बात ठीक थी। नगरश्री वसन्तसेना इसी न्यायानुसार भ्रमण को निकली थी और थी टोह में उसकी जिसकी छाया उसके मन में बसी थी 'कामदेवायतनोद्यान' में। उधर आ गया दृष्टिपथ में वह प्राणी जिसे उसकी माता

चाहती थी उसके 'सम्बन्ध' के रूप में। पर स्वयं वह जिससे रहती थी सदा दूर ही। उसी से बच निकलने की चिन्ता में वह ऐसी भागी कि उसकी चेरियाँ भी छूट गईं। शकार ने देखते ही कहा भी था किस अनुनय से—

कि यासि धावसि पलायसे प्रस्खलन्ती
वासु ! प्रसीद न मरिष्यसि तिष्ठ तावत्।
कामेन दह्यते खलु मे हृदयं तपस्वि
अंगारराशिपतितमिव मांसखंडम् ॥१८॥१॥

किन्तु इसी 'काम' और इसी 'अंगार' से तो बचने की चिन्ता में मग्न थी वह ! इसी से तो है उसका विषाद भी—

हाधिक् ! हाधिक् !! कथं परिजनोऽपि परिभ्रष्टः। अत्र मयात्मा स्वयमेव रक्षितव्यः।

[अंक १, १९ पू०]

शकार के व्यवहार से वसन्तसेना का मन यहाँ तक खीझ गया कि उसको उसके नाम से घृणा हो गई। उसकी स्थिति का पूरा पता, इस प्रसंग से चल जाता है—

प्रथमा चेटी—आर्ये ! माताज्ञापयति-गृहीतावगुण्ठनं पक्षद्वारे सज्जं प्रवहणम्। तद्गच्छ इति।

वसन्तसेना—चेटि ! किमार्यचारुदत्तो मां नेष्यति ?

चेटी—आर्ये ! येन प्रवहणेन सह सुवर्णदशसाहस्रिकोऽलंकारोऽनुप्रेषितः।

वसन्तसेना—कः पुनः सः ?

चेटी—एष एव राज्यश्यालः संस्थानकः।

वसन्तसेना—अपेहि। मा पुनरेवं भणिष्यति।

चेटी ने जब निवेदन किया कि माता से कहा क्या जाय तब वसन्तसेना का उत्तर मिला—

एवं विज्ञापयितव्या—यदि मां जीवन्तीमिच्छसि तदेवं न पुनरहं मात्राज्ञापयितव्या।

[अंक ४, आरंभ]

कितनी कड़ी बात और कितना कठोर संकल्प ! समझा आपने ? यह 'सुवर्णदशसाहस्रिकोऽलंकारः' क्या है ? कुछ नही। यह तो वसन्तसेना के कौमार का फल-फूल है जो पूजा के रूप मे न्यौछावर है। इसकी पक्की जानकारी के लिए जानना होगा कि—

गणिका प्राप्तयौवनां स्वां दुहितरं तस्या विज्ञानशीलरूपानुरूप्येण तानभिनिमन्त्र्य सारेण योऽस्या इदमिदं च दद्यात्स पाणिं गृह्णीयादिति संभाष्य रक्षयेदिति ॥ १३ ॥

सा च मातुरविदिता नाम नागरिकपुत्रैर्धनिभिरत्यर्थं प्रीयेत ॥१४॥

तेषां कलाग्रहणे गान्धर्वशालायां भिक्षुकीभवने तत्र तत्र च संदर्शनयोगाः ॥ १५ ॥

तेषां यथोक्तदायिनां माता पाणिं ग्राहयेत् ॥ १६ ॥

तावदर्थमलभमाना तु स्वेनाप्येकदेशेन दुहित्र एतद्दत्तमनेनेति ख्यापयेत् ॥१७॥

ऊढाया वा कन्याभावं विमोचयेत् ॥१८॥

[कामसूत्र, औपनिषदिक अधिकरण सुभगंकरणप्रकरण]

वात्स्यायन के इस कथन को दृष्टि मे रखकर परिस्थिति का परिशीलन करें तो पता चले कि वास्तव मे यह वसन्तसेना के 'कन्याभाव-विमोचन' का ही प्रसंग है। 'कामदेवायतन' का दर्शन भी इसी हेतु है न ?

इष्ट—माता और दुहिता में भेद इतना ही है कि माता 'धन' चाहती है और दुहिता 'शील'। दुहिता की जीत तब समझिये जब सहसा आर्य चारुदत्त को देखकर उसके मुँह से निकल पड़ा और मन ही मन गूँज कर रह गया कि—

सुनिक्षिप्तं खलु दारिकया यौवनम्।

[अंक १, १७ पू०]

फिर तो चारुदत्त उसे ऐसा प्रिय हुआ कि वह वसन्तसेना को खोकर भी उसको जीवित रखना चाहती थी। पाणिग्रहण में इसे माता की सही समझिये। सफल होती, वसन्तसेना को सच्ची सफलता मिलती है तब जब शर्विलक की राजा की ओर से घोषणा होती है—

आर्ये वसन्तसेने ! परितुष्टो राजा भवतीं वधूशब्देनानुगृह्णाति।

भला वसन्तसेना भी इसके अतिरिक्त और कह क्या सकती थी कि—

आर्य ! कृतार्थास्मि।

[अंक १०, ५८ प०]

है न यही गणिका वसन्तसेना का कार्य ! कृतार्थ है यह गणिका दरिद्र की वधू बन कर। कारण, उसका स्वयं तो कहना है—

अत एव काम्यते। दरिद्रपुरुषसंक्रान्तमना: खलु गणिका लोकेऽवचनीया भवति।

बात यही रही तो वसन्तसेना चटपट अभिसार क्यों नहीं करती ? उत्तर कितना सरल है—

चेटि ! सहसाभिसार्यमाणः प्रत्युपकारदुर्बलतया मा तावत् जनो दुर्लभदर्शनः पुनर्भविष्यति।

[अंक २, आरंभ]

तो क्या सुगृहीतनामधेय चारुदत्त को पाने के लिये इसे उपाय भी रचना पड़ा ? जी। उसके घर अलंकार छोड़े किस दृष्टि से गये थे और फिर अभिसार भी तो हुआ था उन्हीं को लेकर ! उस दरिद्र के साथ इन अलंकारों ने क्या नहीं किया ? वसन्तसेना के लिये तो बस घातक ही सिद्ध हुए। तो भी कार्य सधा था वसन्तसेना का इन्हीं के द्वारा। याद है न उसका वह साहस जो पुष्पताडन से किया गया था, इस प्रकार—

अयि द्यूतकर ! अपि सुखस्ते प्रदोषः ?

सचमुच जलार्द्र वसन्तसेना ने अपने इस साहस से चारुदत्त को अपने अधीन कर लिया और प्रेमविवश हो उसे भी कहना पड़ा—

तदेहि। अभ्यन्तरमेव प्रविशावः।

[अंक ५, ५१ प०]

हो गया 'प्रकाशनारी' का अभ्यन्तर में प्रवेश न ? जहाँ अलंकार न जा सका स्वयं पहुँच गई।

कारण, उसका विचार जो था—

गुणः खल्वनुरागस्य कारणं न पुनर्बलात्कारः ।

[अंक १, ३२ प०]

यही कारण तो है कि उसने पीछा करते हुए शकार से स्पष्ट कहा—

शान्तं शान्तम् । अपेहि । अनार्यं मन्त्रयसि ।

[अंक १, ३१ पू०]

प्रलोभन—उधर शकार की मंत्रणा थी—

अहं वरपुरुषमनुष्यो वासुदेवः कामयितव्यः ।

[अंक १, ३० प०]

किन्तु कहीं काम भी बलात्कार से होता है ? उसकी इस उग्रता से वसन्तसेना की रति दरिद्र चारुदत्त में और भी दृढ हो गई और उसने आगे चलकर कहा भी—

आश्चर्यम् । वामतस्तस्य गृहमिति यत्सत्यम् अपराध्यतापि दुर्जनेनोपकृतम्, येन प्रियसंगमः प्रापितः ।

[अंक १, ३३ पू०]

वसन्तसेना के इस अनुराग को सुन कर विट ने कितना सटीक कहा—

कथं वसन्तसेनार्यचारुदत्तमनुरक्ता । सुष्ठु खल्विदमुच्यते-रत्नं रत्नेन संगच्छते ।

रत्न का संयोग रत्न के साथ हो, इसका प्रभाव उस पर इतना गहरा पड़ा कि आगे चलकर शकार ने जब उससे वसन्तसेना के वध को कहा तब उसने स्पष्ट निवेदन किया—

बालां स्त्रियं च नगरस्य विभूषणं च
वेश्यामवेशसदृशप्रणयोपचाराम् ।
एनामनागसमहं यदि घातयामि
केनोडुपेन परलोकनदीं तरिष्ये ।।२३।।८।।

'बाला' वसन्तसेना से शकार की जब एक भी नहीं चली और वह हारकर उससे पूछ बैठा—

सुवर्णकं ददामि प्रियं वदामि पतामि शीर्षेण सवेष्टनेन ।
तथापि मां नेच्छसि शुद्धदन्ति ! किं सेवकं काष्ठमया मनुष्याः ॥३१॥८॥

निश्चय—तब उसने भी कैसा सच्चा समाधान किया—

खलचरित निकृष्ट ! ज्ञातदोषः कथमिह मां परिलोभसे धनेन ।
सुचरितचरितं विशुद्धदेहं न हि कमलं मधुपाः परित्यजन्ति ॥३२॥८॥

विचारने, सोचने और समझने की बात है कि वसन्तसेना ने एक ओर 'खलचरित' को सामने किया है और दूसरी ओर 'सुचरित' ही नहीं 'सुचरित-चरित' को ला दिया है ; साथ ही एक ओर तो 'ज्ञातदोष' को लिया है और दूसरी ओर 'विशुद्धदेह' को। तो क्या इस गणिका की दृष्टि में 'जन्म' और 'कर्म' दोनों का ही महत्त्व है ? निवेदन है, धीरज धरें। उसी का यहीं यह भी कहना है—

यत्नेन सेवितव्यः पुरुषः कुलशीलवान्दरिद्रोऽपि ।
शोभा हि पणस्त्रीणां सदृशजनसमाश्रयः कामः ॥३३॥८॥

वसन्तसेना बहुत दूर की बात कह गई। इसे प्रणय की कुंजी समझिये। 'कुलशीलवान्' की सेवा तो पक्की तब समझी जायगी जब वह हो 'दरिद्र' भी। 'पणस्त्री' की यदि यह बात ठहरी तो 'कुलस्त्री' को क्या कहा जाय ? है मृच्छकटिक में एक कुलस्त्री भी जिसका इसी वसंतसेना से कहना है—

आर्यपुत्र एव ममाभरणविशेष इति जानातु भवती ।

[अंक ६, आरंभ]

वसन्तसेना आर्या 'धूता' के प्रसाद से कुलस्त्री कैसे बनी यह कुछ दूर की बात है। सामने है अभी यह 'सदृशजनसमाश्रय काम।' कामातुर शकार भला इस भेद को क्या जाने ? अतः खुलकर वसन्तसेना को साहस के साथ झट वहीं कहना पड़ा—

सहकारपादपं सेवित्वा न पलाशपादपमंगीकरिष्यामि ।

दण्ड—जिस 'सहकार' का सेवन करना था कर लिया। अब किसी 'पलाश' से क्या काम ? फलतः शकार क्रुद्ध कर वसन्तसेना से यहाँ तक कह जाता है—

तद्दरिद्रसार्थवाहकमनुष्यकामुकिनि तिष्ठ तिष्ठ ।

तो वह विचलित नहीं होती और और भी दृढ़ता से कह जाती है—

भण भण पुनरपि भण । श्लाघनीयान्येतान्यक्षराणि ।

और कुछ हो जब वह उसे मारने पर उद्यत होता है तब वह चारुदत्त में अचल श्रद्धा दिखा पूरे विश्वास से कहती है—

परित्रायते यदि मां प्रेक्षते ।

तथा—

नम आर्यचारुदत्ताय ।

कह मरने को उद्यत हो जाती है । उसके निधन से उसका रूप कैसा परिस्फुट होता है ? 'विट' कलप कर कह उठता है—

दाक्षिण्योदकवाहिनी विगलिता याता स्वदेशं रति-
र्हा हालंकृतभूषणे सुवदने क्रीडारसोद्भासिनि ।
हा सौजन्यनदि प्रहासपुलिने हा मादृशामाश्रये
हा हा नश्यति मन्मथस्य विपणिः सौभाग्यपण्याकरः ॥३८॥८॥

और उसी 'विट' का आशीर्वाद मिलता है—

अन्यस्यामपि जातौ मा वेश्या भूस्त्वं हि सुन्दरि ।
चारित्र्यगुणसंपन्ने जायेथा विमले कुले ॥४३॥८॥

'पणस्त्री' वसन्तसेना का अंत हो गया । 'कुलस्त्री' वसन्तसेना सचेत हुई तो चारुदत्त की सूझी । संवाहक भिक्षु ने पूछा—

उपासिके कुत्र त्वां नेष्यामि ?

उपासिका वसन्तसेना सहज ही बोल पड़ी—

आर्यचारुदत्तस्यैव गेहम् । तस्य दर्शनेन मृगलांछनस्येव कुमुदिनी-मानन्दय माम् ।

[अंक १०, ३६ प०]

समागम—तपस्विनी को क्या पता कि उधर चारुदत्त भी उसी घाट के पथिक बने श्मशान भूमि की महायात्रा कर रहे हैं । दौड़धूप कर किसी प्रकार

पास पहुँची तो देखा कि विचित्र भूषा मे चारुदत्त उत्तान पड़े हैं। सहसा मुँह से निकला—

आर्यचारुदत्त ! किन्विदम् ?

और शरीर छाती पर जा पडा। सुना कि चारुदत्त जीवित है तो स्वयं भी जी उठी। कुछ प्रियसंग हुआ तो विवाह भी मरकर पक्का हो गया। विधि की बात ठहरी। कैसी विपरीत घटना घटी ! वधस्थान मे मंगल बाजा बजा—

रक्तं तदेव वरवस्त्रमियं च माला,
कान्तागमेन हि वरस्य यथा विभाति।
एते च वध्यपटहध्वनयस्तथैव,
जाता विवाहपटहध्वनिभिः समानाः ॥४४॥८॥

और इस मिलन के बाद जब वसन्तसेना के कान में शब्द पडा—

पौराः व्यापादयत। कि निमित्तं पातकी जीव्यते।

तो इसे लोकध्वनि जान उसने उस 'वध्यमाला' को चारुदत्त के कंठ से उतारकर 'शकार' के ऊपर फेक दिया और उससे और कुछ कहना उचित न समझा। कारण उसकी रुचि तो अब अपनी नही रही। हाँ, जब 'धूता' के 'प्रज्वलित पावक-प्रवेश' की सूचना से चारुदत्त 'उद्वेग' में आ गया तब उसने उससे निवेदन अवश्य किया—

समाश्वसित्वार्यः। तत्र गत्वा जीवयत्वार्याम्। अन्यथाधीरत्वेनानर्थः संभाव्यते।

चरित—और जब घटनास्थल पर पहुँच कर 'धूता' से आँखे चार हुई तब तो और कुछ होने को रह ही नही गया। सपत्नियों का यह कुशल-मंगल भी धन्य हो गया। बस एक ही काँटा जी में और रह गया। त्राता 'भिक्षु' का कुछ भी न हुआ। सुना नही कि वह 'सर्वविहारो का कुलपति' बना दिया गया, बोल उठी—

सांप्रतं जीवापितास्मि।

कह सकता है कोई कि कभी शूद्रक की यह वसन्तसेना मर सकती है ! उसके चारुदत्त का विषाद था—

शशिविमलमयूखशुभ्रदन्ति सुरुचिरविद्रुमसंनिभाधरौष्ठि ।
तव वदनभवामृतं निपीय कथमवशो ह्ययशोविषं पिबामि ॥१३॥१०॥

किन्तु होनहार ने होकर इसे सदा के लिए दूर कर दिया और फिर उस अमृतपान का पक्का अवसर दिया । परंतु इस अवसर पर भूलना न होगा कि कभी इसी चारुदत्त ने इसी वसन्तसेना के 'सुवर्णभांड' के विषय में अपने 'सर्वकालमित्र' सखा विदूषक से कहा था—

अलं चतुःशालमिमं प्रवेश्य प्रकाशनारी धृत एष यस्मात् ।
तस्मात्स्वयं धारय विप्र तावद्यावन्न तस्याः खलु भोः समर्प्यते ॥७॥३॥

और आज ! आज की कुछ न पूछिये । घर का कोना-कोना उसका हो गया । इसी को तो कहते है 'चरित' का प्रताप ! हाँ, कभी कामातुरता के कारण उसके चित्त की दशा थी कि 'निशा' को 'सपत्नी' समझ उससे भी उलझ पड़ती और 'भाव' से कहती—

भाव ! सुष्ठु ते भणितम् । एषा हि—
मूढे निरन्तरपयोधरया मयैव
कान्तः सहाभिरमते यदि किं तवात्र ।
मां गर्जितैरपि मुहुर्विनिवारयन्ती
मार्गं रुणद्धि कुपितेव निशा सपत्नी ॥१५॥५॥

कहाँ प्रेमानल में तपने पर उसकी यह स्थिति हो गई कि सचमुच की 'सपत्नी' से सहर्ष कहती है—

अधुना कुशलिनी संवृत्तास्मि ।

कारण, उसने 'भगिनी' करके उसे मान जो लिया है । फिर क्यों न हृदय खोलकर आलिंगन करे ? घरनी बने ?

'कामदेवायतनोद्यान' में चारुदत्त अपने गुणों के कारण वसन्तसेना को भा गया और उसके भोगातुर चाहक शकार को इसका बोध भी हो गया तो चारुदत्त से इस क्षेत्र में करते कुछ भी न बन पडा । हाँ, संघर्ष छिड़ गया इसको लेकर स्वयं वसन्तसेना तथा शकार में । अनुकूल समय पाकर शकार ने उसका पीछा किया तो वह भाग निकली । पहले तो घबराकर परिजनों का नाम लिया, पर

पुकार जब निष्फल गई तब बुद्धि से काम लिया और विट के संकेत को ताड़कर तथैव आचरण किया। 'नूपुर' और 'माला' को उतार देने से कान और नाक का सहारा भी जाता रहा। उधर जो द्वार खुला तो धीरे से उसमें हो लिया। उस समय दीपक का प्रकाश उसे इतना खला कि वस्त्र से उसे उसने बढा दिया। इस प्रकार इस बार शकार से उसका उद्धार हुआ। उधर चारुदत्त ने उसे चेटी समझ लिया और उससे कहा—

अनेन प्रावारकेण छादयैनम्।

फिर क्या था प्रावारक की गन्ध से ही उसने भाँप लिया कि अभी भोग की लालसा बनी है। अपने आप ही कहा भी—

अनुदासीनमस्य यौवनं प्रतिभासते।

प्रिय के प्रावारक का उपयोग भला इससे अच्छा और क्या होगा कि उससे अपने को लपेट लिया जाय? किया भी उसने ऐसा ही। चारुदत्त को इसका पता चला तो मन मसोसकर रह गया। शकार की अवज्ञा कर वसन्तसेना की स्तुति में मन ही मन कहा—

अये कथं देवतोपस्थानयोग्या युवतिरियम्।

उपाय—फिर परस्पर दोनों में क्षमा-याचना क्या हुई एक दूसरे में बस गये। वसन्तसेना ने इस 'चतुर' और 'मधुर' मिलन से जो लाभ उठाया वह था अपने अलंकारों का न्यास। उसके इस कथन में कितना सार भरा है—

पुरुषेषु न्यासा निक्षिप्यन्ते न पुनर्गेहेषु।

[अंक १, ५६ प०]

'पुरुष' को परखनेवाली यह गेहिनी धन्य है। उसकी सूझ तो देखिये। कहती है कि इसी आर्य मैत्रेय के साथ अपने घर जाना चाहती हूँ। फलतः मैत्रेय की कृपा से घर तक साथ रहा आर्य चारुदत्त का। अनुराग का बीज उगा तो चारुदत्त का चित्र बनने लगा, और परिणाम जो कुछ हुआ विदित ही है। पूजा का काम ब्राह्मण को दिया गया और प्रेमी की वार्ता में मन लगा। वसन्तसेना की विज्ञप्ति तो देखिये। कितना स्पष्ट कहती है—

चेटि रन्तुमिच्छामि न सेवितुम्।

[अंक २, आरंभ]

किसी 'राजा' वा 'राजवल्लभ' की, प्रेम के प्रसंग में, यह सबसे बड़ी उपेक्षा है।

दाक्षिण्य—प्रसंग चल ही रहा था कि दीन 'संवाहक' की गोहार लगी। पूछने पर पता चला कि समय का मारा चारुदत्त का संवाहक पराजित द्यूतकर के रूप में शरण आया है। फिर तो दया ने प्रेम से मिलकर वह काम किया कि परस्पर दोनों का जीवन सध गया। वसन्तसेना की कृपा से 'सभिक' को हस्ताभरण मिला और द्यूतकर का मोक्ष हुआ। अपने सद्व्यवहार से वसन्तसेना ने उसे सदा के लिये अपना बना लिया। वह चाहता ही रह गया कि उसकी कला का कुछ उपभोग उसे भी मिले पर उसने यह कहकर उसे टाल दिया कि—

आर्य ! यस्य कारणादियं कला शिक्ष्यते स एवार्येण शुश्रूषितपूर्वः शुश्रूषितव्यः।

सच है, वह उपकार ही क्या जो प्रत्युपकार पर टिका हो? वह तो एक प्रकार का सौदा है न? अस्तु, 'द्यूतकर' गया नहीं कि 'कर्णपूरक' आ गया। उसकी बात से पता चलता है कि उसका वसन्तसेना से कितना नेह है। वसन्तसेना का व्यवहार सेवको के प्रति कितना साधु और स्निग्ध है? धन्य है प्राणो पर खेलकर किसी दडी का उद्धार करने वाला यह प्राणी जिसे 'प्रिय' से 'प्रावारक' और 'प्रिया' से 'आभरण' मिलता है।

अधूरा होगा यह चरित यदि मदनिका का अभाव हो। मदनिका से वसन्तसेना का यह कहना कितना गभीर है—

चेटि ! सखीजनादुपहसनीयतां रक्षामि।

'उपहास' से कितना डरती है यह गणिका। साथ ही मानती भी है—

चेटि ! नाना पुरुषसंगेन वेश्याजनोऽलीकदक्षिणो भवति।

परन्तु स्वयं उसमें कितना लीकदाक्षिण्य है? मदनिका को शर्विलक से घुटती देखती है तो ललक कर आप ही कह उठती है—

तद्रमतां रमताम् । मा कस्यापि प्रीतिच्छेदो भवतु ।

[अंक ४, ४ प०]

कह कर चुपचाप मौन नहीं रह जाती। नीति का ध्यान इतना कि किसी का 'रहस्य' नहीं सुनना चाहती। किन्तु जब रहस्य जान जाती है तब किस चातुरी से शर्विलक से कहती है—

अहमार्यचारुदत्तेन भणिता—य इममलंकारकं समर्पयिष्यति तस्य त्वया मदनिका दातव्या। तत्स एवैतां ते ददातीत्येवमार्येणावगन्तव्यम्।

[अंक ४, २१ प०]

फलतः मदनिका ठाट से प्रवहण पर बिदा होती और शर्विलक सदा के लिये अनुगृहीत हो जाता है। वसन्तसेना की छाया मे कितने प्राणी पलते और अपना गुन सीखते हैं इसे विदूषक के 'प्रकोष्ठ-वर्णन' में देख सकते हैं। गणिका माता की यह गणिका पुत्री धन्य है जो अपने गुण से गृहिणी बनी और अपने सुचरित से अपने कुल को उज्ज्वल किया।

साधुवृत्त चारुदत्त

परिस्थिति—'नगरश्री' वसन्तसेना ने बड़े भाव से पूछा था और पूछा था संस्कृत में विदूषक से—

आर्य मैत्रेय अपीदानीं—

गुणप्रवालं विनयप्रशाखं विश्रम्भमूलं महनीयपुष्पम्।
तं साधुवृत्तं स्वगुणैः फलाढ्यं सुहृद्विहंगाः सुखमाश्रयन्ति ॥३२॥४॥

और क्यों नहीं पूछती ? कभी स्वयं चारुदत्त का भी तो मत था—

दारिद्र्यात्पुरुषस्य बान्धवजनो वाक्ये न सन्तिष्ठते,
सुस्निग्धा विमुखीभवन्ति सुहृदः स्फारीभवन्त्यापदः।
सत्त्वं ह्रासमुपैति शीलशशिनः कान्तिः परिम्लायते,
पापं कर्म च यत्परैरपि कृतं तत्तस्य संभाव्यते ॥ ३६॥१॥

जब दैव का मारा चारुदत्त दीन दशा को प्राप्त हो गया है तब बजमारे काम के मारने की आवश्यकता क्या थी ? परन्तु नहीं, होनहार तो देखिये कि

इस दरिद्र की दृष्टि लगती है 'कामदेवायतनोद्यान' में 'वसन्तशोभा' वसन्तसेना गणिका से। परिणाम होता है चित्त में अति गहरा विषाद। सयोग की बात ठहरी कि नायिका आप ही घर पर पहुँच गई और उसने प्रिय के प्रावारक से अपना तन भी ढक लिया, किन्तु नायक को इसका मर्म न मिला। वह चिन्ता मे पड़ गया—

अविज्ञातावसक्तेन दूषिता मम वाससा।
छादिता शरदभ्रेण चन्द्रलेखेव दृश्यते ॥ ५३॥१॥

और धर्म का मारा इस 'चन्द्रलेखा' को भी अधिक न लख सका। समझा कोई परनारी है। विदूषक ने बताया कि ऐसी शंका व्यर्थ है। यह स्वयं आगता तो वसन्तसेना है। फिर तो 'जनु छुइ गयेउ पाक बरतोरू' की स्थिति हो गई, और मन कलप कर कह उठा—

यया मे जनितः कामः क्षीणे विभवविस्तरे।
क्रोधः कुपुरुषस्येव स्वगात्रेष्वेव सीदति ॥५५॥१॥

तपस्वी करे क्या? करना तो दरिद्रताजन्य 'सत्त्वहास' के कारण प्रायः छोड़ चुका है। अब तो इस विषम परिस्थिति मे इस दीन को धर्मनिर्वाह भर करना रह गया है। इसी से चाहते हुए भी इस 'काम' को बढ़ावा नही दे सकता। परन्तु करे क्या? जिसने 'उद्यान' मे काम की अनुभूति उत्पन्न की वही भवन में उसको भड़काने धमक पड़ी। फलतः दीन की यह दशा हुई—

सदा प्रदोषो मम याति जाग्रतः
सदा च मे निश्वसतो गता निशा।

किंतु आज प्रिया को अपनी 'वृक्षवाटिका' में प्रस्तुत पाकर—

त्वया समेतस्य विशाललोचने
ममाद्य शोकान्तकरः प्रदोषकः ॥३७॥५॥

भवितव्यता—आह! आशा की छलना ने किसे नहीं छला? कहाँ तो इस भावना में चारुदत्त मग्न थे—

वर्षशतमस्तु दुर्दिनमविरतधारं शतह्रदा स्फुरतु
अस्मद्विधदुर्लभया यदहं प्रियया परिष्वक्तः ॥४८॥५॥

कहाँ दूसरे ही दिन उन्हें यह दिन देखना पड़ा—

प्राप्तोऽहं व्यसनकृशां दशामनार्यां
यत्रेदं फलमपि जीवितावसानम् ॥२५॥१०॥

इसी को कहते हैं 'भवितव्यता'। व्यवहार की यही भवितव्यता काव्य की कला है। सुशील चारुदत्त उच्चतम स्वर से चिल्लाते रहें—

योऽहं लतां कुसुमितामपि पुष्पहेतो-
राकृष्य नैव कुसुमावचयं करोमि।
सोऽहं कथं भ्रमरपक्षरुचौ सुदीर्घे
केशे प्रगृह्य रुदतीं प्रमदां निहन्मि ॥२८॥६॥

तर्क तो सर्वथा साधु है, पर अधिकरण के न्याय को क्या कहा जाय? राजा भी कैसा निकम्मा निकला कि उस 'धर्मनिधि' चारुदत्त को प्राणदंड दिया जिसके विषय में स्वयं अधिकरणिक ने संतप्त हो कहा था—

आर्य चारुदत्तः कथमकार्यं करिष्यति।

कारण—

कृत्वा समुद्रमुदकोच्छ्रयमात्रशेषं
दत्तानि येन हि धनान्यनपेक्षितानि।
स श्रेयसां कथमिवैकनिधिर्महात्मा
पापं करिष्यति धनार्थमवैरिजुष्टम् ॥२२॥६॥

किन्तु 'महात्मा' लोगों पर 'व्यवहार' में ऐसे 'पाप' लगा ही करते हैं। निदान उनके चरित और शील को देखना चाहिये, कुछ व्यवहार की दुष्टता को नहीं। यदि अधिकरण में दुष्टता न होती तो राजा के 'प्रसाद' की आवश्यकता ही क्यों पड़ती?

शील—सो चारुदत्त को चरित्र का इतना ध्यान है कि अधिकरणिक के प्रश्न—

आर्य गणिका तव मित्रम्?

के उत्तर में निवेदन करता है लज्जा और संकोच के साथ—

भो अधिकृताः मया कथमीदृशं वक्तव्यं यथा गणिका मम मित्रमिति।
अथवा यौवनमत्रापराध्यति न चारित्र्यम्।

[अंक, ६, १७ प०]

अधिकरण में चारुदत्त को खुलकर यह कहने का साहस नहीं होता कि 'गणिका' से उसकी मित्रता है। तो क्या वह वसन्तसेना के प्रेम को छिपाना चाहता है? बात ऐसी तो नहीं भासती। उसे तो 'गणिका' नाम से संकोच है। उसके विषय में स्वयं अधिकरणिक की धारणा है—

तुलनं चाद्रिराजस्य समुद्रस्य च तारणम्।
ग्रहणं चानिलस्येव चारुदत्तस्य दूषणम् ॥२०॥६॥

और स्वयं उसका अभिमान भी—

अपापानां कुले जाते मयि पापं न विद्यते।
यदि संभाव्यते पापमपापेन च किं मया ॥३७॥६॥

सच है किसी 'अपाप' को यदि पाप लग ही गया तो फिर अपाप की घोषणा से क्या? उसके हेतु इतना उद्योग क्यों किया जाय? सो भी तब जब वसन्तसेना जीवित ही नही रही। अस्तु—

न च मे वसन्तसेनाविरहितस्य जीवितेन कृत्यम्।

तथा—

भोः किं बहुना—
मया किल नृशंसेन लोकद्वयमजानता।
स्त्रीरत्नं च विशेषेण शेषमेषोऽभिधास्यति ॥३८॥६॥

पहले भी इसी प्रसंग में अमर्ष में उसने यही कहा था—

मया खलु नृशंसेन परलोकमजानता
स्त्री रतिर्वाविशेपेण शेषमेषोऽभिधास्यति ॥३०॥६॥

पाठ में जो परिवर्तन है वह उसकी चित्तवृत्ति का परिचायक है, पहले 'परलोक' ही सामने था, पर अब 'लोकद्वय' सामने आ गया। कितना खल रहा है चारुदत्त को यह व्यवहार। वह उचित नहीं समझता कि अधिकरण में पहुँच

कर अपनी निर्दोषता का प्रमाण जुटाए। यदि उसका कुल, शील और निर्मल चरित इसके लिए प्रमाण नहीं है तो किसी साखी की उसे आवश्यकता नहीं। करने की कौन कहे, मुँह से भी कदापि वह कह नहीं सकता--'मया व्यापादिता'। नहीं, इसके लिये तो किसी शकार का हृदय चाहिये। फिर भी उसे सुनना यही बदा है। किस वेदना से कलप कर कहता है—

> प्राप्तोऽहं व्यसनकृशां दशामनार्यां,
> यत्रेदं फलमपि जीवितावसानम्।
> एषा च व्यथयति घोषणा मनो मे,
> श्रोतव्यं यदिदमसौ मया हतेति ॥२५॥१०॥

'मया हता' ही तो वह विष-बाण है जिसकी मार से चारुदत्त जी नहीं सकता। इसी से उच्च स्वर से कहा भी उसने—

> भो श्रुतं भवद्भिः—
> न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः।
> विशुद्धस्य हि मे मृत्युः पुत्रजन्मसमो भवेत् ॥२७॥१०॥

संघर्ष—किन्तु किसी 'दूषित' से लगाव होने पर दोष से कोई निबुक कैसे सकता है? इसी से तो आर्य चारुदत्त का विषाद है—

> तेनास्म्यकृतवैरेण क्षुद्रेणात्यल्पबुद्धिना।
> शरेणेव विषाक्तेन दूषितेनापि दूषितः ॥२८॥१०॥

चारुदत्त का चरित कैसा उदात्त था जो वह शकार को 'अकृतवैर' बता रहा है! उसकी चेतावनी तो कभी की चारुदत्त को मिल चुकी थी—

तद्यदि मम हस्ते स्वयमेव प्रस्थाप्यैनां समर्पयसि ततोऽधिकरणे व्यवहारं विना लघु निर्यातयतस्तव मयानुबद्धा प्रीतिर्भविष्यति। अथवा निर्यातयतो मरणान्तिकं वैरं भविष्यति।

[अंक १, ५१ पृ०]

जी हाँ, यदि शकार 'मरणान्तिक वैर' की न ठानता तो चारुदत्त को ,अकृतवैर' की क्यों सूझती? वास्तव में यह है न 'कृतवैर' शकार और

'अकृतवैर' चारुदत्त का वसन्तसेना के निमित्त संघर्ष ? शकार की क्रूरता और चारुदत्त की उदारता पर ही तो यह प्रकरण खड़ा है ? कैसा उदार है यह चारुदत्त कि अंत में इसी दुष्ट शकार के हेतु कहता है वीर शर्विलक से—

शत्रुः कृतापराधः शरणमुपेत्य पादयोः पतितः ।
शस्त्रेण न हन्तव्यः उपकारहतस्तु कर्तव्यः ॥५५॥१०॥

इस सिद्धान्त का प्राणी कभी वैर किसी से कब कर सकता है ? फलतः उसका मोक्ष हुआ । किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि चारुदत्त कभी दुष्टता के प्रति रोष ही नहीं कर सकता ।

ग्लानि—नहीं शकार की दुष्टता से खीझ कर वह कहता भी है—

दुष्टात्मा परगुणमत्सरी मनुष्यो
रागान्धः परमिह हन्तुकामबुद्धिः ।
किं यो यद्वदति मृषैव जातिदोषा—
त्तद्ग्राह्यं भवति न तद्विचारणीयम् ॥२७॥६॥

कहने को शकार के सभी दोष कह दिये गए, पर 'मनुष्य' की ओट में, अत्यक्ष शकार के नाम से नहीं । इसी को कहते हैं शील की रक्षा । 'सपत्न' के प्रति यह उदारता चारुदत्त की थाती है । है, चारुदत्त का दूसरा भी एक अपराधी है; जिसके संबंध में उसकी चिन्ता है—

वैदेश्येन कृतो भवेन्मम गृहे व्यापारमभ्यस्यता,
नासौ वेदितवान्धनैर्विरहितं विस्रब्धसुप्तं जनम् ।
दृष्ट्वा प्राङ्महतीं निवासरचनामस्माकमाशान्वितः,
सन्धिच्छेदनखिन्न एव सुचिरं पश्चान्निराशो गतः ॥२३॥३॥

है न विचित्र बात ? दरिद्र चारुदत्त को दुःख है कि चोर उसके घर से निराश गया और सेंध देने पर भी उसे कुछ न मिला । उसको यह चिन्ता सता रही है कि—

ततः सुहृद्भ्यः किमसौ कथयिष्यति तपस्वी-सार्थवाहसुतस्य गृहं प्रविश्य न किञ्चिन्मया समासादितम् इति ।

इसी चिन्ता में मग्न था कि विदूषक ने 'सुवर्णभांड' जाने की बात कही। दरिद्र चारुदत्त खिल उठे कि चलो उसका श्रम निष्फल तो नहीं गया। परंतु जब सुना कि वह 'न्यास' था तब मूर्च्छा छा गई और बोल उठे—

कः श्रद्धास्यति भूतार्थं सर्वो मा तूलयिष्यति।
शंकनीया हि लोकेऽस्मिन्निष्प्रतापा दरिद्रता ॥२४॥३॥

दिल दहल उठा और जब विदूषक ने 'न्यास' की बात ही को मुकर जाने को कहा तब तत्क्षण कंठ फूट पड़ा—

अहमिदानीमनृतमभिधास्ये ?
भैक्ष्येणाप्यर्जयिष्यामि पुनर्न्यासप्रतिक्रियाम्।
अनृतं नाभिधास्यामि चारित्रभ्रंशकारणम् ॥२६॥३॥

और झटपट चेट को आदेश दिया—

वर्धमानक !
एताभिरिष्टकाभिः सन्धिः क्रियतां सुसंहतः शीघ्रम्।
परिवादबहुलदोषान्न यस्य रक्षां परिहरामि ॥३०॥३॥

सद्व्यवहार—'सन्धि' को देखते ही 'परिवाद' का पारावार उमड़ पड़ेगा और न जाने उसका परिणाम भी क्या होगा। निदान ईंट को ऐसा जुटा दो कि 'सन्धि' का भ्रम जाता रहे। साहु को चोर का पता नहीं, पर चोर साहु को जान गया और समय आने पर उसको प्रिया के साथ जीता देखकर खलक उठा—

अपि ध्रियते चारुदत्तः सह वसन्तसेनया। सम्पूर्णाः खल्वस्मत्स्वामिनो मनोरथाः।

और चारुदत्त के पूछने पर निवेदन किया—

येन ते भवनं भित्त्वा न्यासापहरणं कृतम्।
सोऽहं कृतमहापापस्त्वामेव शरणं गतः ॥५०॥१०॥

किन्तु चारुदत्त ने उत्तर दिया—

सखे ! मैवम् त्वयासौ प्रणयः कृतः।

अपकारी के साथ ऐसा भाव रखनेवाला प्राणी सुलभ कहाँ? शकार ने इसी से तो हारकर इससे कहा था—

यत्तव सदृशं तत्कुरु। पुनर्नेदृशं करिष्यामि।

[अंक १०, ५४ प०]

शरण्य—चारुदत्त ने किया भी वैसा ही और शकार अपने पद पर पूर्ववत् बना रहा। उसे 'उपकारहत' करके छोड़ दिया। इसका अर्थ कहीं यह न समझ लें कि उसमे साहस वा पौरुष का अभाव था। नहीं उसका तो सिद्धान्त ही यह था कि शरणागत को अभय दो। 'अभयं शरणागतस्य' यही उसका पाठ था। यही कारण है कि जब वसन्तसेना के धोखे में 'आर्यक' उसके 'प्रवहण' में चढ़कर उसके पास आ गया और बोला, देखा जाने पर, विश्वास के साथ—

शरणागतो गोपालप्रकृतिरार्यकोऽस्मि।

तब उसने दृढ़ता से कहा—

विधिनैवोपनीतस्त्वं चक्षुर्विषयमागतः।
अपि प्राणानहं जह्यां न तु त्वां शरणागतम् ॥६॥७॥

कारण, वह 'श्रुतिरमणीय' ही नहीं 'दृष्टिरमणीय' भी था और था साथ ही 'प्रकृतिरमणीय' भी। फिर उसमें चरित की आभा क्यों न फूटती और क्यों नहीं उसके कंठ से निकलती यह धारा—

प्राप्यैतद्व्यसनमहार्णवप्रपातं
न त्रासो न च मनसोऽस्ति मे विषादः।
एको मां दहति जनापवादवह्नि—
र्वक्तव्यं यदिह मया हता प्रियेति ॥३३॥१०॥

गृहलक्ष्मी—सच है, संभावित का अपयश-लाभ इसी से तो मरण से भी अधिक दुःखदायी है। जी! उदारसत्त्व चारुदत्त सब कुछ सह सकता है पर 'जनापवाद' कदापि नहीं। सब कुछ सही, पर यदि कहो ब्राह्मणी धूता का कभी कोप जगता तो क्या होता? गृह का गढ़ टूटा नहीं कि शत्रु विजयी। पर यहाँ तो आर्य चारुदत्त का उसके प्रति भाव है—

न महीतलस्थितिसहानि भवच्चरितानि चारुचरिते यदपि।
उचितं तथापि परलोकसुखं न पतिव्रते तव विहाय पतिम् ॥५६॥१०॥

पतिव्रता धूता का पुण्य कहिये कि फिर चारुदत्त का उदय हुआ। उसका अभिमान तो देखिये। किस ताव से कहता है—

कथं ब्राह्मणी मामनुकम्पते। कष्टम्। इदानीमस्मि दरिद्रः।

क्यों ? कारण भी यही सुन लीजिये—

आत्मभाग्यक्षतद्रव्यः स्त्रीद्रव्येणानुकम्पितः।
अर्थतः पुरुषो नारी या नारी सार्थतः पुमान् ॥ २७ ॥ ३ ॥

तो क्या चारुदत्त के जीवन में 'अर्थ' का इतना महत्त्व है ? क्या अर्थ के कारण ही धूता नारी है ? नहीं, यह क्षण भर के लिये उसके चित्त की दुर्बलता और प्रभुता की प्रकृति का भान है। अतः तुरत वह कह बैठता है—

अथवा नाहं दरिद्रः। यस्य मम—
विभवानुगता भार्या सुखदुःखसुहृद्भवान्।
सत्यं च न परिभ्रष्टं यद्दरिद्रेषु दुर्लभम् ॥ २८ ॥ ३ ॥

देखा आपने ? संस्कृत में भार्या को 'गृहलक्ष्मी' यों ही नहीं कहते, वह सचमुच गृहिणी होती भी है। यदि उसमें चरित है तो घर बिगड़ नहीं सकता। बस, इसी 'धूता' के सामने चारुदत्त अपने को 'धूमिल' पा रहे हैं, पर अपना अंग समझ फडक उठते और उसकी कृपा तथा प्रसाद से फिर अपना रंग जमा लेते हैं। इस पतिव्रता की दृष्टि मे चारुदत्त हैं 'अतिशौंडीर'। तभी तो ताड़कर कहती है—

एतामप्यतिशौंडीरतयार्यपुत्रो न ग्रहीष्यति।

[अंक ३, २६ प०]

वर्तमान अर्थवादी भली भाँति देख सकते हैं कि जीवन में अर्थ का कितना महत्त्व है और साथ ही 'सुचरित' में उसका कितना मोल। 'अर्थ' से पुरुष स्त्री है और जो स्त्री है वह 'अर्थ' से पुरुष है, में 'अर्थ' की कैसी महिमा है ! पर साथ ही है यही इसकी समुचित काट भी। टाँक लें, भली भाँति टाँक लें कि दरिद्र चारुदत्त का अध्ययन है—

दारिद्र्याद्ध्रियमेति ह्रीपरिगतः प्रभ्रश्यते तेजसो
निस्तेजाः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते ॥
निर्विण्णः शुचमेति शोकपिहितो बुद्ध्या परित्यज्यते
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम् ॥१४॥१॥

विप्रधन—दरिद्रता के अभिशाप का कैसा सजीव विकास है। फिर भी चारुदत्त इससे विचलित नहीं। वह 'दरिद्र' महाराज के स्वागत में धन लुटाना ही अपना धर्म समझता है और अन्त समय अपना प्राणान्त देखकर अपने प्रिय पुत्र को अपना यज्ञोपवीत उतारकर देता और सविषाद कहता है, किन्तु आन पर अड़ा रह कर—

अमौक्तिकमसौवर्णं ब्राह्मणानां विभूषणम्।
देवतानां पितृणां च भागो येन प्रदीयते ॥१८॥१०॥

भला ब्रह्मसूत्र से बढकर ब्राह्मण का धन क्या जिससे पितृयज्ञ और देवयज्ञ किया जाता है। आर्य चारुदत्त के इतर पदार्थ तो अन्यों को प्राप्त हो चुके, अब रह गया निरा यज्ञोपवीत। सो वह भी दाय रूप में दारक को दान है। कारण चारुदत्त की दृष्टि में यह कि—

तपसा मनसा वाग्भिः पूजिता बलिकर्मभिः।
तुष्यन्ति शमिनां नित्यं देवताः किं विचारितैः ॥१६॥१॥

पूजा-पाठ की यह आस्था चारुदत्त को अपने आसन पर दृढ रखती है। विदूषक भले ही ऊब कर कुछ अन्यथा कराना चाहे; पर दरिद्र चारुदत्त अपने धर्मपथ से कभी हट नही सकता। 'बलि' और 'संध्या' के विना किसी ब्राह्मण का जीवन कैसा? 'वृत्ति' उसकी 'सार्थवाह' की भले ही हो, पर करना तो उसे अपना कर्तव्य ही है न? फलतः मित्र मैत्रेय से आदेश है—

वयस्य! समाप्तजपोऽस्मि। तत्सांप्रतं गच्छ। मातृभ्यो बलिमुपहर।
[अंक १, ३५ प०]

यह तो इसी धर्मबुद्धि का परिणाम है कि उसके द्वारा विदूषक की भाषा में—

तावत्पुरस्थापनविहारारामदेवालयतडागकूपयूपैरलंकृता नगरी उज्जयिनी।
[अंक ६, ३१ पू०]

है किसी संप्रदाय का आग्रह इस प्राणी में ? ब्राह्मण है पर बौद्ध से द्वेष कहाँ ?

स्वभाव—आर्य चारुदत्त की प्रकृति के बारे में अपनी ओर से कुछ क्यो कहा जाय ? उसी के संवाहक से इसे क्यों न झट जान लिया जाय ? उसका कहना है—

इहापि मया प्रविश्योज्जयिनीमेक आर्यः शुश्रूषितः। यस्तादृशः प्रियदर्शनः प्रियवादी दत्त्वा न कीर्तयति अपकृतं विस्मरति। किं बहुना प्रलपितेन ? दक्षिणतया परकीयमिवात्मानमवगच्छति शरणागतवत्सलश्च ॥

[अंक २, १४ पृ०]

अपने आप को ही पराया समझ कर संसार मे काम करना कितना कठिन है ! किन्तु दरिद्र आर्य चारुदत्त ने किया यही है। उसमे कुछ बात ही ऐसी थी कि उस पर दृष्टि पड़ी नही कि स्वयं 'अधिकरणिक' बोल उठा--

अयमसौ चारुदत्तः। य एषः
घोणोन्नतं मुखमपांगविशालनेत्रं,
नैतद्धि भाजनमकारणदूषणानाम्।
नागेषु गोषु तुरगेषु तथा नरेषु
न ह्याकृतिः सुसदृशं विजहाति वृत्तम् ॥१६॥६॥

बात थी तो यही, फिर भी उसे प्राणदंड मिला उसी अधिकरणिक के हाथ। कारण शकार की दुष्टता ही नहीं चारुदत्त का शील भी है। अधिकरण की लीला ही अपार है। यहाँ तो—

छन्नं दोषमुदाहरन्ति कुपिता न्यायेन दूरीकृताः
स्वान्दोषान्कथयन्ति नाधिकरणे सन्तोऽपि नष्टा ध्रुवम्।
ये पक्षापरपक्षदोषसहिताः पापानि संकुर्वते
संक्षेपादपवाद एव सुलभो द्रष्टुर्गुणो दूरतः ॥४॥६॥

अस्तु, जब चारुदत्त से अधिकरणिक का प्रश्न हुआ—

आर्य चारुदत्त ! अस्ति भवतोऽस्या आर्यया दुहित्रा सह प्रसक्तिः प्रणयः प्रीतिर्वा ?

तब चारुदत्त उसका मुँह ताकते रह गये। लज्जावश स्पष्ट उत्तर न दे सके। 'विचार्यताम् भो अधिकृताः विचार्यताम्' की रट लगाते रहे, पर विचार की सामग्री देने में रहे सर्वथा असमर्थ। ऊब कर विदूषक ने जब कहा—

भोः किमर्थं भूतार्थो न निवेद्यते ?

तब झीख कर कह पड़े—

वयस्य !
दुर्बलं नृपतेश्चक्षुर्नैतत्तत्त्वं निरीक्षते।
केवलं वदतो दैन्यमश्लाघ्यं मरणं भवेत् ॥३२॥६॥

इसी से तो आर्या धूता ने कहा था इन्हें 'अतिशौंडीर'। लम्बी नाक के लोग प्रायः ऐसा ही सोचा करते हैं। नाक न कटे चाहे प्राण भले ही चला जाय। चारुदत्त का मरण 'अश्लाघ्य' हो, यह डूब मरने की बात है। वह ऐसा कर नहीं सकता। फलतः फल मिला प्राणदंड। अन्याय से ब्रह्मतेज जगा तो आकाश से गोहार लगी और यह शाप दिया—

विषसलिलतुलाग्निप्रार्थिते मे विचारे
क्रकचमिह शरीरे वीक्ष्य दातव्यमद्य।
अथ रिपुवचनाद्वा ब्राह्मणं मां निहंसि
पतसि नरकमध्ये पुत्रपौत्रैः समेतः ॥४३॥६॥

चारित्र—'अग्निपरीक्षा' में 'ब्राह्मण' खरा उतर सकता है, पर रिपुवचन-प्रधान अधिकरण के न्याय में नहीं। कारण, उसका 'व्यवहार' ही जो और है। उसको कलक तो इस बात की है कि धन गया तो जाय पर 'चारित्र' को चुनौती कैसी। तभी तो किसी उत्तेजना में कहता है—

भोः कष्टम्।

यदि तावत्कृतान्तेन प्रणयोऽर्थेषु मे कृतः।
किमिदानीं नृशंसेन चारित्रमपि दूषितम् ॥२५॥३॥

अच्छा, तो जिस 'चारित्र' का चारुदत्त को इतना अभिमान है, वास्तव में वह है क्या? बहुत कुछ उसका दर्शन तो पहले ही हमें हो गया है, किंतु तो भी संक्षेप में यहाँ इतना और जान लें कि उसी की बोली में—

भद्र ! न कदाचित्प्रियवचनं निष्फलीकृतं मया । तद्गृह्यतां पारितोषिकम् ॥

[अंक ५, १२ पू०]

'पारितोषिक' का दाता इसी से वसन्तसेना को भाता भी है, एक नहीं अनेक अवसर पर । परन्तु उसका सबसे बड़ा गुण है शरणागत को अभय करना । आर्यक सा राजशत्रु कारागार से भाग कर उसकी शरण में आया नहीं कि उसने अभय किया और अपना दृढ संकल्प सुनाया—

विधिनैवोपनीतस्त्वं चक्षुर्विषयमागतः ।
अपि प्राणानहं जह्यां न तु त्वां शरणागतम् ॥६॥७॥

तभी तो बड़े आवेग में 'चन्दनक' ने 'वीरक' से कहा था—

कस्तं गुणारविन्दं शीलमृगांकं जनो न जानाति ।
आपन्नदुःखमोक्षं चतुःसागरसारं रत्नम् ॥१३॥६॥

किन्तु इस 'शीलमृगांक' को केवल लांछन ही नहीं लगा, अपितु शकाररूपी राहु ने इसे ग्रस भी लिया । सो कैसे, इसे हम आगे देखेंगे । यहाँ तो इस 'धर्म-निधि', 'शीलमृगांक' और 'उदारसत्त्व' के लिए इतना ही पर्याप्त है । कारण—

दीनानां कल्पवृक्षः स्वगुणफलनतः सज्जनानां कुटुम्बी,
आदर्शः शिक्षितानां सुचरितनिकषः शीलवेलासमुद्रः ।
सत्कर्त्ता नावमन्ता पुरुषगुणनिधिर्दक्षिणोदारसत्त्वो,
ह्येकः श्लाघ्यः स जीवत्यधिकगुणतया चोच्छ्वसन्तीव चान्ये ॥४८॥१॥

में क्या नहीं कह दिया गया है जो इसे और भी बढ़ाया जाय ?

मांसवृक्ष शकार

हृदयवादी—'मरणान्तिकं वैरं' की घोषणा करने वाले पंडितंमानी राज-श्यालक शकार को अपने 'हृदय' का इतना भरोसा है कि उसी के आदेशानुसार वह 'भिक्षु' के साथ व्यवहार करना ठीक समझता है । इसके संबंध में 'विट' से जो उसकी बात-चीत होती है वह है ध्यान देने की । सुनिये—

विटः—किमनेन ताडितेन तपस्विना ? मुच्यताम् । गच्छतु ।
शकारः—अरे तिष्ठ तावत् यावत्संप्रधारयामि ।

विटः—केन सार्धम् ?

शकारः—आत्मनो हृदयेन।

विटः—किं ब्रवीति ?

शकारः—मापि गच्छतु मापि तिष्ठतु। माप्युच्छ्वसितु मापि निश्वसितु। इहैव झटिति पतित्वा म्रियताम्।

[अंक ८, ५ प०]

'शकार' के इस 'हृदय' को समझ सकना खेल नहीं। चीवर-प्रक्षालन का यह दंड! यह न सही तो—

तथा कर्दमं प्रक्षिपतु यथा पानीयं पंकाविलं न भवति। अथवा पानीयं पुंजीकृत्य कर्दमे क्षिपतु।

भाव यह कि कुछ ऐसा दड जो दंड के लिये ही हो और जिससे मुक्त होना संभव न हो। है न एक यह भी 'हृदय' जो इस प्रकार की मंत्रणा देता है? इसी से हार मान कर विट भी तो यही कह कर संतोष करता है—

विपर्यस्तमनश्चेष्टैः शिलाशकलवर्ष्मभिः।
मांसवृक्षैरियं मूर्खैर्भाराक्रान्ता वसुन्धरा ॥६॥८॥

सच है, ऐसे मांसवृक्षो के भार से वसुन्धरा मुक्त कब हुई? यहाँ तक तो बात ही बात रही और बातो से बहल कर उसने भिक्षु को किसी प्रकार जाने दिया। परन्तु आगे चल कर एक ऐसा भी अवसर उपस्थित हुआ कि इस 'हृदय' को क्रीडा की सूझी और उसने इसी 'विट' से प्रस्ताव किया—

भाव! प्रसीद प्रसीद। एहि नलिन्यां प्रविश्य क्रीडावः।

[अंक ८, ४१ प०]

आप जानते है कि यह जलक्रीडा का प्रस्ताव होता कब है? तभी जब वसन्तसेना की हत्या पर विट धिक्कार कर कह उठता है—

अप्रीतिर्भवतु विमुच्यतां हि हासो,
धिक्प्रीतिं परिभवकारिकामनार्याम्।
मा भूच्च त्वयि मम संगतं कदाचि—
दाच्छिन्नं धनुरिव निर्गुणं त्यजामि ॥ ४१ ॥ ८ ॥

और जब उसका प्रस्ताव निष्फल जाता है तब यह रंग गाँठता है—

मदीये पुष्पकरण्डकजीर्णोद्याने वसन्तसेनां मारयित्वा कुत्र पलायसे ? एहि। मम आवुत्तस्याग्रतो व्यवहारं देहि।

[अंक ८, ४३ प०]

विट आवेश में आकर खड्ग खींचता है तो झट पलट कर बोल पड़ता है—

किं रे भीतोऽसि तद्गच्छ।

'विट' गया तो 'चेट' से प्रश्न हुआ—

निधनं गच्छ। अरे स्थावरक ! पुत्रक !! कीदृशं मया कृतम् ?

उत्तर मिला—

भट्टक ! महद्कार्यं कृतम्।

ज्ञानबन्धु—अलंकारों का मोह जब 'चेट' को न घेर सका और उसने शकार के आदेशानुसार प्रस्थान किया तब उसे 'वसन्तसेना', 'चारुदत्त' और अपनी सूझी। वसन्तसेना को तो मरी समझ सूखे पत्तों से तोप दिया और झट निश्चय किया—

चारुदत्तविनाशाय करोमि कपटं नवम्।
नगर्यां विशुद्धायां पशुघातमिव दारुणम् ॥४४॥८॥

संयोग से फिर वही 'दुष्टश्रमणक' दृष्टिपथ में आ गया, जिसकी नाक छेद कर उसे बहुत घसीटा था, तो रहस्यभेदन के डर से पलायन किया और अर्ध-पतित प्राकारखंड को कूद क्या गया अपनी दृष्टि में 'हनूमान्' बन गया, पर 'विपर्यस्तमन' तो यहाँ भी बना रहा। देखिये आप ही उमंग में आकर कहता है—

एषोऽस्मि त्वरितत्वरितो लंकानगर्यां गगने गच्छन्।
भूम्यां पाताले हनूमच्छिखर इव महेन्द्रः ॥४५॥८॥

'हनूमच्छिखर' पर स्थित इस 'शकार' को त्रिलोक का कितना पता है कि 'महेन्द्र' भी कही से आ गये और उसकी तुलना मे कृतकृत्य हुए। होते भी, क्यों नहीं ? हनूमान् सेवक ठहरे और 'महेन्द्र' सेव्य। फिर इतिहास भी इस

उलटी खोपड़ी में सीधा कैसे रहे और वह भी पात्रानुकूल क्यों न बन जाय? देखिये न इस ज्ञानबन्धु की वसन्तसेना को धमकी है—

चाणक्येन यथा सीता मारिता भारते युगे।
एवं त्वा मोटयिष्यामि जटायुरिव द्रौपदीम् ॥३५॥८॥

कीजिएगा क्या, शकार का चित्त ही कुछ ऐसा है कि जो कुछ इसमे पड़ा अस्तव्यस्त हो गया। ऐसा गड्डमड्ड अथवा उलट-पुलट का मस्तिष्क और कहाँ? प्रतीत होता है कि वह सदा स्वप्न ही में रहता है और उसी के परिणाम स्वरूप इस प्रकार बर्राता रहता है। नही तो जो कुछ उसके दिमाग मे पड़ता इतना अंट-संट क्यों बन जाता? कितना विचित्र है वह प्राणी जिसकी चिन्ता है—

भाव! भाव!
एषा नाणकमोषिकामकशिका मत्स्याशिका लासिका
निर्नासा कुलनाशिका अवशिका कामस्य मंजूषिका।
एषा वेशवधूः सुवेशनिलया वेशांगना वेशिका
एतान्यस्या दश नामकानि मया कृतान्यद्यापि मां नेच्छति ॥२३॥१॥

कुशल कहिये कि गणिका-सहस्रनाम न बन गया नहीं तो 'इच्छा' का प्रश्न ही नही उठता। 'निर्नासा-कुलनाशिका' के नाम ही रिझाने को क्या कम थे कि 'अवशिका' कह दिया गया? और यह घुडकी दी गई—

असिः सुतीक्ष्णो वलितं च मस्तकं कल्पये शीर्षमुत मारयामि वा।
अलं तवैतेन पलायितेन मुमूर्षुर्यो भवति न स खलु जीवति ॥३०॥१॥

और समझा गया कि डराने-धमकाने से गणिका का प्रेम मिलेगा। परंतु जब 'हृदय' की वह दशा ठहरी तब किसी शकार को कहा ही क्या जाय? गणिका वसन्तसेना को कामुक शकार का 'कामयितव्यः' चुभ गया और फलतः बदले में फटकार मिली—

शान्तं शान्तम्। अपेहि। अनार्यं मन्त्रयसि।

फिर क्या था, मूढ को यह 'शान्त' ही मेवा हो गया। उसने 'शान्त' को 'श्रान्त' समझ लिया। 'विट' ने उसकी ओर से वसन्तसेना को समझाया तो उसने स्पष्ट उत्तर दिया—

गुणः खल्वनुरागस्य कारणम्। न पुनर्बलात्कारः।

[अंक १, ३२ प०]

किन्तु 'बलात्कार' का पथिक 'अनुराग' को क्या जाने ? निदान उसके हाथ से गणिका का बध हुआ।

दुर्विदग्ध—मूर्ख भी यह कैसा निकला कि स्वयं गणिका को चारुदत्त का घर बता दिया इसने—

भाव भाव! एषा गर्भदासी कामदेवायतनोद्यानात्प्रभृति तस्य दरिद्र-चारुदत्तस्यानुरक्ता न मां कामयते। वामतस्तस्य गृहम्। यथा तव मम च हस्तान्नैषा परिभ्रश्यति तथा करोतु भावः।

[अंक १, ३२ प०]

'विट' का संकेत पा वसन्तसेना तो निबुक दबकी, पर शकार अंधकार में एक एक को गणिका समझता रहा। 'विट' तक तो कोई बात न थी, 'चेट' भी अपना ही था, पर जब चारुदत्त की चेटी 'रदनिका' पर हाथ पड़ा और उसका केश भली भाँति हाथ मे आ गया तब तो सिंह बनकर गरज उठा—

एषासि वासु शिरसि गृहीता केशेषु बालेषु शिरोरुहेषु।
आक्रोश विक्रोश लपाधिचण्डं शंभुं शिवं शंकरमीश्वर वा ॥४१॥१॥

शंभु, शिव, शंकर और 'ईश्वर' को चुनौती देनेवाला 'शकार' विदूषक के 'दंडकाष्ठ' का सामना तो नही करता, पर जब विट रदनिका के 'उपमर्द' पर क्रुद्ध होता और विदूषक को किसी प्रकार पैर पर गिर कर शान्त करता है, तब अवश्य भभक उठता है और विट से 'असूया' में आकर कहता है—

किं निमित्तं पुनर्भाव एतस्य दुष्टबटुकस्य कृपणांजलिं कृत्वा पादयोर्निपतितः।

और विट जब चारुदत्त का गुण गाता है तब तो ब्लक कर बोल उठता है—

कः स गर्भदास्याः पुत्रः ?

शूरो विक्रान्तः पाण्डवः श्वेतकेतुः पुत्रो राधाया रावण इन्द्रदत्तः।
आहो कुन्त्यां तेन रामेण जातः अश्वत्थामा धर्मपुत्रो जटायुः ॥४७॥१॥

'ज्ञानलवदुर्विदग्ध' शकार भला विट की बात कब मान सकता था ?

उसके रुष्ट होकर चले जाने पर 'मरणान्तिक वैर' का सन्देश सुनाने का आग्रह कर उसने विदूषक को फिर सावधान किया—

अन्यथा यदि भणसि तदा कपाटप्रविष्टकपित्थगुलिकमिव मस्तकं ते मडमडायिष्यामि ।

[अंक १, ५१ प०]

प्रथमश्री—'बलात्कार' की असफलता से शकार हताश नहीं हुआ । नहीं, अब तो उसे प्रलोभन की सूझी और वसन्तसेना की माता को मुट्ठी में कर उसे भोगना चाहा । फलतः 'सुवर्णदशसाहस्रिक अलंकार' की भेंट हुई और 'गृहीत।वगुंठन प्रवहण' भी पहुँच गया द्वार पर । जी ! जी पर खेली हुई वसन्तसेना तो शकार के हाथ से फुर्ती से निकल गई, किंतु दैव की मारी वसन्तसेना आप ही उसके पंजे में जा पड़ी । शकार को प्रवहण में उसका दर्शन हुआ तो भयवश उसे 'राक्षसी वा चोर' समझा और विट से बोला—

कातरः खल्वेष वृद्धचेटः प्रवहणं नावलोकयति । भाव आलोकय प्रवहणम् ।

विट की दृष्टि वसन्तसेना पर पड़ी और वसन्तसेना को उसका भ व मिला तो वह शरणागत हो गई । विट ने रक्षा का जो उपाय किया निष्फल गया और शकार धोखा देने में सफल रहा । वज्रमूढ़ में इतनी प्रतिभा कहाँ से आ गई ? निश्चय ही यह एक विचारणीय विषय है । सो हमारी दृष्टि में इसका निर्देश नाटक में शूद्रक ने कर दिया है । वसन्तसेना की हत्या के अनन्तर हम देखते हैं कि शकार उद्विग्न हो जाता है और मन बहलाव के लिए नाना यत्न करता है । सुनिये उसी का कहना है—

स्नातोऽहं सलिलजलैः पानीयैरुद्यान उपवनकानने निषण्णः ।
नारीभिः सह युवतीभिः स्त्रीभिर्गन्धर्व इव सुविहितैरंगकैः ॥१॥
क्षणेन ग्रन्थिः क्षणजूटको मे क्षणेन बालाः क्षणकुन्तला वा ।
क्षणेन मुक्ताः क्षणमूर्ध्वचूडाश्चित्रो विचित्रोऽहं राजश्यालः ॥२॥८॥

'राजश्याल' शकार की इस आत्मशंसा में बहुत कुछ देखने की बात है । 'चित्रो विचित्रोऽहं राजश्याल' में जो चित्रता और विचित्रता है वास्तव में वह

प्रकृतिजन्य है वा है उपार्जित। प्रकृति भले ही उसकी विचित्र हो, पर उसकी उस सारी विचित्रता में बड़ा योग है इस पद का। ध्यान देने की बात है कि अब तक उसका सारा काम 'संस्थापक' वा राजश्यालक के रूप में होता रहा है; पर अभी अभी जो कार्य उससे हो गया है वह किसी प्रकार उसके पद के साथ जुट नहीं सकता। नहीं, वह तो उसका व्यक्तिगत आचरण है और व्यक्तिगत काम के लिए ही किया भी गया है। निदान उसका फल भी उसे व्यक्तिगत रूप में ही भोगना होगा। साथ ही वसन्तसेना की इस उक्ति पर ध्यान दें तो पहेली आप ही पानी हो जाय। कितने पते की बात है। वह कहती है—

उन्नमति नमति वर्षति गर्जति मेघः करोति तिमिरौघम्।
प्रथमश्रीरिव पुरुषः करोति रूपाण्यनेकानि ॥२६॥१॥

'प्रथमश्री' पर विशेष ध्यान देना चाहिए और यह समझ लेना चाहिए कि शकार भी है 'प्रथमश्री पुरुष' ही। आज जो कुछ उसकी मर्यादा है वह 'दाय' में नहीं 'भगिनी' के प्रसाद से मिली है। इसी से वह तुनक कर कहता भी है—

आः किं न दृश्यते मम व्यवहारः। यदि न दृश्यते तदावुत्तं राजानं पालकं भगिनीपतिं विज्ञाप्य भगिनीं मातरं च विज्ञाप्यैतमधिकरणिकं दूरीकृत्यात्रान्यमधिकरणिकं स्थापयिष्यामि।

[अंक ९, ५ प०]

वञ्चक—शकार के इस कथन से सिद्ध ही है कि वह व्यक्तिगत रूप में 'कार्यार्थी' बना है और राजा से अपने संबंध की धमकी दे अपना काम निकालना चाहता है। यही कारण है कि अब उसकी सहज प्रतिभा का प्रकाश होता है और संकट के प्रसंग में कुछ अधिक सूझ से काम लेता है। प्रतिक्रिया के रूप में जब उसे वसन्तसेना के बध की सूझी तब उस की दुष्ट प्रकृति भी कुछ अधिक सचेत हो उठी। फिर तो वह चरका दिया कि विट महाराज भी कुछ न कर सके। उन्होने सोचा—

अस्मत्समक्षं हि वसन्तसेना शौण्डीर्यभावान्न भजेत मूर्खम्।
तस्मात्करोम्येष विविक्तमस्या विविक्तविश्रम्भरसो हि कामः ॥३०॥८॥

तो भी जाते जाते 'शरणागत' वसन्तसेना को 'न्यास' के रूप में छोड़ गये उस कामुक आततायी के हाथ में। उसने भी गहरा विश्वास दिलाया। देखा कि विट सहसा उसका विश्वास नहीं कर सकता तो कुसुमचयन से अपने को मंडित किया और वसन्तसेना से प्रेम-भाव दिखाने लगा। ठीक ही तो उसने सोचा था—

अथवा कपटकापटिक एष ब्राह्मणो वृद्धश्रृगालः कदाचिदपवारितशरीरो गत्वा श्रृगालो भूत्वा कपटं करोति।

अतएव कठिन कामी के रूप में कहना आरंभ किया—

बाले! बाले!! वसन्तसेने!!! एहि!

[अंक ८, ३१ पू०]

शकार ने किस चातुरी से 'चेट' और 'विट' से आँख बचा वसन्तसेना का वध किया, इसे इस प्रकरण में भली भाँति देखा जा सकता है; पर फिर भी जो आँख से ओझल रह जाता है वह है उसका यह सहज ज्ञान। सो बात यह है कि इस समय शकार पर राजश्यालता का प्रभाव नहीं है। आर्य चारुदत्त की दरिद्रता के सामने उसका रत्ती भर भी मोल नहीं है। फिर शकार वसन्तसेना को पा कहाँ से सकता है और 'राजश्याल' तथा 'प्रवर मनुष्य' होकर भी इस अपमान को कैसे सह सकता है? परिणाम स्वरूप वसन्तसेना का वध निश्चित है। पर हो कैसे? विट 'अधर्मभीरु' ठहरा और चेट 'परलोकभीरु'। दोनों में से एक भी साथ देने को उद्यत नहीं। निदान उपाय से उन्हें दूर कर उसका गला घोंट दिया गया। 'सपत्न' के भोग की आशंका जाती रही। शकार की वस्तुतः है यह क्रूर नर-लीला, राजश्याल-लीला कदापि नहीं। वसन्तसेना की इस वाणी से उसे कितनी उत्तेजना मिली होगी—

हा आर्यचारुदत्त! एष जनोऽसंपूर्णमनोरथ एव विपद्यते।

तभी तो सुनते ही गला पकड कर कह बैठा—

म्रियतां गर्भदासी म्रियताम्।

कार्यार्थी—सच है अपमान के सामने कामवासना क्या है? सो भी 'सपत्न' वा 'रकीब' के प्रसंग में। विजयी का पारा गरम हुआ तो उधर से विट महराज भी सचेट आ पहुँचे। वसन्तसेना का प्रेत शरीर देखा तो मूर्छा में आ

गये। शकार ने समझा चलो यह बाधा भी दूर हुई। किंतु जब उसका भ्रम दूर हुआ और भाव जीते-जागते जान पड़े तब आत्मरक्षा की सूझी। एक से बढ़कर एक प्रलोभन ! पर परिणाम सब का वही। विट के 'खड्ग' से तो कुछ वश न चला, पर चेट बन्दी कर दिया गया। अब चारुदत्त के निधन की सूझी, व्यवहार में जो उपद्रव किया वह उसकी प्रकृति के अनुसार ही था। वहाँ अपने पद की धौंस दिखा झट अपना इष्ट साध लिया। घबराहट में पहले कुछ गड़बड़ाया, किन्तु फिर सचेत होकर सब प्रकार से अपने को सँभाल लिया। उसने जब देखा कि अधिकरण में उसका आतंक पर्याप्त है तब बिल्ली से शेर बन गया। उसने सोचा—

प्रथमं भणन्ति न दृश्यते सांप्रतं दृश्यत इति। तन्नाम भीतभीता अधिकरणभोजकाः यद्यदहं भणिष्यामि तत्तत्प्रत्याययिष्यामि।

[अंक ९, ६ प०]

फलतः आरम्भ किया कहना—

एवं भणामि। अपराद्धस्यापि न च मे किमपि करिष्यति।

जब स्थिति यह है तब व्यवहार मे न्याय कैसा ? प्रथम वाक्य से 'अपराध' की ध्वनि फूटी तो अंत में वह प्रकट हो गयी—

बाहुपाशबलात्कारेण वसन्तसेनामारिता। न मया।

'न मया' ने तो सब कुछ कह दिया। शकार ने देखा कि अधिकरणिक ने इसे टाँक भी लिया तो तुरत बोला—

अहो अधिकरणभोजकाः। ननु भणामि मयैव दृष्टा। किं कोलाहलं कुरुत।

इतना कह कर पैर से पहले का लिखा हुआ मिटा दिया। शकार ने अधिकरण में जो दुष्टता की उसके लेखा से लाभ क्या ? 'पालक' का लाड़ला साला क्या नहीं कर सकता ? तभी तो विट ने निश्चय कर लिया था—

यत्रार्यशर्विलकचन्दनकप्रभृतयः सन्ति तत्र गच्छामि।

[अंक ८, ४३ प०]

अधिकरण में चारुदत्त के आदर-सत्कार से जल कर बोल उठा—

अहो न्याय्यो व्यवहारः ? अहो धर्म्यो व्यवहारः !! यदेतस्मै स्त्रीघातकायासनं दीयते ।

और जब चारुदत्त से पूछा गया—

आर्य ! गणिका तव मित्रम् ?

तब असमंजस में पडे चारुदत्त को बढावा दिया कि सत्य से न विचलो । देखने का है यह रूप उसका । किस भाव से कहता है—

लज्जया भीरुतया वा चारित्रमलीकं निगूहितुम् ।
स्वयं मारयित्वार्थकारणादिदानी गूहति न तद्धि भट्टकः ॥१७॥९॥

सुदुःसह—चारुदत्त को उसके विषय में जो कुछ कहना था, यह था—

त्वया सह मम व्यवहारः सुदुःसहः ।

शकार ने जिस धत्ते से चारुदत्त को घातक सिद्ध कर दिया उसमें 'भवितव्यता' के अतिरिक्त उसकी चातुरी तथा चारुदत्त का भोलापन भी था । विदूषक भी भाग्यवश यहाँ विपरीत दिशा में ही काम कर गया । पीछे पडकर शकार ने चारुदत्त से कहला सा लिया मौन रूप में 'मया मारिता' । फिर प्राणदंड में विलम्ब कैसा ? और शकार की श्रद्धा में—

योऽपि किल शत्रुं व्यापाद्यमानं पश्यति तस्यान्यस्मिञ्जन्मान्तरेऽक्षिरोगो न भवति ।

[अंक १०, २६ प०]

कर्म का मारा 'जन्मान्तर' में 'अक्षिरोग' से बचना चाहा तो चेट का सामना करना पडा । परन्तु सूझ ने यहाँ भी काम दिया । जब किसी प्रलोभन से काम न चला तब यह ब्रह्मास्त्र निकला—

हहो चांडालाः मया खल्वेष सुवर्णभांडारे नियुक्तः । सुवर्णं चोरयन्मारितस्ताडितः तद्यदि न प्रत्ययेथे तदा पृष्ठं तावत्पश्यतम् ।

[अंक १०, ३१ प०]

शकार यहाँ भी विजयी रहा और रोते रोहसेन को देखकर किस कठोरता से कहा—

सपुत्रमेवैतं मारयतम्।

किन्तु भाग्य ने पलटा खाया और वसन्तसेना जीती-जागती प्रकट हुई तो सारी किल्ली भूल गई। भागना भी दूभर हो गया। वसन्तसेना ने वध्यमाला को उतार कर जब उसके ऊपर डाल दिया तब उसने गिड़गिड़ा कर अपने भाव में कहा—

गर्भदासीपुत्रि प्रसीद प्रसीद। न पुनर्मारयिष्यामि। तत्परित्रायस्व।

हो गया, ऐसे अधम का परित्राण हो गया, आर्य चारुदत्त के प्रसाद से। अन्यथा पिस जाता वह क्रान्तिकारी शर्विलक के कोप में। और रह गया अपने स्थान पर वह यथापूर्व। 'राजश्याल' नही 'संस्थानक' के रूप में। आर्य चारुदत्त की कृपा से। उपकारहत! अपकारकर्ता!!

साहसी शर्विलक

कर्ममार्गी—शकार ही नही, शूद्रक ने एक दूसरे भी ऐसे प्राणी की सृष्टि की है जो उससे भी कही अधिक दृढता तथा आवेश के साथ कह सकता है—

आः दुरात्मन् चारुदत्तहतक अयं न भवसि।

[अंक ४, १७ पृ०]

किन्तु आगे चलकर कुछ और भी समर्थ क्या, सर्वसमर्थ बन जाने पर मग्न हो आप ही निश्चित करता है—

मोदयेऽहं व्यसनगतं च चारुदत्तम्॥४७॥१०॥

और सोचता है—

अपि नामायमारम्भः क्षितिपतेरार्यकस्यार्यचारुदत्तस्य जीवितेन सफलः स्यात्।

[अंक १०, ४८ पृ०]

और जब भीड़ को चीर कर सामने पहुँचता है तब पास जाने में संकोच होता है; किन्तु क्षण भर को ही। कर्ममार्गी संकोची नही हो सकता। अतः उसका क्रूर निश्चय होता है—

सर्वत्रार्जवं शोभते ।

और चट सीधे हाथ जोड़कर चारुदत्त को बडे भाव से पुकारता है । चारुदत्त विस्मय में परिचय पूछते है तो इधर से उत्तर मिलता है ।

येन ते भवनं भित्त्वा न्यासापहरणं कृतम् ।
सोऽहं कृतमहापापस्त्वामेव शरणं गतः ॥५०॥१०॥

तो क्या यह प्राणी सचमुच न्यासापहारी चोर है ? जी हाँ, उसीका उद्गार है—

कामं नीचमिदं वदन्तु पुरुषाः स्वप्ने च यद्वर्धते,
विश्वस्तेषु च वञ्चनापरिभवश्चौर्यं न शौर्यं हि तत् ।
स्वाधीना वचनीयतापि हि वरं बद्धो न सेवाञ्जलि-
र्मार्गो ह्येष नरेन्द्रसौप्तिकवधे पूर्वं कृतो द्रौणिना ॥११॥३॥

तथा साथ ही यह अभिमान भी—

नो मुष्णाम्यबलां विभूषणवतीं फुल्लामिवाहं लतां,
विप्रस्वं न हरामि काञ्चनमथो यज्ञार्थमभ्युद्धृतम् ।
धात्र्युत्संगगतं हरामि न तथा बालं धनार्थी क्वचित्
कार्याकार्यविचारिणी मम मतिश्चौर्येऽपि नित्यं स्थिता ॥६॥४॥

कैसा अद्भुत है यह चोर जो इस विश्वास से कह सकता है—

कार्याकार्यविचारिणी मम मतिश्चौर्येऽपि नित्यं स्थिता ।

और क्यों न हो उसे ऐसा निकृष्ट काम करने पर भी ऐसा अभिमान ? जब उसका सिद्धान्त है—

स्वाधीना वचनीयतापि हि वरं बद्धो न सेवाञ्जलिः ।

मर्यादावादी—बस 'सेवा' को छोडकर 'स्वाधीनता' के लिये वह सब कुछ कर सकता है । हाँ, किन्तु विचार के साथ ही । कहें तो आज कितने क्रांतिकारी हैं जो हृदय पर हाथ रखकर अपने आचरण का ऐसा अभिमान कर सकते हैं ? आज 'कार्याकार्य' का 'विचार' कितनो में रह गया है ? तभी तो उसका परिणाम भी दुःखद और भयंकर हो रहा है ! क्यों न हो ? कहाँ

शर्विलक का उदार 'लोकानुग्रह' और कहाँ आज का सर्वग्रास आन्दोलन ! अच्छा, तो यह भी स्मरण रहे कि उसी का यह भी संकल्प है—

अन्यासु भित्तिषु मया निशि पाटितासु,
क्षारक्षतासु विषमासु च कल्पनासु ।
दृष्ट्वा प्रभातसमये प्रतिवेशिवर्गो
दोषांश्च मे वदति कर्मणि कौशलं च ॥१४॥३॥

'दोष' भले ही करना पड़े पर 'कौशल' को हाथ से न जाने दो। यही कर्ममार्ग की पहली सीख है। देखिये न अर्थकामना से प्रेरित हो सेंध देना चाहता है और बडी तन्मयता से सोचता है—

देशः को नु जलावसेकशिथिलो यस्मिन्न शब्दो भवे-
द्भित्तीनां च न दर्शनान्तरगतः सन्धिः करालो भवेत् ।
क्षारक्षीणतया च लोष्टककृशं जीर्णं क्व हर्म्यं भवे-
त्कस्मिन्स्त्रीजनदर्शनं च न भवेत्स्यादर्थसिद्धिश्च मे ॥१२॥३॥

देखा न 'स्त्रीजनदर्शन' न हो, पर 'अर्थसिद्धि' हो 'हर्म्य' मे। कितना कठिन है यह व्रत ! 'स्त्रीजनदर्शन' का अनर्थ क्या, जो न हो। आप माने वा न माने, पर उसका कथन है—

परिजनकथासक्तः कश्चिन्नरः समुपेक्षितः ।
क्वचिदपि गृहं नारीनाथं निरीक्ष्य विवर्जितम् ॥३॥४॥

क्यों ? 'नारीनाथ गृह' पर यह कृपा क्यों ? निवेदन है आर्य मर्यादा के कारण एकान्त मे 'स्त्रीजनदर्शन' निषिद्ध जो है। और जिस घर में पुरुष नहीं उसमें सेंध लगाना क्या ठीक है ? तो फिर वह चोरी करता ही क्यो है ? वही 'स्वाधीनता' के लिये। एक गणिका की मुक्ति के लिये। उसी की विज्ञप्ति है—

गणिकामदनिकार्थमकार्यमनुतिष्ठामि ।

[अक ३, १८ प०]

चतुर्वेदी—अच्छा तो यह अकार्यकारी है कौन ? लीजिए उसका परिचय है—

अहं हि चतुर्वेदविदोऽप्रतिग्राहकस्य पुत्रः शर्विलको नाम ब्राह्मणः ।

ब्राह्मण शर्विलक का यह परिचय कितना ग्लानिमय है । 'अप्रतिग्राहक' का पुत्र 'जय हो यजमान' कहकर भी तो नहीं जी सकता ! वह तो आया था उज्जयिनी में यह सोचकर कि 'आर्यक' राजा होगा । उसके हेतु कुछ कार्य करना चाहिए । कहाँ नेह लग गया एक गणिका से । भाग्यवश सो भी दासी । निदान निश्चय किया उद्धार का । राग का मारा ठहरा । चोरी को निकला तो 'प्रमाणसूत्र' ही भूल गया । सोचा तो 'ब्रह्मसूत्र' पर ध्यान गया । उससे प्रमाणसूत्र का काम निकला । जी खिल उठा । 'यज्ञोपवीत' का उपयोग समझ में आ गया । कहा भी—

यज्ञोपवीतं हि नाम ब्राह्मणस्य महदुपकरणद्रव्यम् विशेषतोऽस्मद्विध-स्य कुतः—

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्गमेतेन मोचयति भूषणसंप्रयोगान् ।
उद्घाटको भवति यन्त्रदृढे कपाटे दष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनं च ॥१६॥३॥

फिर भी लोगो की मूढता तो देखिये कि आज ताला-कुंजी के घोर युग में उसका बहिष्कार हो रहा है और बहुत थोडे से चतुर लोग ही उसे ताली बाँधने के काम मे लाते हैं । जो हो, 'हर्म्य' का रंग-ढग देखकर शर्विलक समझ गया कि यहाँ भी लक्ष्मी के स्थान पर दरिद्रता का वास है । सोचा—

अथवा न युक्तं तुल्यावस्थं कुलपुत्रजनं पीडयितुम् । तद्गच्छामि ।

किन्तु तपस्वी करे क्या ? उधर ब्राह्मण की गोहार लगी—

भो वयस्य शापितोऽसि गोब्राह्मणकाम्यया यद्येतत्सुवर्णभाण्डं न गृह्णासि ।

[अंक ३, १८ प०]

स्वाभिमानी—निदान 'गोब्राह्मण भक्त' प्राणी को उसका सत्कार करना पड़ा । सुवर्णभांड लेकर गणिका के पास पहुँचा तो वहाँ और ही स्थिति का सामना करना पड़ा । प्रिया ने इस साहस कर्म का नाम सुना तो किस ग्लानि से कह दिया—

शर्विलक ! स्त्रीकल्यवर्तस्य कारणेनोभयमपि संशये विनिक्षिप्तम् ।

शर्विलक ने व्याख्या में 'शरीर' और 'चरित्र' का नाम सुना तो बरस पड़ा—

अपंडिते ! साहसे श्रीः प्रतिवसति ।

[अंक ४, ५ प०]

माना, मदनिका ने मान लिया कि शर्विलक का चरित्र ठीक है । परन्तु पूछे जाने पर भी जब उसे शर्विलक ने न बताया कि अलंकार किसके हैं तब वह गरम पड़ी और ताव में आकर बोली कि यदि विश्वास नही तो मुक्त कराने का उद्योग क्यो ? झख मार कर उसे बताना पडा 'सार्थवाह' चारुदत्त का नाम । सुनना था कि मदनिका मूर्च्छित हो चली । प्रेमी व्याकुल हो बोल उठा—

विषादस्रस्तसर्वांगी संभ्रमभ्रान्तलोचना ।
नीयमानाभुजिष्यात्वं कम्पसे नानुकम्पसे ॥८॥४॥

उत्तर की आवश्यकता नही । कुशल की पड़ी थी । निदान प्रश्न के उत्तर में दर्प से शर्विलक ने कहा—

मदनिके ! भीते सुप्ते न शर्विलकः प्रहरति ।

प्रणयी—मदनिका सच समझ 'प्रियम्' बोली नही कि प्रेम में खटका उत्पन्न हुआ—

मदनिके ! किं नाम प्रियमिति ?
त्वत्स्नेहबद्धहृदयो हि करोम्यकार्यं,
सद्वृत्तपूर्वपुरुषेऽपि कुले प्रसूतः ।
रक्षामि मन्मथविपन्नगुणोऽपि मानं,
मित्रं च मां व्यपदिशस्यपरं च यासि ॥९॥४॥

बात कहाँ की कहाँ जा लगी ? मदनिका को फटकार पर फटकार मिली । नारी-निंदा की पोथी खुली और खरी-खोटी जी खोलकर सुनायी गई । 'न वेश-जाताः शुचयस्तथांगनाः' पर भोग लगा और 'चारुदत्त' प्रतिद्वन्द्वी के रूप में सामने आ गया। किन्तु जब 'अलंकार' का भेद खुला तब पछतावा भी कम न हुआ, और मुँह से बरबस निकल पड़ा—

भोः कष्टम् ।

छायार्थं ग्रीष्मसंतप्तो यामेवाहं समाश्रितः ।
अजानता मया सैव पत्रैः शाखा वियोजिता ॥१८॥४॥

फिर तो सारी निन्दा जाती रही और जब उपाय की बात उठी तब आप ही ने कहा—

स्त्रियो हि नाम खल्वेता निसर्गादेव पंडिताः ।
पुरुषाणां तु पांडित्यं शास्त्रैरेवोपदिश्यते ॥१९॥४॥

मदनिका ने सीधा सा उपाय बता दिया कि यदि मेरी बात ही मान्य है तो सीधे से उसी आर्य की सेवा में पहुँचो। शर्विलक को डर लगा कि कहीं 'राजकुल' में जा कहे? मदनिका ने विश्वास दिलाया कि चन्द्रमा से आग नहीं निकलती। बात विकट होती देख शर्विलक ने समझाया—

मदनिके !

न खलु मम विषादः साहसेऽस्मिन्भयं वा
कथयसि हि किमर्थं तस्य साधोर्गुणांस्त्वम् ।
जनयति मम खेदं कुत्सितं कर्म लज्जां
नृपतिरिह शठानां मादृशां किं नु कुर्यात् ॥२०॥४॥
तथापि नीतिविरुद्धमेतत् । अन्य उपायश्चिन्त्यताम् ।

कहने को तो 'तस्यैव महानुभावस्य प्रतिनिर्यातय' का सीधा उत्तर हो गया 'नीतिविरुद्धमेतत्'। किन्तु इतने से ही सन्तोष शर्विलक को कहाँ हुआ? उसने तो मदनिका के कथन को कुछ और ही समझा। प्रिय के सामने परपुरुष की इतनी प्रशंसा? निदान कस हीं तो दिया—उस साधु की गुणगाथा से लाभ क्या? यहाँ डर किसका पडा है जो हो रहा है इतना गुणगान उसका? यहाँ न तो 'कुत्सितकर्म' की लज्जा होती और न उसके लिए किसी राजा का डर ही। साहस के सामने पड़ कौन सकता है? तो भी पूछ सकती हो कि चारुदत्त के पास जाते क्यो नही हो। सो इसका सीधा समाधान है कि 'नीतिविरुद्ध' है यह आचरण। अतएव इसका पालन हो नही सकता। विचारने की बात है कि शूद्रक ने जहाँ एक ओर 'वसन्तसेना' को लेकर 'चारुदत्त' का प्रतिद्वन्द्वी 'शकार' को दिखाया

है वही 'मदनिका' को लेकर उसका प्रतिद्वन्द्वी 'शर्विलक' को बताया है। प्रेम-प्रसंग में सपत्नी की जलन तो सबको सर्वत्र दिखाई देती है पर सपत्नभाव का दर्शन शूद्रक के यहाँ ही होता है। सो भी इस रूप मे। 'शकार' सर्वतः 'चारुदत्त' का 'सपत्न' है तो 'शर्विलक' अंशतः। पर है वह भी। किन्तु मदनिका इस 'साधु' और इस 'शठ' की मीमांसा से दूर रही। वह शर्विलक के इस भाव को जानती जो थी। हाँ, दूसरा उपाय सूझा तो झट शर्विलक से कह सुनाया। शर्विलक भी इस सूझ पर खिल उठा और बोला—

> मयाप्ता महती बुद्धिर्भवतीमनुगच्छता।
> निशायां नष्टचन्द्रायां दुर्लभो मार्गदर्शकः ॥२१॥४॥

फिर तो शर्विलक मार्गदर्शक के मार्ग पर चल कर वसन्तसेना के पास पहुँचा और सेवा में निवेदन किया—

सार्थवाहस्त्वां विज्ञापयति-जर्जरत्वाद् गृहस्य दूरद्यमिदं भांडम्। तद्गृह्यताम्।

नाम लेना उचित न समझा। द्वेष तो था ही। वसन्तसेना के सामने पहुँचा तो 'स्वस्ति' कहने में कुछ लज्जा आ गयी। वसन्तसेना भी गणिका ठहरी। प्रतिसदेश में मदनिका को ही दे डाला और बडे ढब से कहा—

अहमार्यचारुदत्तेन भणिता-य इममलंकारकं समर्पयिष्यति तस्य त्वया मदनिका दातव्या। तत्स एवैतां ते ददातीत्येवमार्येणावगन्तव्यम्।

शर्विलक समझ गया कि सारा रहस्य खुल गया। निदान उल्लास में कह उठा—

> साधु आर्य चारुदत्त साधु।
> गुणेष्वेव हि कर्तव्यः प्रयत्नः पुरुषैः सदा।
> गुणयुक्तो दरिद्रोऽपि नेश्वरैरगुणैः समः ॥२२॥४॥

और जब मदनिका विदा होने को हुई तब भाव में आकर उससे भी कह पड़ा—

> स्वस्ति भवत्यै। मदनिके।
> सुदृष्टः क्रियतामेष शिरसा वन्द्यतां जनः।
> यत्र ते दुर्लभं प्राप्तं वधूशब्दावगुण्ठनम् ॥२४॥४॥

सुहृद्—प्रिया के साथ प्रवहण पर चढ़ कर चला नहीं कि मित्र आर्यक के 'घोर वन्धनागार' में पड़ जाने की ध्वनि कान में पड़ी। फिर तो सारी काम-वासना जाती रही और आत्मचेतना कोस उठी—

कथं राज्ञा पालकेन प्रियसुहृदार्यको मे वद्धः। कलत्रवांश्चास्मि संवृत्तः। आः कष्टम्। अथवा—

द्वयमिदमतीव लोके प्रियं नराणां सुहृच्च वनिता च।
संप्रति तु सुन्दरीणां शतादपि सुहृद्विशिष्टतमः ॥२५॥४॥
भवतु। अवतरामि।

कर्तव्य के निर्णय में प्रिया का सच्चा योग मिला और उसे सार्थवाह रेभिल के पास भेजकर आप मित्रोद्धार में लीन हुए। योजना यह बनी—

ज्ञातीन्विटान्स्वभुजविक्रमलब्धवर्णान्,
राजापमानकुपितांश्च नरेन्द्रभृत्यान्॥
उत्तेजयामि सुहृदः परिमोक्षणाय,
यौगन्धरायण इवोदयनस्य राज्ञः ॥२६॥४॥

आवेश में आ तो गया, पर बुद्धि बनी रही और सोचने लगा—

प्रियसुहृदमकारणे गृहीतं रिपुभिरसाधुभिराहितात्मशंकैः।
सरभसमभिपत्य मोचयामि स्थितमिव राहुमुखे शशांकबिम्बम् ॥२७॥४॥

त्राता—'कलत्रवांश्चास्मि संवृत्तः' में जो वेदना है उसको समझने के लिए आवश्यक है कि हम यह अच्छी तरह जान लें कि वास्तव मे उज्जयिनी में शर्विलक के आने का कारण क्या है। सो स्मरण रखने का है 'दर्दुरक' का यह कथन—

प्रधानसभिको माथुरो मया विरोधितः। तन्नात्र युज्यते स्थातुम्। कथितं च मम प्रियवयस्येन शर्विलकेन यथा किल आर्यकनामा गोपाल-दारकः सिद्धादेशेन समादिष्टो राजा भविष्यति इति। सर्वश्चास्मद्विधो जनस्तमनुसरति। तदहमपि तत्समीपमेव गच्छामि।

[अंक २, १४ पृ०]

इससे सिद्ध ही है कि 'आर्यक' को राजा बनाने का कार्य उज्जयिनी में पहले ही से चल रहा है और शर्विलक यहाँ इसी विचार से आया भी है। क्रांति का नेता तो वह है ही। संभव है इसी विचार से उसने 'नगरश्री' वसन्तसेना का भी द्वार देखा हो और वहाँ इसी भेद में मदनिका का मन मिल गया हो। राग अधिक हो जाने से इधर का ध्यान अधिक हो गया और कदाचित् भेद खुल जाने से 'आर्यक' को कारागार मिला। 'सिद्धादेश' तो था ही। फिर आर्यक से सतर्क रहना ही राजा के लिए ठीक था। आर्यक बन्दी हो गया तो शर्विलक की आँख खुली और वह प्रिया के भोग से विरत हो आर्यक के मोचन में मग्न हुआ। इसी से उसे अपने कृत्य पर ग्लानि हुई और वह प्रिया को 'रेभिल' के पास भेज आप क्रांति में कूद पडा। गोपालदारक आर्यक को बन्धन से मुक्त किया। कारण स्वयं आर्यक का कथन है—

भोः अहं खलु सिद्धादेशजनितपरित्रासेन राजा पालकेन घोषादानीय विशसने गूढागारे बन्धनेन बद्धः। तस्माच्च प्रियसुहृच्छर्विलकप्रसादेन बन्धनात्परिभ्रष्टोऽस्मि।

[अंक ६, १ प०]

आर्यक शर्विलक के प्रसाद से बंधन से मुक्त हुआ तो उसके भाग जाने की घोषणा हुई। चारों ओर उसकी छानबीन होने लगी। शर्विलक ने पहले से ही सब पक्का कर लिया था। तभी तो चन्दनक असमंजस में पड कर सोचता है—

एषोऽनपराधः शरणागत आर्यचारुदत्तस्य प्रवहणमारूढः प्राणप्रदस्य मे आर्य शर्विलकस्य मित्रम्। अन्यतः राजनियोगः। तत्किमिदानीमत्र युक्तमनुष्ठातुम्॥

[अंक ६, १६ प०]

कर्मनिष्ठ—पता नहीं, चन्दनक आर्यशर्विलक को 'प्राणप्रद' क्यों कहता है, परंतु तो भी निश्चित ही है कि वह उसी के नाते आर्यक को निकल जाने देता है और विरोध भी वीरक से भली-भाँति कर लेता है। तो क्या इससे शर्विलक के गौरव का बोध नहीं होता? स्मरण रहे उसी की यह भी साखी है—

अरे! निष्क्रमतो मम प्रियवयस्यः शर्विलकः पृष्ठत एवानुलग्नो गतः।

भवतु। प्रधानदण्डधारको वीरको राजप्रत्ययकरो विरोधितः। तद्यावद-हमपि पुत्रभ्रातृपरिवृत्त एतमेवानुगच्छामि।

[अंक ६, अंत]

ध्यान देने की बात है कि शर्विलक आर्यक के पीछे-पीछे चल रहा है और संकट के समय उसकी रक्षा की सोच रहा है। इधर चन्दनक भी पूरे परिवार के साथ शर्विलक की शरण में जा रहा है। वह शरणागत जो बन गया है। साथ ही 'विट' भी शकार से चिढ कर झट निश्चय करता है—

न युक्तमवस्थातुम्। भवतु। यत्रार्यशर्विलकचन्दनकप्रभृतयः सन्ति तत्र गच्छामि।

[अंक ८, ४२ प०]

शर्विलक का दल बात की बात में इतना बढ़ा कि अब उसके सामने पालक के बध की कोई बात ही नहीं रही। चारुदत्त का प्राणदंड तो और भी क्रांतिकारी सिद्ध हुआ। उसके प्रति किए गए व्यवहार ने तो आर्यक को और भी उगा दिया। पालक की यज्ञवाट पर हत्या हुई। शर्विलक को अब चारुदत्त की पड़ी। उसने उससे जाकर जो कुछ कहा उसमें विचारणीय है 'पालक' का बध। शर्विलक का स्वयं कथन है—

हत्वा तं कुनृपमहं पालकं भोः,
तद्राज्ये द्रुतमभिषिच्य चार्यकं तम्।
तस्याज्ञां शिरसि निधाय शेषभूतं,
मोचयेऽहं व्यसनगतं च चारुदत्तम् ॥४७॥१०॥

किन्तु चारुदत्त से उसी का निवेदन है—

आर्यकेणार्यवृत्तेन कुलं मानं च रक्षता।
पशुवद्यज्ञवाटस्थो दुरात्मा पालको हतः ॥५१॥१०॥

कारण विनय के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? घटना पहली ही ठीक है। वह स्वगत जो है। शर्विलक का यह त्याग! शूद्रक का यह पात्र!! क्रांति का यह आदर्श!!! भूलना न होगा किसी को शर्विलक का यह त्याग। उसके उद्योग

से आर्यक 'राजा' बना, दरिद्र चारुदत्त को 'कुशावती का राज्य' मिला, चन्दनक 'पृथिवीदंडपालक' बना, संवाहक 'सर्वविहारकुलपति' बना, चेट स्थावरक को स्वतंत्रता मिली, पर सच तो कहिये इस साहसी को क्या मिला? सच्चे कर्ममार्गी को कर्म के अतिरिक्त और चाहिये ही क्या जो शर्विलक को दिया जाय? उसने सच ही तो कहा था—

अपंडिते साहसे श्रीः प्रतिवसति।

शाक्यश्रमण संवाहक

बहुरूपता—सशक्त शर्विलक के पराक्रम के सामने संवाहक अशक्त ही दिखायी देता है; किन्तु समय पर वह भी काम पक्का कर जाता है। मृच्छकटिक के पात्रों में वही एक ऐसा पात्र है जिसका जीवन बहुरंगी पर प्रत्यक्ष है। उसका अति सक्षिप्त परिचय है—

अहं स आर्यस्य चरणसंवाहचिन्तकः संवाहको नाम। द्यूतकरैर्गृहीत एतयोपासिकयार्यस्यात्मीय इत्यलंकारपणनिष्क्रीतोऽस्मि। तेन च द्यूतनिर्वेदेन शाक्यश्रमणकः संवृत्तोऽस्मि। एषाप्यार्या प्रवहणविपर्यासेन पुष्पकरंडकजीर्णोद्यानं गता। तेन चानार्येण न मां बहु मन्यस इति बाहुपाशबलात्करेण मारिता मया दृष्टा।

[अंक १०, ४६ पू०]

इतना ही नहीं, पूरे प्रकरण में यही एक पात्र है जिससे एक साथ ही इतने प्रश्न हुए—

कुत आर्यः? को वार्यः? कस्य वार्यः? कां वा वृत्तिमार्य उपजीवति? कुतो वा भयम्?

उत्तर भी तुरत मिला—

शृणोत्वार्या। आर्ये! पाटलिपुत्रं मे जन्मभूमिः। गृहपतिदारकोऽहम्। संवाहकस्य वृत्तिमुपजीवामि।

[अंक २, १४ प०]

और 'आर्या' को फिर आगे चलकर चलते-चलते चेताया गया—

आर्य ! अहमेतेन द्यूतकरापमानेन शाक्यश्रमणको भविष्यामि। तत्संवाहको द्यूतकरः शाक्यश्रमणकः संवृत्त इति स्मर्तव्यान्यार्ययैतान्यक्षराणि।

[अंक २, १७ पू०]

यहाँ यह भी चेत लेने की बात है कि 'संवाहक' का लगाव आर्य चारुदत्त से है तो 'द्यूतकर' का परिचय आर्य वसन्तसेना से। 'शाक्यश्रमण' का सम्बन्ध तो शकार से है ही। अतएव कहा जा सकता है कि जीवन के तीन रूपों मे उसने मानव के तीन लोकों को देखा है। पहले प्रथम को लीजिए। चारुदत्त के विषय में उसका मत है—

साधु आर्यचारुदत्त साधु। पृथिव्यां त्वमेको जीवसि। शेषः पुनर्जनः श्वसिति।

[अंक २, १५ पू०]

द्वितीय के संबंध में उसकी चिन्ता है—

आर्यया निपुणं प्रत्यादिष्टोऽस्मि। कथं प्रत्युपकरिष्ये ?

[अंक २, १७ पू०]

और तृतीय के वारे में उसका विषाद—

आश्चर्यम्। एष स राजश्यालः संस्थानक आगतः। एकेन भिक्षुणापराधे कृतेऽन्यमपि यत्र यत्र भिक्षुं पश्यति तत्र तत्र गामिव नासिकां विद्ध्वापवाहयति।

[अंक ८, ३ प०]

कृतज्ञता—फलतः घटनाचक्र के प्रभाव से वह प्रथम के जीवन, द्वितीय के उद्धार तथा तृतीय के संकट का कारण बना। चारुदत्त मसान में उत्तान पड़ा अन्तिम क्षण की बाट जोह रहा है कि सहसा कान में पड़ा—

आर्य चारुदत्त ! किं न्विदम् ?

यह उसी संवाहक की तो वाणी है जो उसके यहाँ स्वर्ग-सुख भोग चुका है ? उसी ने कभी संकट के समय वसन्तसेना से भी तो कहा था—

बुद्धोपासिके ! किं न्विदम् !

[अंक ८, अन्त]

उत्तर की आवश्यकता नहीं। अन्त में उसको इसका फल मिला—

सखे ! दृढोऽस्य निश्चयः। तत्पृथिव्यां सर्वविहारेषु कुलपतिरयं क्रियताम्।

और वसन्तसेना के हृदय से भार उतरा। उसने कहा भी—

सांप्रतं जीवापितास्मि।

[अंक १०, अन्त]

ऐसा था द्यूतकर संवाहक का प्रत्युपकार। उधर राजश्यालक शकार की स्थिति कुछ और ही थी। देखिये —

आश्चर्यम्। केन गर्भदासी जीवनं प्रापिता ! उत्क्रान्ता मे प्राणाः। भवतु। पलायिष्ये।

[अंक १०, ३१ पू०]

शकार भगा, पर 'शाक्यश्रमण' ने उसका पीछा न किया। वह भिक्षु जो है। परन्तु कभी उसकी भी स्थिति यह थी कि—

संवाहकोऽपक्रामति।

[अंक २, १३ प०]

सो क्यो ? उसे आगे देखा चाहिये। प्रसंग वास्तव में 'संवाहक' नहीं 'द्यूतकर' का है। 'द्यूतकर' के रूप में देखे बिना 'भिक्षु' का वेष नहीं खिल सकता। सो उसे भी देख ले। संवाहक द्यूतकर कैसे बना, इसका स्पष्ट निर्देश है—

द्यूतकर—ततस्तेनार्येण सवृत्तिः परिचारकः कृतोऽस्मि। चारित्र्यावशेषे च तस्मिन् द्यूतोपजीव्यस्मि संवृत्तः। ततो भागधेयविषमतया दशसुवर्णं द्यूते हारितम्।

[अंक २. १५ प०]

इससे सिद्ध ही है कि संवाहक ने वृत्ति के विचार से द्यूत को अपनाया न कि व्यसन के रूप में। किन्तु द्यूत में पड़कर कोई व्यसनी न बने, यह कहाँ तक

सम्भव है ? परिणाम यह हुआ कि संवाहक को भी इसका चसका लग गया। रोग यहाँ तक बढा कि जब वह 'शून्य देवकुल' में देवी बन बैठा और सभी प्रकार से 'सभिक' से अपने को छिपाना चाहा, तब भी सामने होती हुई द्यूतक्रीडा को देख कर ललक उठा और मन ही मन सोचने लगा—

अरे !

कत्ताशब्दो निर्नाणकस्य हरति हृदयं मनुष्यस्य ।
ढक्काशब्द इव नराधिपस्य प्रभ्रष्टराज्यस्य ॥५॥
जानामि न क्रीडिष्यामि सुमेरुशिखरपतनसन्निभं द्यूतम् ।
तथापि खलु कोकिलमधुरः कत्ताशब्दो मनो हरति ॥६॥२॥

परन्तु वह व्यसन ही क्या, जिसे विवेक दबा ले। 'मम पाठे' का संघर्ष चला नहीं कि संवाहक झट कूद कर एक ओर से मैदान में आ जमा और ललकार कर कहा—

ननु मम पाठे ।

माथुर की चाल चल गई और संवाहक पंजे मे आ गया। फिर उससे डपट कर कहा गया—

अरे लुप्तदंडक ! गृहीतोऽसि । प्रयच्छ तद्दशसुवर्णम् ।

पैसा पास नहीं दशसुवर्ण दे तो कहाँ से दे। तो भी उधर से कहा गया—

एष त्वं खलु द्यूतकरमंडल्या बद्धोऽसि ।

'द्यूतकर मंडली' का 'समय' ठहरा। किसी प्रकार टाला भी नहीं जा सकता। वह 'समय' वा 'शर्त' ही क्या जो झटके में टल जाय ? फलतः 'गंड' आरम्भ हुआ। यहाँ संवाहक की बुद्धि निखरी और बातों में मैदान मार लिया। 'गंड' में आधा 'माथुर' ने छोड़ दिया और आधा 'द्यूतकर' ने, फिर देने को रह क्या गया कि तपस्वी बन्धन में रहे ? किन्तु माथुर भी निपुण ठहरा, और भी कस कर गह लिया। उसकी गोहार व्यर्थ गयी। उसने चिल्ला चिल्ला कर कहा था—

प्रेक्षध्वं प्रेक्षध्वं भट्टारकाः। हा सांप्रतमेव एकस्यार्धे गंडः कृतः। अपरस्यार्धं मुक्तम्। तथापि मामबलं सांप्रतमेव याचते।

चाल एक भी न चल सकी तो हाट में बिकने की ठहरी। राजमार्ग पर 'आर्याः क्रीणीध्वं' की पुकार मची। कर्मकर होने का वचन दिया गया। अन्त में निराशा में ध्वनि निकली—

हा! आर्यचारुदत्तस्य विभवे विघटिते एष वर्त्ते मन्दभाग्यः।

पुकार किसी के कान में न पडी। याचना व्यर्थ गयी तो गिर पड़ा। माथुर घसीटने में लगा। स्थिति दुःखद हो उठी। भाग्यवश पक्का द्यूतकर दर्दुरक भी आ गया। उसने संवाहक का साथ दिया और बात-बात में माथुर की आँख में सचमुच धूल झोंक कर संवाहक को विदा किया। संवाहक वसन्तसेना की सेवा में पहुँचा और उसके प्रसाद से मुक्त हुआ तो उसे फिर अपनी कला की सूझी। परन्तु वसन्तसेना ने यह कह कर उसे टाल दिया कि—

आर्य! यस्य कारणादियं कला शिक्ष्यते स एवार्येण शुश्रूषितपूर्वः शुश्रूषितव्यः।

परिव्रज्या—किन्तु, यदि यह संभव होता तो संवाहक द्यूतकर बनता ही क्यों? निदान निश्चय किया—

आर्ये! अहमेतेन द्यूतकरापमानेन शाक्यश्रमणको भविष्यामि।

वसन्तसेना ने रोकना चाहा तो स्पष्ट निवेदन किया—

आर्ये! कृतो निश्चयः।
द्यूतेन तत्कृतं मम यद्विहस्तं जनस्य सर्वस्य।
इदानीं प्रकटशीर्षो नरेन्द्रमार्गेण विहरिष्यामि॥१७॥२॥

किन्तु तपस्वी को यहाँ भी शुद्ध भ्रम हुआ। पालक के राज्य में भिक्षु की प्रतिष्ठा! यहाँ तो राज्यश्याल शकार का काम ही ठहरा भिक्षु को सताना और नाक छेदकर पशु की भाँति घसीटना। सो यहाँ भी चिन्ता रही आत्मरक्षा की। इस दुष्ट शकार से बच कर कहाँ और किसकी शरण में जाय? निदान—

तत्कुत्राशरणः शरणं गमिष्यामि। अथवा भट्टारक एव बुद्धो मे शरणम्।

[अंक ८, ३ प०]

भिक्षु बन संवाहक 'धर्मसंचय' के उपदेश में लगा और घूम-घूम कर कहना आरंभ किया—

पञ्चजना येन मारिता स्त्रियं मारयित्वा ग्रामो रक्षितः ।
अबलः क चंडालो मारितोऽवश्यमपि स नरः स्वर्गं गाहते ॥२॥८॥

किन्तु भीतर की बात यह रही कि—

गृहीतकषायोदकमेतच्चीवरम् यावदेतद्राष्ट्रियश्यालकस्योद्याने प्रविश्य पुष्करिण्यां प्रक्षाल्य लघु लघ्वपक्रमिष्यामि ।

बुद्धोपासना—उपाय तो अच्छा सोचा, पर भाग्य की बात ठहरी, राज-श्यालक संस्थानक भी वही आ पहुँचा और चपेट कर बोला—

तिष्ठ रे दुष्टश्रमणक ! तिष्ठ । आपानकमध्यप्रविष्टस्येव रक्तमूलकस्य शीर्षं ते भञ्ज्यामि ।

विट गोहार लगा तो भी भिक्षु ताड़ना से मुक्त न हुआ । उसके कहने का अर्थ ही शकार के यहाँ और हो जाता था । प्रशंसा निन्दा समझी जाती थी और स्तुति भर्त्सना । कितनी विकट परिस्थिति थी ! भिक्षु ने स्तुति में कहा—

त्वं धन्यः त्वं पुण्यः ।

उधर कुत्सा में अर्थ समझा गया—

भाव ! धन्यः पुण्य इति मां भणति । किमहं चार्वाकः कोष्ठकः कुम्भकारो वा ।

किसी प्रकार 'विट' की कृपा से इस यातना से भिक्षु मुक्त हुआ तो भाग्य की मारी वसन्तसेना प्रवहण की भूल से उसके फंदे मे जा फँसी और उसकी क्रूरता से मारी गई । शकार अपना पिंड बचा भागने में लगा तो फिर भिक्षु सामने आ पड़ा । किन्तु उसने इस बार कुछ और ही किया । अबकी भिक्षु से भयभीत हो भाग निकला । और उसने सोचा—

एष मया नासां छित्त्वा वाहितः कृतवैरः कदापि मां प्रेक्ष्यैतेन मारितेति प्रकाशयिष्यति ।

उधर दैववश संवाहक भिक्षु के मन में भाव उठा—

अथवालं ममैतेन स्वर्गेण। यावत्तस्या वसन्तसेनाया बुद्धोपासिकायाः प्रत्युपकारं न करोमि यया दशानां सुवर्णकानां कृते द्यूतकराभ्यां निष्क्रीतः, ततः प्रभृति तया क्रीतमिवात्मानमवगच्छामि।

धर्माचार—सोचना था कि सूखे पत्तों में से हाथ उठा और पानी की याचना हुई। चीवर निचोड़कर प्यास बुझा दी गई। परस्पर परिचय भी हो गया। परन्तु प्रश्न विकट उठा उसको उठाने का। वह ठहरी 'बुद्धोपासिका', ये ठहरे 'शाक्यश्रमण'। फिर शरीर का स्पर्श कैसे हो? फलतः आदेश हुआ—

उत्तिष्ठतूत्तिष्ठतु बुद्धोपासिकैतां पादपसमीपजातां लतामवलम्ब्य।

इतना कह कर लता झुका दी गई और वसन्तसेना उठ खड़ी हुई उसके सहारे। फिर आगे की पडी तो निवेदन किया—

एतस्मिन्विहारे मम धर्मभगिनी तिष्ठति। तत्र समाश्वस्तमना भूत्वोपासिका गेहं गमिष्यति। तच्छनैः शनैर्गच्छतु बुद्धोपासिका।

वसन्तसेना चल पडी तो भिक्षु धर्मसंकट से बचा और प्रसन्न हो कहा—

एषा तरुणी स्त्री एष भिक्षुरिति शुद्धो ममैष धर्मः।
हस्तसंयतो मुखसंयत इन्द्रियसंयतः स खलु मनुष्यः।
किं करोति राजकुलं तस्य परलोको हस्ते निश्चलः ॥४७॥८॥

संवाहक भिक्षु अपनी करनी पर प्रसन्न है। मग्न हो कहता है—

आश्चर्यम्। अस्थानपरिश्रान्तां समाश्वास्य वसन्तसेनिकां नयन्ननुगृहीतोऽस्मि प्रव्रज्यया। उपासिके! कुत्र त्वां नेष्यामि?

वसन्तसेना के कहने पर भिक्षु राजमार्ग से चारुदत्त के घर चला तो मार्ग में और ही कांड दिखायी दिया। उसने ताडकर तुरत कहा—

त्वरतां त्वरतां बुद्धोपासिकार्यचारुदत्तं जीवन्तं समाश्वासयितुम्। आर्याः अन्तरमन्तरं दत्त।

[अंक १०, ३७ पृ०]

इस त्वरा, कर्मनिष्ठा और कर्मतत्परता का परिणाम हुआ कि भिक्षु सर्वविहारो का कुलपति बना। उसने ठीक ही तो चारुदत्त से अपने जीवन के अनुभव पर कहा था—

इदमीदृशमनित्यत्वं प्रेक्ष्य द्विगुणतरो मम प्रव्रज्यायां बहुमानः संवृत्तः ।

[अंक १०, ५८ प०]

तो क्या इस 'प्रव्रज्या' का विरोध अब भी कोई कर सकता है ? उसने 'शकार' से बदला कब लिया ? किसी को कब सताया ? कृतज्ञता का यह कर्मकर 'गृहपतिदारक' से 'भिक्षु' बना बनते बनते । इसी से बना अंत में सभी बौद्धों में प्रधान—'कुलपति' सभी विहारों का । 'गृहपतिदारक' से 'सर्व-विहारकुलपति' । अतएव उसके जीवन की सीढ़ियाँ हैं—१–गृहपतिदारक, २–संवाहक, ३–द्यूतकर, ४–भिक्षु, और ५–कुलपति । विविधता की मूर्ति !

सर्वकालमित्र मैत्रेय

सुहृद्—मैत्रेय बड़े कैंड़े का विदूषक है । वह पेटू नहीं 'सर्वकालमित्र' है । इसी से उसने चारुदत्त से कहा भी था—

भो वयस्य ! एवं त्वया ज्ञातम् त्वया विनाहं प्राणान्धारयामीति ।

समाधान सच्चा मिला—

वयस्य ! स्वाधीनजीवितस्य न युज्यते तव प्राणपरित्यागः ।

तो भी निश्चय कर कहा गया—

युक्तं न्विदम् । तथापि न शक्नोमि प्रियवयस्यविरहितः प्राणान्धर्तु-मिति । तद्ब्राह्मण्यै दारकं समर्प्य प्राणपरित्यागेनात्मनः प्रियवयस्यमनु-गमिष्यामि ।

[अंक १०, ३२ प०]

किन्तु क्या भाग्य के साथ खेलना इतना सरल है ? प्राण पर खेलनेवाली 'ब्राह्मणी' का भी तो कुछ संकल्प है ? विदूषक कहता है—

भवत्यास्तावद् ब्राह्मण्या भिन्नत्वेन चिताधिरोहणं पापमुदाहरन्ति ऋषयः ।

होता होगा, परन्तु प्राणी हृदय के सामने 'पाप' की चिन्ता कहाँ तक करता है ? धूता बोली—

वरं पापाचरणम् । न पुनरार्यपुत्रस्यामंगलाकर्णनम् ।

विदूषक हार कब मानता ? अपने रंग में बोला—

समीहितसिद्धयै प्रवृत्तेन ब्राह्मणोऽग्रे कर्तव्यः। अतो भवत्या अहमग्रणी भवामि।

[अंक १०, ५७ ५०]

धूता स्नेह से घिर गयी। ऋषियों की बात की उपेक्षा हो सकती है, पर पुत्र पर माता की ममता ठहरी। वह सहसा टल नहीं सकती। विदूषक रहता तो चिंता नहीं, पर उसके न होने पर उसका क्या होगा ? कभी चारुदत्त ने भी तो इसी विश्वास के कारण उससे कहा था—

सखे मैत्रेय ! गच्छ। मद्वचनादम्बामपश्चिममभिवादयस्व पुत्रं च मे रोहसेनं परिपालयस्व।

विदूषक ने प्रश्न किया—

मूले छिन्ने कुतः पादपस्य पालनम् ?

चारुदत्त ने समझाकर कहा—

मा मैवम्।
नृणां लोकान्तरस्थानां देहप्रतिकृतिः सुतः।
मयि यो वै तव स्नेहो रोहसेने स युज्यताम् ॥४२॥६॥

विदूषक ने भी मर्मभरी वाणी में कहा—

भो वयस्य। अहं ते प्रियवयस्यो भूत्वा त्वया विरहितान्प्राणान्धारयामि ?

विदूषक और चारुदत्त की मित्रता का क्या कहना ? परस्पर इतना गहरा प्रेम और ऊपरी परस्पर यह व्यवहार—

विदूषकः—न गमिष्यामि।

चारुदत्तः—किमर्थम् ?

विदूषकः—यत एव पूज्यमाना अपि देवता न ते प्रसीदन्ति। तत्कोगुणो देवेष्वर्चितेषु।

चारुदत्तः—वयस्य मा मैवम्। गृहस्थस्य नित्योऽयं विधिः।

तपसा मनसा वाग्भिः पूजिता बलिकर्मभिः ।
तुष्यन्ति शमिनां नित्यं देवताः किं विचारितैः ॥१६॥१॥

तद्गच्छ । मातृभ्यो बलिमुपहर ।

विदूषक—भोः न गमिष्यामि । अन्यः कोऽपि प्रयुज्यताम् । मम पुनर्ब्राह्मणस्य सर्वमेव विपरीतं परिणमति । आदर्शगतेव छाया वामतो दक्षिणा दक्षिणतो वामा ।

कहने का तात्पर्य यह कि अति स्नेह के कारण नित्य ही कुछ न कुछ परस्पर चलती ही रहती थी ।

मित्रनिष्ठा—हाँ, विदूषक को चारुदत्त के बड़प्पन का ध्यान इतना था कि आरंभ में ही सूत्रधार के निमंत्रण को ठुकरा दिया । उसने ललचाकर कहा—

आर्य संपन्नं भोजनं निःसपत्नं च । अपि च दक्षिणापि ते भविष्यति ।

कुढ़ कर उत्तर में कहा गया—

भोः इदानीं प्रथममेव प्रत्यादिष्टोऽसि तत्क इदानीं ते निर्बन्धः पदे पदे मामनुरोद्धुम् ?

सूत्रधार तो मुँह की खाकर चला गया पर विदूषक को वेदना ने आ घेरा—

अथवा मयापि मैत्रेयेण परस्यामन्त्रणकानि समीहितव्यानि । हा अवस्थे ! तूलयसि ।

फिर क्या था, आँख के सामने चारुदत्त का सारा वैभव आ गया । भोजन का वह सुख और आज का यह आमन्त्रण ! सूत्रधार का यह साहस ! क्यो न हो ? वह भी तो उसी 'जूर्णवृद्ध' का 'वयस्य' ठहरा जिसके विषय में स्वयं 'विदूषक' का वक्तव्य है—

भो वयस्य एष ते प्रियवयस्येन जूर्णवृद्धेन जातीकुसुमवासितः प्रावारकोऽनुप्रेषितः सिद्धीकृतदेवकार्यस्यार्यचारुदत्तस्य त्वयोपनेतव्य इति ।

[अंक १, ६ पृ०]

'सिद्धीकृतदेवकार्य' का अवसर ही इसके लिये उपयुक्त क्यों ठहरा, इसे रुद्र ही जाने, पर दरिद्र चारुदत्त पर इसका प्रभाव यह पड़ा कि वह दरिद्रता

से मरण को अच्छा समझने लगा। यहाँ तक कि मित्र मैत्रेय को समझाना पड़ा—

भो वयस्य ! अलं संतप्तेन। प्रणयिजनसंक्रामितविभवस्य सुरजनपीतशेषस्य प्रतिपच्चन्द्रस्येव परिक्षयोऽपि तेऽधिकतरं रमणीयः।

[अंक १, ११ प०]

इसमें संदेह नही कि दरिद्रता के कारण ज्यों ज्यों चारुदत्त की रमणीयता बढती गयी त्यो त्यों उसके प्रति विदूषक की प्रीति भी निखरती गई। यहाँ तक कि उसके वियोग में जीना दूभर हो गया। किंतु अभी तो स्थिति यह है कि मित्र मैत्रेय कहना ही नहीं करते। चारुदत्त भी अति दुःख में सोचता है—

दारिद्र्य शोचामि भवन्तमेवमस्मच्छरीरे सुहृदित्युषित्वा।
विपन्नदेहे मयि मन्दभाग्ये ममेति चिन्ता क गमिष्यसि त्वम् ॥३८।१॥

मित्र विदूषक विचलित हो उठा और बलिकार्य में रदनिका को 'सहायिनी' चाहा। रदनिका 'बलि' और 'दीप' को लेकर चली क्या, वसन्तसेना ने अंचल से दीप को बुझा दिया। प्रिय के देवकार्य या मातृकार्य में प्रिया से विघ्न पड़ा। फिर तो इस अंधकार में वह कांड हुआ जो विदूषक के लिए असह्य होगया। दरिद्रता का यह अभिशाप कि चारुदत्त की चेटी का, उसी के घर में, विदूषक के होते, यह अपमान हो। उसके साथ कोई 'बलात्कार' करे। ब्राह्मण का तेज गरज पड़ा—

मा तावत्। भोः स्वके गेहे कुक्कुरोऽपि तावच्चण्डो भवति किं पुनरहं ब्राह्मणः। तदेतेनास्मादृशजनभागधेयकुटिलेन दण्डकाष्ठेन दुष्टस्येव शुष्कवेणुकस्य मस्तकं ते प्रहारैः कुट्टयिष्यामि।

और जब पता चला कि यह धृष्टता 'शकार' की है तब तो और भी आवेश में आ गया और 'दुर्जन' 'दुर्मनुष्य' आदि विशेषणों से सत्कार कर बोला—

यद्यपि नाम तत्रभवानार्यचारुदत्तो दरिद्रः संवृत्तः तत्किं तस्य गुणैर्नालंकृतोज्जयिनी ? येन तस्य गृहं प्रविश्य परिजनस्येदृश उपमर्दः क्रियते !

मा दुर्गत इति परिभवो नास्ति कृतान्तस्य दुर्गतो नाम।
चारित्र्येण विहीन आढ्योऽपि च दुर्गतो भवति ॥४३।१॥

भाव यह कि 'चारित्र्य' की उपेक्षा विदूषक को सह्य नहीं। 'विट' ने देखा अनर्थ हो गया। अतएव पैर पड़ कर ब्राह्मण को प्रसन्न किया। उधर 'शकार' को इसमें अपमान लगा तो विट प्रस्थान कर गया और विदूषक तथा शकार से ठन गई। कहते कहते शकार जब कह गया—

अरे हस हस।

तब उसने भी जम कर जड़ दिया कि तब हसूँगा जब—

पुनरपि ऋद्ध्यार्यचारुदत्तस्य।

शकार भी अपना सा मुँह लेकर चला गया तो विदूषक को आर्यचारुदत्त की सूझी और उसकी स्थिति को ध्यान मे रख कर 'रदनिका' से कहा—

भवति रदनिके! न खलु तेऽयमपमानस्तत्रभवतश्चारुदत्तस्य निवेदयितव्यः।

कारण—

दौर्गत्यपीडितस्य मन्ये द्विगुणतरा पीडा भविष्यति।

[अंक १, ५२ प०]

वैदग्ध्य—रदनिका की बात तो यही शान्त हो गयी, पर शकार की चेतावनी चारुदत्त के कान में पडी तो उसने उसकी 'अवज्ञा' की और विदूषक से विशेष कुछ जिज्ञासा न की। विदूषक भी प्रिय-प्रिया के प्रसंग में और क्या करता? उठ कर चलना चाहा तो रोक लिया गया। फिर मिलने के विचार से वसन्तसेना ने जब अपना अलंकार विदूषक के हाथ में रख दिया तब दान समझकर उसने 'स्वस्ति' कहा। जब चारुदत्त ने 'न्यास' की बात कही तब चोर को आमन्त्रण मिला और हँसी की बात सच हो चरितार्थ हुई। अति विश्वास के कारण रात्रि में उसकी रक्षा का भार विदूषक को मिला। निद्रा की दशा में किस प्रकार यह उसके हाथ से निकल कर 'शर्विलक' के हाथ में पहुँच गया, इसके विवरण से कोई लाभ नही। 'स्वप्नजागर' की दशा में विदूषक को ऐसा धोखा हुआ कि 'न्यास' आप ही चोर को प्राप्त हुआ और उसे सुख नींद की सूझी। भोर में 'सन्धि' का ज्ञान हुआ तो बोला—

भो वयस्य ! अयं सन्धिर्द्वाभ्यामेव दत्तो भवेत् । अथवागन्तुकेन शिक्षितकामेन वा ।

'सन्धि' की परीक्षा का फल निकला विदेशी का कार्य । परन्तु विदूषक की व्याकुलता बढी रात्रि की घटना से । उसने झटपट आर्यचारुदत्त से कहा—

भो वयस्य ! त्वं सर्वकालं भणसि मूर्खो मैत्रेयः अपंडितो मैत्रेयः इति । सुष्ठु मया कृतं तत्सुवर्णभांडं भवतो हस्ते समर्पयता । अन्यथा दास्याः पुत्रेणापहृतं भवेत् ।

बात तो अपनी समझ से सची कही गयी थी, किन्तु उधर की स्थिति थी कुछ और ही । निदान उत्तर मिला—

अलं परिहासेन ।

'परिहास' की चोट गहरी लगी । विदूषक का कर्म जाग उठा । उपेक्षा का करारा उत्तर मिला—

भोः यथा नामाहं मूर्खस्तत्किं परिहासस्यापि देशकालं न जानामि ?

'देशकाल' ने चारुदत्त को सचेत कर दिया । सावधान हो सुना तो पता चला कि 'न्यास' सचमुच चोर के हाथ में चला गया । गहरे विषाद में मूर्च्छा आ गयी । विदूषक ने समझाया—

अहं खल्वपलपिष्यामि केन दत्तम् ? केन गृहीतम् ? को वा साक्षी इति ?

सूझ समय की थी, पर आर्य चारुदत्त के काम की नही । उधर 'धूता' का बुलावा आया । विदूषक वहाँ पहुँचा तो 'रत्नावली' का लाभ हुआ । इधर चारुदत्त की चिन्ता बढ़ी—

अये । चिरयति मैत्रेयः । मा नाम वैक्लव्यादकार्यं कुर्यात् ।

किन्तु शीघ्र ही इसका भी बोध हो गया कि मैत्रेय किसी भी दशा में 'अकार्य' करनेवाला प्राणी नहीं । फलतः बरबस मुँह से निकल पड़ा—

विभवानुगता भार्या सुखदुःखसुहृद्भवान् ।
सत्यं च न परिभ्रष्टं यद्दरिद्रेषु दुर्लभम् ॥२८॥३॥

'सुखदुःख' का साथी समय समय पर अपव्यय के लिए टोकता और जीवन में समझ-बूझकर काम करने का मार्ग बताता रहता है। विदूषक भी यही करता है। पर 'आदर्श' के पीछे मर मिटने वाला प्राणी 'यथार्थ' को मानता कब है? निदान विदूषक की व्यवहार-बुद्धि चारुदत्त के सिद्धांत के सामने निष्फल जाती है और सिद्धान्तिनी वसन्तसेना के मन में कुछ और ही रङ्ग लगा देती है। चारुदत्त डरता है कि कहीं मैत्रेय वसन्तसेना के सामने कृपणता का प्रदर्शन न कर दे। इसी से उसे सावधान करता है—

वयस्य मैत्रेय! भवताप्यकृपणशौंडीर्यमभिधातव्यम्।

मैत्रेय भी किस दृढ़ता से प्रश्न करता है—

भोः दरिद्रः किमकृपणं मन्त्रयति?

[अंक ३, अंत]

विनोदी—यदि नहीं तो 'दरिद्र' का यह उपहास कैसा? 'शौंडीर्य' का नाम लिया तो विदूषक आकाश पर चढ़ गया। देखा तो 'रावण' भी तुच्छ लगा। कारण—

आश्चर्यं भोः तपश्चरणक्लेशविनिर्जितेन राक्षसराजो रावणः पुष्पकेण विमानेन गच्छति। अहं पुनर्ब्राह्मणोऽकृततपश्चरणक्लेशोऽपि नरनारीजनेन गच्छामि।

[अंक ४, २७ प०]

सच है, 'राक्षसराज रावण' ने इतना तप किया फिर भी उसको 'विमान' से ही जाना पड़ा, परन्तु विदूषक का भाग्य तो देखिये तप का नाम भी न लिया और चलने को नर-नारी साथ मिल गये! कितना सम्मान मिला? वह सीता को ठगने गया। यह वसन्तसेना को ढकर पदार्थ देने जा रहा है। फिर दोनो की तुलना कैसी? है न ऐसा भाग्यशाली विदूषक! 'नरनारी' की तुलना में विमान कितना तुच्छ है?

जी। वसन्तसेना के प्रकोष्ठ उसके 'कोठे' में जो खलबली पैदा कर रहे हैं और उसकी आँख में उनकी जो छवि उतर रही है वह त. उस युग की विभूति

ठहरी। संयोग कहिये कि अष्टम प्रकोष्ठ में एक और ही भाग्यशाली का दर्शन हुआ जो था आर्या वसन्तसेना का भ्राता। उसको देखा नहीं कि मन में भाव उठा—

कियत्तपश्चरणं कृत्वा वसन्तसेनाया भ्राता भवति ?

किन्तु झट बुद्धि ने झटका दिया—

मा तावद्यद्यप्येष उज्ज्वलः स्निग्धश्च सुगन्धश्च ।
तथापि श्मशानवीथ्यां जात इव चम्पकवृक्षोऽनभिगमनीयो लोकस्य ॥२६॥४॥

आर्या के भ्राता को तो इस प्रकार आँख से उतार दिया, पर जब आर्या की माता पर दृष्टि पड़ी तब हँसी का ठिकाना न रहा। जैसे-तैसे मन मार जी बटोर वसन्तसेना के पास पहुँचे तो वह संस्कृत झाड़ने लगी। अपढ ब्राह्मण का अच्छा उपहास किया ? इतने पर भी 'रत्नावली' लेकर 'प्रदोष' में आने का सन्देश कहा तो बेचारा विदूषक और भी घबड़ा उठा। सोचा फिर कुछ लेने का विचार है। निश्चय किया—मित्र को गणिका से बचाओ। जाकर जड़ ही तो दिया—

निवर्त्यतामात्मास्माद्बहुप्रत्यवायाद्गणिकाप्रसंगात् ।

[अक ५, ७ प०]

निपुण—गणिका के 'चेट' और 'चेटी' से आगे चलकर जो परिहास हुआ वह तो विदूषक का धर्म ही ठहरा, कर्म की बात यह है कि जब चेटी ने उसे 'ऋजुक ब्राह्मण' कहा तब वसन्तसेना ने टोका—

ननु निपुण इति भण ।

निपुण मैत्रेय की निपुणता में सन्देह नहीं। परन्तु होनहार होकर ही रहता है। चले थे वसन्तसेना का अलंकार वापस करने, पहुँच गए 'अधिकरण' में और आवेश में आकर भिड़ गए शकार से। 'आभरण' कक्षदेश से गिर क्या पड़े मित्र का मरण घोषित हो गया। विदूषक कहता ही रह गया चारुदत्त से अधिकरण में—

भोः किमर्थं भूतार्थो न निवेद्यते ?

परन्तु कभी 'भूतार्थ' भूलकर भी उनके मुँह से न निकला। आप परमार्थी जो ठहरे! फिर भी विदूषक ने 'धूता' की प्राणरक्षा में अपना कौशल दिखाया। और सच तो यह है कि जहाँ उसने 'स्नानशाटिका' की माँग कर 'वसन्तसेना' को ऋणी बना दिया वहीं—

चेटि! किं भवत्या इहैव स्वप्तव्यम्?

कह चेटी को भी मात कर दिया। 'कुम्भीलक' को 'सेनावसन्त' के अभिनय में अच्छा बनाया तो 'अधिकरण' में ललकारा भी 'शकार' को कसकर। किन्तु जो बात सदा के लिए उसके मन में बैठ गई वह है 'सती' का यह प्रभाव—

अहो सत्याः प्रभावः यतो ज्वलनप्रवेशव्यवसायेनैव प्रियसमागमं प्रापिता।

[अंक १०, ५८प०]

अन्तरात्माप्रिय विट।

कार्यनिष्ठा—वसन्तसेना के विट के विषय में अलग से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। आजकल की भाषा में उसे 'उस्ताद जी' समझ लीजिये। हाँ, आवश्यकता है भली भाँति समझ लेने की शकार के विट को। कारण, उसकी थोड़ी-सी चूक से वसन्तसेना का विनाश हो गया। शकार के इस पाप से उसकी स्थिति यह हो गयी कि उसके साथ और अधिक ठहरना उसके लिए असंभव हो गया। तभी तो इस वेदना से उसने उससे कहा—

अपतितमपि तावत्सेवमानं भवन्तं
पतितमिव जनोऽयं मन्यते मामनार्यम्।
कथमहमनुयायां त्वां हतस्त्रीकमेनं
पुनरपि नगरस्त्रीशंकितार्द्धाक्षिदृष्टम् ॥४२॥८॥

और तुरत 'आर्यशर्विलक' के दल में जा मिला। इस क्रांतिकारी दल से उसका सम्पर्क कब हुआ, इसे कौन कहे? परन्तु इतना तो सभी जानते हैं कि इसके पहले ही कभी शर्विलक ने कहा था—

अहमिदानीं—
ज्ञातीन्विटान्स्वभुजविक्रमलब्धवर्णा—
न्राजापमान कुपितांश्च नरेन्द्रभृत्यान् ।
उत्तेजयामि सुहृदः परिमोक्षणाय,
यौगन्धरायण इवोदयनस्य राज्ञः ॥२६॥४॥

निश्चय ही इसमें इस उत्तेजना का भी कुछ न कुछ योग है। तभी तो विट स्पष्ट कहता है—

न युक्तमवस्थातुम्। भवतु। यत्रार्यशर्विलकचन्दनकप्रभृतयः सन्ति तत्र गच्छामि।

[अंक ८, ४३ पृ०]

तो क्या इससे यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि चन्दनक ही वास्तव में इनके बीच मे घटक का काम करता था? जो हो, इतना तो निश्चय के रूप में कहा जा सकता है कि विट की शकार से कभी नहीं पटी। पटती भी कैसे? कहाँ तो शकार का कहना है—

अहं त उडुपं दास्यामि। अन्यच्च विविक्ते उद्यान इह मारयन्तं कस्त्वां प्रेक्षिष्यते।

कहाँ उसका मत—

पश्यन्ति मां दशदिशो वनदेवताश्च,
चन्द्रश्च दीप्तकिरणश्च दिवाकरोऽयम्।
धर्मानिलौ च गगनं च तथान्तरात्मा,
भूमिस्तथा सुकृतदुष्कृतसाक्षिभूता ॥२४॥८॥

सावधानता—प्रकृति की इसी भिन्नता का परिणाम है कि जब शकार राजमार्ग पर वसन्तसेना का पीछा करता है तब वह वसन्तसेना को सावधान कर देता है, और एक प्रकार से उसे उसके चंगुल से बचा लेता है। उधर तो शकार से पूछता है—

काणेलीमातः अस्ति किंचिच्चिह्नं यदुपलक्षयसि ?

पूछता ही नहीं, पूछने पर बता भी देता है—

भूषणशब्दं सौरभ्यानुविद्धं माल्यगन्धं वा ।

किन्तु साथ ही उधर वसन्तसेना को भी सचेत कर देता है—

त्वां सूचयिष्यति तु माल्यसमुद्भवोऽयं,
गन्धश्च भीरु मुखराणि च नूपुराणि ॥ ३५ ॥ १ ॥

कारण यही कि 'नगरश्री' वसन्तसेना की रक्षा वह अपना धर्म समझता है और जी से नहीं चाहता कि कोई शकार सा प्राणी उसका उपभोग करे। उसका भोक्ता तो कोई चारुदत्त ही हो सकता है। शकार ने आवेश में आकर उससे कहा—

भाव भाव ! एषा गर्भदासी कामदेवायतनोद्यानात्प्रभृति तस्य दरिद्र-चारुदत्तस्यानुरक्ता न मां कामयते । वामतस्तस्य गृहम् । यथा तव मम च हस्तान्नैषा परिभ्रश्यति तथा करोतु भावः ।

किन्तु 'भाव' को वैसा करना और भी कठिन हो गया। उसके हृदय का भाव उमड़ आया और अपने आप ही कहा—

यदेव परिहर्तव्यं तदेवोदाहरति मूर्खः। कथं वसन्तसेनार्यचारुदत्तमनुरक्ता ?

प्रश्न नहीं, प्रसन्नता है जी की बात होते देखकर। तभी तो उसका उल्लास है—

सुष्ठु खल्विदमुच्यते—रत्नं रत्नेन संगच्छते इति ।

तो फिर करना क्या चाहिये ? यही न—

तद्गच्छतु । किमनेन मूर्खेण ?

फिर भी जीविका के नाते कुछ तो करना ही होगा। शकार का साथ दिये बिना कल्याण कहाँ ? किंतु क्या नगरश्री वसन्तसेना का धर्षण ठीक होगा ? मन कहता है—वेश्या है—होने दे। 'अन्तरात्मा' की पुकार है—बाला है। रक्षा करो। इसी उधेड़बुन में सुनता है—

भाव भाव ! यथा दधिशरपरिलुब्धाया मार्जारिकायाः स्वरपरिवृत्ति-र्भवति तथा दास्याः पुत्र्या स्वरपरिवृत्तिः कृता ।

तो विचलित हो जाता है और मन ही मन सोचता और कहता है—

कथं स्वरपरिवर्तः कृतः ! अहो चित्रम् । अथवा किमत्र चित्रम् ?
इयं रंगप्रवेशेन कलानां चोपशिक्षया,
वंचनापंडितत्वेन स्वरनैपुण्यमाश्रिता ॥४२॥१॥

समुदाचार—फिर जब प्रकट हो जाता है कि वास्तव में जो इस प्रकार पकड़ी गयी है वह गणिका नहीं आर्यचारुदत्त की चेटी रदनिका है, और उसके साथ इस दुर्व्यवहार के लिये विदूषक कुछ अनर्थ करना चाहता है तब 'विट' समझाता है—

संकामान्विष्यतेऽस्माभिः काचित्स्वाधीनयौवना ।
सा नष्टा शंकया तस्याः प्राप्तेयं शीलवंचना ॥४४॥१॥

फिर पैर पर गिरकर प्रार्थना करता है अनुनय के उत्तर में—

एष ते प्रणयो विप्र शिरसा धार्यते मया
गुणशस्त्रैर्वयं येन शस्त्रवन्तोऽपि निर्जिताः ॥४५॥१॥

यह बात शकार को खलती है। वह इसे विट की कायरता समझता है और दरिद्र चारुदत्त की, दरिद्रता के कारण, अवज्ञा करता है। विट समाधान में कहता है—

मा मैवम् ।
सोऽस्मद्विधानां प्रणयैः कृशीकृतो न तेन कश्चिद्विभवैर्विमानितः ।
निदाघकालेष्विव सोदको ह्रदो नृणां स तृष्णामपनीय शुष्कवान् ॥४६॥१॥

चारुदत्त के प्रति उसकी गहरी सहानुभूति का कारण है यही त्याग और 'विमानित' का अभाव भी। स्मरण रहे, चारुदत्त के 'विभव' से किसी का अपमान नहीं हुआ। इसी से शकार के मुँह से उसकी निन्दा सुन वह चला जाना चाहता है। फिर भी शकार जब वसन्तसेना के बिना नहीं जाना चाहता तब यह सारभरा उपदेश देता है—

आलाने गृह्यते हस्ती वाजी वल्गासु गृह्यते ।
हृदये गृह्यते नारी यदिदं नास्ति गम्यताम् ॥५०॥१॥

किन्तु मूर्ख को चेत कहाँ ? दैववश वसन्तसेना जब आप ही उद्यान में आ मिली तब भी इसकी घोर उपेक्षा हुई और उससे प्रस्ताव हुआ—

सुवर्णं ददामि प्रियं वदामि पतामि शीर्षेण सवेष्टनेन ॥३१॥८॥

किन्तु क्या प्रलोभन से किसी का 'हृदय' हाथ आता है ? शकार ने फिर उसका केश पकड़कर उसे प्रवहण से उतारना चाहा तो विट ने समझाया—

अग्राह्या मूर्धजेष्वेताः स्त्रियो गुणसमन्विताः ।
न लताः पल्लवच्छेदमर्हन्त्युपवनोद्भवाः ॥२१॥८॥

समझाता भी क्यों नहीं ? स्त्री के प्रति उसका भाव है—

अवनतशिरसः प्रयाम शीघ्रं पथि वृषभा इव वर्षताडिताक्षाः ।
मम हि सदसि गौरवप्रियस्य कुलजनदर्शनकातरं हि चक्षुः ॥१५॥८॥

किंतु जब प्रवहण मे वसन्तसेना का दर्शन हो गया तब उसकी ग्लानि का ठिकाना न रहा । गहरे विषाद में पड़ गया—

कथमये मृगी व्याघ्रमनुसरति । भोः कष्टम् ।

दुर्विपाक—फिर तो इस मृगी की रक्षा का उसका सारा प्रयत्न निष्फल गया । 'हंसी' हंस के पास जाती रही कि भाग्यवश शकार के पंजे में पड़ गयी । फलतः वसन्तसेना शरणागत हो गयी तो विट समझ गया कि उसके आने का कारण क्या है । छूटते ही उसने पूछा था—

पूर्वं मानादवज्ञाय द्रव्यार्थे जननीवशात् ।
अशौण्डीर्यस्वभावेन वेशभावेन मन्यते ॥१७॥८॥

किन्तु कारण निकला 'दैव' ही । उसने चाहा कि शकार को किसी प्रकार टरका दे, पर वह कर सका कुछ भी नही । यहाँ तक कि उसी से शकार का प्रस्ताव हुआ कि मारो वसन्तसेना को । विट ने 'परलोक' का डर दिखाया तो उसे 'अधर्मभीरु वृद्धकोल' की उपाधि मिली । चेट ने भी जब उसकी आज्ञा को ठुकरा दिया तब विट ने उसकी प्रशंसा में कहा—

रन्ध्रानुसारी विषमः कृतान्तो यदस्य दास्यं तव चेश्वरत्वम् ।
श्रियं त्वदीयां यदयं न भुंक्ते यदेतदाज्ञां न भवान्करोति ॥२७॥८॥

कहता ही नहीं रोष में शकार का गला तक पकड़ लेता है और डटकर कहता है—

कि कुलेनोपदिष्टेन शीलमेवात्र कारणम् ।
भवन्ति सुतरां स्फीताः सुक्षेत्रे कण्टकिद्रुमाः ॥२६॥८॥

सब सही, फिर भी प्रेम के प्रसंग में यह अनुभवी बूढ़ा शकार से पराजित क्यों होता है ? इसका कारण है उसकी दृष्टि में वसन्तसेना का 'गणिका' होना। रह रह कर वह सोचता है कि कहीं वसन्तसेना कारण विशेष वश उसे चाहती न हो। उसी से अंत समय में प्रार्थना करता है—

चारित्र्यगुणसंपन्ने जायेथा विमले कुले ॥४३॥८॥

क्या ही अच्छा होता यदि 'कुल' पर ध्यान न जाकर 'गणिका' के चरित पर ध्यान रहता। उसने तो आरम्भ ही में उससे कह दिया था—

त्वं वापीव लतेव नौरिव जनं वेश्यासि सर्वं भज ॥३२॥१॥

इसी से तो वह ठगा भी गया मूढ़ शकार से। खो दिया अपने 'न्यास' को, शरणागत को। नहीं तो पकड़ तो उसकी इतनी पक्की है कि देखते ही समझ जाता है—

अनेनाचिरप्रव्रजितेन भवितव्यम् ।

यदि यह 'अन्तरात्माप्रिय' विट कहीं स्वतन्त्र होता ! तो क्या यह इसी कारण शर्विलक से जा मिला ? समाधान में 'हाँ' ही तो है ?

धर्मशील चेट स्थावरक

दासभाव—शकार के चेट 'स्थावरक' में बात ही कुछ ऐसी है जिससे कभी कोई उसे भूल नहीं सकता। कितनी मर्मभेदिनी है उसकी यह वेदना—

हन्त ईदृशो दासभावः यत्सत्यं कमपि न प्रत्याययति ।

क्लेश इसे 'दास' होने का नहीं, प्रत्युत इस बात का है कि दास होने के कारण वह विश्वास का पात्र भी न रह गया और अपनी दासता के कारण ही सत्य को स्पष्ट भी न कर सका। कितनी करुण पुकार है उसकी—

आर्य चारुदत्त ! एतावान्मे विभवः ।

किन्तु क्या दास का इतना विभव ही ऐसा नहीं कि चारुदत्त मकरुण कह उठे—

उत्तिष्ठ भोः पतितसाधुजनानुकम्पि-
न्निष्कारणोपगतबान्धव धर्मशील ।
यत्नः कृतोऽपि सुमहान्मम मोक्षणाय,
दैवं न संवदति किं न कृतं त्वयाद्य ॥२१॥१०॥

'किं न कृतं' को कृतज्ञता का ज्ञापन न समझे। वस्तुस्थिति ही ऐसी है कि चारुदत्त को ऐसा कहना ही पड़ता है। उधर स्थावरक का निश्चय है—

भवतु। अस्याः प्रासादबालाग्रप्रतोलिकात एतेन जीर्णगवाक्षेणात्मानं निक्षिपामि। वरमहमुपरतः न पुनरेष कुलपुत्रविहगानां वासपादप आर्य-चारुदत्तः। एवं यदि विपद्ये लब्धो मया परलोकः।

[अंक १०, २५ प०]

सत्याग्रह—'परलोक' की यह कामना इह लोक में भी कभी उसे अपने धर्म से विचलित नहीं होने देती। देखिये न उसका क्रूर स्वामी शकार उसकी कितनी यातना करता है; किन्तु उस सत्य का सचमुच यह सत्याग्रही अपने सत्य से रंचमात्र भी विचलित नहीं होता और किस दृढता से कहता है—

ताडयतु भट्टकः मारयतु भट्टकः अकार्यं न करिष्यामि।

कारण भी स्पष्ट है। सन्देह का नाम नहीं। कान खोल कर सुन लीजिए—

येनास्मि गर्भदासो विनिर्मितो भागधेयदोषैः।
अधिकं च न क्रीणिष्यामि तेनाकार्यं परिहरामि ॥२४॥८॥

फलतः विट की वाणी भी फूट पड़ती है और कह जाता है किस वेग में—

काणेलीमातः मर्षय मर्षय। साधु स्थावरक साधु।
अप्येष नाम परिभूतदशो दरिद्रः
प्रेष्यः परत्र फलमिच्छति नास्य भर्ता।
तस्मादमी कथमिवाद्य न यान्ति नाशं,
ये वर्धयन्त्यसदृशं सदृशं त्यजन्ति ॥२६॥८॥

स्पष्टवाद्—संसार की लीला ठहरी। आलोचना से क्या लाभ? शकार की आज्ञा हुई—

अरे गर्भदास चेट गच्छ त्वम्। अपवारके प्रविश्य विश्रान्त एकान्ते तिष्ठ।

चेट गया तो विट पर शकार की कृपा हुई। उसको भी छलबल से उसके पीछे भेज दिया। इधर एकान्त पा वसन्तसेना का जीवन समाप्त किया। फिर घटनास्थल पर जब दोनों का प्रवेश हुआ तब वस्तुस्थिति के ज्ञान से विट मूर्छित हो गया और चेट ने कहा—

समाश्वसितु समाश्वसितु भावः। अविचारितं प्रवहणमानयतैव मया प्रथमं मारिता।

विट जब रूठ कर चला गया तब शकार ने पुचकार कर चेट से पूछा—

अरे स्थावरक! पुत्रक!! कीदृशं मया कृतम्?

तुरत उत्तर मिला—

भट्टक! महद्‌कार्यं कृतम्।

इसी को कहते हैं चरित्रबल। शकार की चाल चल गयी। चारुदत्त को प्राणदंड मिला। वह श्मशान को जा ही रहा था कि चेट उसका त्राता बना। शकार की उस पर दृष्टि पड़ी तो बड़े प्यार से कहा—

पुत्रक! स्थावरक!! चेट!!! एहि। गच्छावः।

इधर से फटकार मिली—

ही ही अनार्य! वसन्तसेनां मारयित्वा न परितुष्टोऽसि।

आत्मगौरव—उसने देखा कि सारा रहस्य खुला चाहता है। फिर प्रपंच रचा और चेट की एक भी न चली। चलती भी कैसे? वह गर्भदास जो ठहरा? प्रलोभन से बच सकता है, पर दास हो कर प्रपंच से कैसे बचे?

है, अभिमान है उसे भी बड़ा होने का; किंतु परोपकार की भावना उसमें उससे भी प्रबल है। तभी तो दर्प में आकर गाँव के गाड़ीवान से कहता है—

अरे रे! राजश्यालकसंस्थानस्याहं शूरश्चक्रपरिवृत्तिं दास्यामि?

किन्तु तत्क्षण सोचता है—

अथवा एष एकाकी तपस्वी। तदेवं करोमि।

[अंक ६, १ पृ०]

कभी स्वामी की अनीति से कुढ़ता तो कह जाता—

विभज्यस्व रे प्रवहण समं स्वामिना विभज्यस्व।

[अंक ८, १५ पृ०]

किंतु स्थावरक का यह रोष स्थायी नहीं। वह स्वामी की आज्ञा उल्लंघन नहीं कर सकता। जी पर खेल कर उसका काम करता है। हाँ, केवल एक ही बात है जो किसी भी दशा में उससे हो नहीं सकती। वह है—

भट्टक सर्वं करोमि वर्जयित्वाऽकार्यम्।

शकार भी उसकी टेक को भली भाँति जानता है और इसी से कहता भी है—

अकार्यस्य गन्धोऽपि नास्ति।

स्थावरक आज्ञा करने को कहता और जब 'भट्टक' के मुँह से वसन्तसेना को मार डालने की सुनता है तब बड़ी दृढ़ता से कहता है—

प्रसीदतु भट्टकः! इयं मयानार्येणार्या प्रवहणपरिवर्तनेनानीता।

आस्था—वसन्तसेना का प्राण लेना तो दूर रहा उसके प्राण की रक्षा का उत्तरदायित्व अपने आप पर इस लिए समझता है कि भूल से उसी के लाने से वसन्तसेना वहाँ आ गयी। शकार को अंत में कुछ अनुनय के साथ कहना पड़ा—

अरे चेट! तवापि न प्रभवामि।

चेट का उत्तर भी कितना मार्मिक और सटीक है—

प्रभवति भट्टकः शरीरस्य न चारित्र्यस्य। तत्प्रसीदतु प्रसीदतु भट्टकः। बिभेमि खल्वहम्।

शकार जैसे खलशिरोमणि से लोहा लेनेवाला यह प्राणी भला डर किससे सकता है? नहीं, डरता है वह 'परलोक' से। कारण, परलोक है—

भट्टक! सुकृतदुष्कृतस्य परिणामः।

और 'दुष्कृत' का परिणाम है—

याद्दशोऽहं परपिण्डभक्षको भूतः ।

अतएव—

तदकार्यं न करिष्यामि ।

'अकार्य' न करने का बल जिस 'परलोक' भावना से आता है उसका आज सर्वथा लोप होता जा रहा है । तो भी हमें भूलना न होगा कि यही 'परलोक' 'परपिंडभक्षक' स्थावरक में इतना बल ला देता है कि वह शकार से कह देता है कि शरीर पर आप का अधिकार है, कुछ चरित्र पर नहीं । फलतः 'अदास' हो जाता है वह इहं लोक में ही । चारुदत्त के इस कथन का आदर कौन नही करेगा और कौन नहीं उसी के साथ खुल कर कहेगा—

सुवृत्तः अदासो भवतु ।

परहृदयग्रहणपंडिता मदनिका

वीरवधू—चेटी 'मदनिका' को वसन्तसेना ने 'परहृदयग्रहणपंडिता' की उपाधि यों ही नहीं दी है । नहीं, समूचे प्रकरण में वही एक प्राणी है जिसके पास बरबस हृदय टिक जाता है और किसी प्रकार यह जान लेना चाहता है कि 'वधू' मदनिका का क्या हुआ ? चेटी से वह गृहिणी तो बनी पर है कहीं इस विश्व में उसका गृह भी ? वसन्तसेना विदा के समय उससे कहती है—

सांप्रतं त्वमेव वन्दनीया संवृत्ता । तद्गच्छ । आरोह प्रवहणम् । स्मरसि माम् ।

और शर्विलक भी कृतज्ञतावश प्रत्युपकार की दृष्टि से जिससे कह बैठते हैं—

स्वस्ति भवत्यै । मदनिके !
सुदृष्टः क्रियतामेष शिरसा वन्द्यतां जनः ।
यत्र ते दुर्लभं प्राप्तं वधूशब्दावगुण्ठनम् ।।२४।।४।।

अति हर्ष की बात ठहरी । किन्तु उसी क्षण उधर होता क्या है ? शर्विलक सहसा निश्चय करता है—

संप्रति तु सुन्दरीणां शतादपि सुहृद्विशिष्टतमः ॥२५॥४॥
भवतु । अवतरामि ।

मदनिका की दशा पर ध्यान तो दीजिए । किस आन की बनी है ? आँख में आँसू आता, हाथ जुडता और मुँह से बानी निकलती है—

एवं न्विदम् । तत्परं नयतु मामार्यपुत्रः समीपं गुरुजनानाम् ।

सुनना था कि शर्विलक उछल पड़े और बोले—

साधु प्रिये ! साधु । अस्मच्चित्तसदृशमभिहितम् ।

और प्रबंध किया 'प्रिया' के रहने का सार्थवाह रेभिल के 'उदवसित' में । तो क्या इनका कोई अपना घर भी नहीं था ? जी हाँ, उज्जयिनी में शर्विलक का आना कहीं बाहर से हुआ था, और प्रतीत होता है कि सार्थवाह रेभिल के यहाँ उनका पड़ाव था । जो हो, तो भी मदनिका की चेतावनी है—

यथार्यपुत्रो भणति । अप्रमत्तेन तावदार्यपुत्रेण भवितव्यम् ।

आर्यपुत्र ने अप्रमत्त रह काम किया । सफलता भी उनको सच्ची मिली । पर पता नहीं कि कभी वधू मदनिका को फिर उनका दर्शन मिला वा नहीं । घर की कौन कहे, फिर दर्शन भी न मिला । किसी ने उसका नाम भी नहीं लिया । सच कहें, इसी से तो आज आप उसके साथ हैं । क्यों न हों ? है भी तो वस्तुतः 'परहृदयग्रहणपंडिता' । शर्विलक ने तो सनक में उसको क्या नहीं कहा पर उसके मुँह से विरोध में एक शब्द भी न निकला । नारी की निन्दा चुपचाप मौन रह सुनती रही । किंतु जब चारुदत्त के जीवन पर आ पड़ी तब शर्विलक के वस्त्र का अंचल पकड कर बोली—

अयि असंबद्धभाषक ! असंभावनीये कुप्यसि ।

स्थिति का बोध हुआ तो फिर मदनिका से बोले—

मदनिके ! किमिदानीं युक्तम् ?

बुद्धिमत्ता—मदनिका ने जब कहा कि यहाँ आप ही पंडित हैं, तब शर्विलक सहमत न हुए और व्यवहार में स्त्री का ही पांडित्य माना । किंतु जब सीधे जाकर चारुदत्त से सारी स्थिति स्पष्ट करने की बात उठी तब इसे नीति-

विरुद्ध कह टाल दिया और उससे किसी दूसरे उपाय के लिये कहा। उसने फिर दूसरा उपाय बताया—

तस्यैवार्यस्य सम्बन्धी भूत्वेममलंकारकमार्याया उपनय।

शर्विलक ने जानना चाहा—

एवं कृते किं भवति ?

समाधान हुआ—

त्वं तावदचौरः, सोऽप्यार्योऽनृणः, आर्यया स्वकोऽलंकार उपगतो भवति।

इतने लाभ एक साथ। सूझ इसी को कहते हैं। शर्विलक को फिर भी इसमें कुछ दोष दिखायी दिया और बोला—

नन्वतिसाहसमेतत्।

उत्तर मिला—

अयि उपनय। अन्यथातिसाहसम्।

फिर तो अनुगृहीत हो आप ही कह उठे—

मयाप्ता महती बुद्धिर्भवतीमनुगच्छता।
निशायां नष्टचन्द्रायां दुर्लभो मार्गदर्शकः ॥२१॥४॥

मदनिका की बुद्धि का यह प्रभाव। रहा रूप, सो उसे भी देख लें—

अये! इयं मदनिका।
मदनमपि गुणैर्विशेषयन्ती रतिरिव मूर्तिमती विभाति येयम्।
मम हृदयमनंगवह्नितप्तं भृशमिव चन्दनशीतलं करोति ॥४॥४॥

प्रकृति-पारखी—मदनिका को 'चरित्र' का इतना ध्यान है कि शर्विलक से चोरी का समाचार सुना तो दुःख के साथ कह उठी—

शर्विलक! स्त्रीकल्यवर्तस्य कारणेनोभयमपि संशये विनिक्षिप्तम्।

'शरीर' और 'चरित्र' का संशय में पड़ जाना ठीक नहीं। सो भी गणिका मदनिका के हेतु।

जी हाँ। मदनिका को 'चरित्र' का बड़ा ध्यान था। इसी से वसन्तसेना ने जब उससे पूछा—

चेटि ! किं वेशवासदाक्षिण्येन मदनिके एवं भणसि ?

उसने भी छूटते ही उत्तर दिया—

आर्ये ! किं य एव जनो वेशे प्रतिवसति स एवालीकदक्षिणो भवति ।

समाधान हुआ—

चेटि ! नानापुरुषसंगेन वेश्याजनोऽलीकदक्षिणो भवति ।

हो, पर चेटी मदनिका तो ऐसी नहीं है । इसी से उसने फिर कहा—

यतस्तावदार्याया दृष्टिरिहाभिरमते हृदयं च तस्य कारणं किं पृच्छ्यते ?

वसन्तसेना ने सखियों के उपहास का नाम लिया तो मदनिका ने बात काटकर कहा—

आर्ये ! एवं नेदम् । सखीजनचित्तानुवर्त्याबलाजनो भवति ।

अबला-प्रकृति की परख मदनिका को जैसी है वसन्तसेना को वैसी नहीं । पकड़ कोई मदनिका से सीख ले । वसन्तसेना की मनोवृत्ति को ताड़कर पहले ही उसने उससे पूछा था—

आर्ये ! स्नेहः पृच्छति न पुरोभागिता । तत्किंन्विदम् ।

वसन्तसेना ने कहा—

मदनिके ! कीदृशीं मां प्रेक्षसे ?

उसने भेद की बात कह दी तो वसन्तसेना ने कहा—

सुष्ठु त्वया ज्ञातम् । परहृदयग्रहणपंडिता मदनिका खलु त्वम् ।

उसका यही गुण है जो द्यूतकर संवाहक के प्रसंग में भी व्यक्त होता है । वह कहती है उससे—

अतिनिर्विण्णमार्येण प्रतिवचनं दत्तम् ।

और कहा था यही शर्विलक से भी तो—

शर्विलक ! किंन्विदम् । सशंक इव लक्ष्यसे ।

सो ऐसी 'परहृदयग्रहणपंडिता मदनिका' का पता क्या कि वह 'वधू' बनकर क्या बनी । पर जो बनी अनूठी बनी । उसकी तुलना कहाँ ?

पतिव्रता धूता

गृहिणी—गणिका से वधू बन कर मदनिका और वसन्तसेना ने गृहिणी का कैसा काम किया, इसका हमको पता नहीं। उसकी आवश्यकता भी नहीं। कारण, गृहिणी का स्वरूप सिद्ध हुआ है पतिव्रता धूता में। विदूषक ने सच ही तो कहा है—

आश्चर्यं भोः ! एताभ्यामेवाद्भिर्भ्यां प्रियवयस्यः प्रेक्ष्यते। अहो सत्याः प्रभावः यतो ज्वलनप्रवेशव्यवसायेनैव प्रियसमागमं प्रापिता।

तो फिर आर्या धूता के कीर्तन में और कहा क्या जाय? स्वयं चारुदत्त भी तो उससे यही कहता है—

न महीतलस्थितिसहानि भवच्चरितानि चारुचरिते यदपि।
उचितं तथापि परलोकसुखं न पतिव्रते तव विहाय पतिम् ॥५६।१०॥

पति का पत्नी से यह अनुरोध मानव जीवन में कुछ महत्त्व रखता है। इसी को आर्य मैत्रेय भी इस रूप में कहते दिखायी दे रहे हैं—

भवत्यास्तावद्ब्राह्मण्या भिन्नत्वेन चिताधिरोहणं पापमुदाहरन्ति ऋषयः।

भाव यह कि 'पतिव्रता' को पति के साथ ही जलना होगा, अलग कदापि नही। धर्म का ध्यान तो मानव बहुत रखता है, पर धर्म मानव का ध्यान कितना रखता है, कुछ इसे भी तो देख रखना चाहिये। पंच का कहना सिर पर; किंतु धूता का यह भय भी तो उपेक्षणीय नहीं।

जात मुंच माम्। मा विघ्नं कुरुष्व। बिभेम्यार्यपुत्रस्यामंगलाकर्णनात्।

माता—हो, पति के बिना चिता पर जलना पाप हो, उसके शव के साथ जलना ही पुण्य हो; परन्तु हृदय की पुकार को न सुनना कहाँ का धर्म है? किन्तु माता पर 'जात' का भी तो कुछ अधिकार है? उसके अभाव में वह जी कैसे सकता है? यही माता के सामने विकट प्रश्न है। सो भी तब जब बालक आप ही आग्रह कर कहता है—

मातरार्ये! प्रतिपालय माम्। त्वया विना न शक्नोमि जीवितं धर्तुम्।

अस्तु, माता धूता को चेटी से कहना पड़ा—

रदनिके ! अवलम्बस्व दारकम् । यावदहं समीहितं करोमि ।

रदनिका भी तो धूता की ही चेटी ठहरी । भावभरी भाषा में बोल पड़ी—

अहमपि यथोपदेशिन्यस्मि भट्टिन्याः ।

धूता से भेद छिपा न रहा । चेटी की भावना को जीत लेना कठिन था । विदूषक की ओर मुड़ी तो उधर से भी खडा उत्तर मिला—

समीहितसिद्ध्यै प्रवृत्तेन ब्राह्मणोऽग्रे कर्तव्यः । अतो भवत्या अहमग्रणीर्भवामि ।

धूता सभी ओर से बाधा पड़ती देख हताश हो चली और अंत में बालक से सविषाद कहा—

न खल्वार्यपुत्रस्त्वां पर्यवस्थापयिष्यति ।

इतने में ही चारुदत्त का उदय हो गया और अपनी प्रेयसी से बड़े भाव से कहा—

हा प्रेयसि ! प्रेयसि विद्यमाने कोऽयं कठोरो व्यवसाय आसीत् ?
अम्भोजिनी लोचनमुद्रणं किं भानावनस्तगमिते करोति ? ॥५८॥१०॥

उत्तर भी उससे गहरे, सरल और सुबोध भाव से मिला—

आर्यपुत्र ! अत एव साऽचेतनेति चुम्ब्यते ।

पति-पत्नी के इस प्रसंग को प्रथम समझें वा अंतिम, पर समस्त प्रकरण में एक साथ उनका दर्शन अन्यत्र दुर्लभ है । स्मरण रहे, धूता की व्यंजना बहुत दूर की है । अचेतना कमलिनी आँख मूदती है अंधकार में, सचेतन सूर्य उसका चुम्बन करता है स्वयं आकर प्रकाश में, और हो जाता है इस प्रकार दोनो के साथ ही जग का प्रभात । साधु शूद्रक ! साधु !!

सपत्नी—धूता की तत्क्षण दृष्टि पडी सौत वसन्तसेना पर । ललक कर बोल उठी—

दिष्ट्या कुशलिनी भगिनी !

फिर तो दोनों गले मिलीं। स्मरण है न? कभी धूता ने 'रत्नावली' लौटाते समय वसन्तसेना से कहलाया था—

आर्यपुत्रेण युष्माकं प्रसादीकृता। न युक्तं ममैतां ग्रहीतुम्। आर्यपुत्र एव ममाभरणविशेष इति जानातु भवती।

[अंक ६, आरम्भ]

धूता के इस कथन में 'पतिव्रता' का जीवन है और चेटी के इस कथन में कुछ परिहास भी—

आर्ये! कोपिष्यति चारुदत्त आर्यायै तावत्।

पर क्या उदारसत्त्व चारुदत्त को पतिव्रता धूता पर कभी कोप करने का अवसर मिल सकता था? इसी के पहले तो वसन्तसेना ने चेटी से पूछा भी था—

अपि सन्तप्यते चारुदत्तस्य परिजनः?

उसने भी ठीक ही तो कहा था—

यदार्या गमिष्यति।

[अंक ६, आरंभ]

जी। धूता को वेश्या के अलंकार की चोरी का पता चला तो उसको चिन्ता हुई चारुदत्त के गौरव की। चेटी से उसने कहा भी—

वरमिदानीं स शरीरेण परिक्षतः न पुनश्चारित्रेण।

फिर तो दरिद्र चारुदत्त के 'चारित्र' की रक्षा के लिये जो कुछ उसने उपाय रचा उसी को लक्ष्य करके आर्य मैत्रेय ने चारुदत्त से कहा—

भोः यत्ते सदृशदारसंग्रहस्य फलम्।

[अंक ३, २७ पू०]

दम्पति की यह सदृशता धन्य है, कृतार्थ है शूद्रक की कलम जिससे ऐसे फल उगे।

स्फुट

रोहसेन—गणिका वसन्तसेना से लेकर गृहिणी धूता तक जो दौड़ लगी है उसमें एक बालक भी दिखायी दे गया है जिसका नाम है 'रोहसेन'। उसके

परिचय में इतना ही कहा जा सकता है कि वास्तव में वह बुझते घर का प्रदीप है। उसका रोना ही नाटक का प्राण है। रदनिका इसी से तो कहती भी है—

न केवलं रूपं शीलमपि तर्कयामि। एतेनार्यचारुदत्त आत्मानं विनोदयति।

चारुदत्त का यह लाडला आँख का तारा ही नहीं आँसू भी है। 'मृच्छकटिक' का नाम इसी की 'मृत्तिकाशकटिका' से चला है। वात्सल्य का यह पुतला वसन्तसेना को रुलाता और गणिका से जननी बनाकर छोडता है।

रदनिका—और उसकी दाई 'रदनिका'? सो उसकी भी कुछ न पूछिये। बालक को बहलाने का उपाय भी सूझा तो 'सौवर्णशकटिका' से चित्त हटाकर वसन्तसेना में लगा देना। उसका सम्पर्क ही कुछ ऐसा था कि उससे जी हरा हो उठता था। विदूषक की उसी पर इतनी कृपा क्यों? बलि देना हुआ तो 'रदनिका' का साथ हो, रात्रि में पैर धुलाना हो तो उसी का हाथ लगे। क्यों? कारण यही कि वह कहती कम और करती अधिक है। उसने ठीक ही तो कहा है—

आर्य मैत्रेय! रदनिका खल्वहं संयतमुखी।

विदूषक ने कभी उसके 'परिभव' की व्याख्या में पूछा था—

किं तव परिभवः अथवास्माकम्?

तो उसने बड़ी लाग से उत्तर दिया—

ननु युष्माकमेव।

सचाई भी इतनी कि मरना चाहती है धूता के साथ। चोरी की सूचना झट उसी से धूता को मिली। उधर से चेट पहुँचा तो उसने भी पुकारा—

रदनिके रदनिके निवेदयार्यायै वसन्तसेनायै।

सारांश यह कि घर की सुधि इसी के हाथ में है और बालक का पालन-पोषण भी। चेटियों में यह चेटी प्रतीक है। इसी से इसके विषय में इतना कह दिया गया, नहीं तो कहना यहाँ तो यह था कि रोहसेन की करुणधारा में रदनिका का योग है।

चांडाल—अस्तु। रोहसेन ने पिता की कातर स्थिति को देखकर चांडालों को पुकारा—

अरे रे चांडालौ कुत्र मम पितरं नयथः।

तो इसका उत्तर मिला कितना हृदयस्पर्शी—

न खलु वयं चाण्डालाश्चाण्डालकुले जातपूर्वा अपि।
येऽभिभवन्ति साधुं ते पापास्ते च चाण्डालाः ॥२२॥१०॥

चांडाल की इस व्याख्या से 'कुल' और 'शील' पर जो प्रकाश पड़ता है वह 'चारित्र' को प्रकाशित करने में पर्याप्त है। और यदि इससे उसके प्रकाशमान होने में कुछ कमी रह जाती हो तो आर्यक का यह विचार सुनें और देखें कि एक ही कार्य में निरत व्यक्तियों में संस्कारवश कैसा भेद हो जाता है। वह किस वेदना से कहता है—

एककार्यनियोगेऽपि नानयोस्तुल्यशीलता।
विवाहे च चितायां च यथा हुतभुजोर्द्वयोः ॥१६॥६॥

शील—'शील' क्या है और उसका निर्माण किस प्रकार होता है, इसको देखना-दिखाना शूद्रक का कार्य है। वह पद के साथ बनता बिगड़ता है। 'तन्त्रिल सेनापति' वीरक और 'बलपति' चन्दनक की झड़प में इसका आभास मिलता है; तथा सभिक, माथुर, द्यूतकर एवं दर्दुरक के प्रकरण में इसे दिखाया भी गया है। 'वृत्ति' शब्द इसका स्वयं प्रमाण है। जीवनवृत्ति और चित्तवृत्ति में गहरा लगाव है। चित्त भी जीवन के साथ बनता बिगड़ता रहता है। 'तन्त्रिल' अधिकरण में पहुँचकर आर्यचारुदत्त के विनाश में हाथ बँटाता है तो बलपति श्मशान पर पहुँचकर उसके घर की रक्षा में लीन होता है। दोनों ही अपने रंग में चोखे हैं। 'सेनापति' तथा 'बलपति' के दर्प में एक दूसरे पर फबती भी खूब कसते हैं। तान दोनों की टूटती है अन्त में 'जाति' पर ही। 'कस्त्वम्'—'त्वमपि कः' की यह भिडन्त देखते ही बनती है। उसमें भी आनंद यह कि एक बनावटी और दूसरा सचमुच सच्चा कलह करता है। बनावटी कलही चन्दनक किस ढब से कहता है—

पूज्यमानो मान्यमानस्त्वमात्मनो जातिं न स्मरसि ?

चन्दनक—और अन्त में इतना चिढ़ा देता है कि जिसका कुछ ठिकाना नही। 'कर्णाटक कलह' का यह रूप अन्यत्र दुर्लभ है। 'वीरक' के सामने कोई प्रश्न नही। अड़चन में पड़ा है चन्दनक—

एषोऽनपराधः शरणागत आर्यचारुदत्तस्य प्रवहणमारूढः प्राणप्रदस्य मे आर्यशर्विलकस्य मित्रम्। अन्यतो राजनियोगः। तत्किमिदानीमत्र युक्त-मनुष्ठातुम्।

[अंक ७, १६ पू०]

प्रश्न का समाधान स्वयं कर लिया और किया तदनुकूल 'आचरण' भी। 'राजनियोग' की अवहेलना से उसका पतन हुआ अथवा 'अनपराध शरणागत' की रक्षा से उत्थान, इसका निर्णय आप करें। शूद्रक ने तो अन्त में उसे 'पृथिवी दण्डपालक' बना ही दिया। तो क्या उसकी दृष्टि में 'प्रजा' 'राजा' से कही अधिक बढ़कर नही है? 'लोकानुग्रह' और 'राजनियोग' का यह संघर्ष नया नही। 'पुलिस' और 'पलटन' में कुछ भेद है ही। जो हो बलपति चन्दनक ने जिसका पक्ष लिया था उसका स्वरूप है—

करिकरसमबाहुः सिंहपीनोन्नतांसः,
पृथुतरसमवक्षास्ताम्रलोलायताक्षः।
कथमिदमसमानं प्राप्त एवंविधो यो,
वहति निगडमेकं पादलग्नं महात्मा ॥५॥७॥

कोई कुछ भी कहे, किसी के 'शास्त्र' में कुछ भी निकले, किन्तु चरित्रदर्शी शूद्रक के 'चारित्र' शास्त्र में लिखा मिलेगा ऐसे 'महात्मा' का साथ दो। निरे पूजापाठी नृशंस शासक का वध करो। फिर नाम का 'पालक' ही वह क्यों न हो।

---

५. कवि-कर्म

कवि-दशा—सौभाग्य की बात ठहरी कि स्वयं शूद्रक ने कविदशा का अंकन कर दिया और अपने भाण के नायक 'शश' से कहला दिया—

सखे कात्यायन ! किमिदमाकाशरोमन्थनं क्रियते ? किं ब्रवीषि–'स एव मा काव्यपिशाचो वाहयति' इति। मा तावत् भोः अंघो पुराणकाव्यपदच्छेदग्रथनचर्मकार किमिदं नष्टगोयूथ इव गोपालको नवपदान्यन्वेषसे। अथ सखे किं वस्तु परिगृह्य कृतः श्लोकः ? किं ब्रवीषि–'ननु खलु इममेव वर्तमानरमणीयं वसन्तसमयमाश्रित्य कृतः श्लोकः' इति। अथ शक्यं श्रोतुम् ? किं ब्रवीषि–'नन्वेष भित्तिगतो वाच्यताम्' इति। कासौ ? (विलोक्य) अये अयं—

पुष्पस्पष्टाट्टहासः समदमधुकरः कोकिलावावदूकः,
श्रीमत्स्वेदावतारः प्रसुभगपवनः कर्कशोद्दामकामः।
बालामप्यप्रगल्भां वरतनुमवशां कामिने संप्रदातुं,
कालोऽयं तत्करिष्यत्यनुनयनिपुणां यन्न दूतीसहस्रम् ॥

साधु भोः कल्याणं खल्वेतन्निमित्तम्। वयस्य सत्पुत्रलाभ इव यशस्करः श्लोकोयमस्तु, वाक्पुरोभागानामभागी भव।

[प० प्रा०, पृ० ५-६]

कवि-जीवन की इस कथा में इतना और जोड़ दें तो शूद्रक के दृष्टि-व्यापार का भली भाँति साक्षात्कार हो जाय। कहते हैं—

तत्काममस्मिन्काले प्रवृत्तप्रतिभास्रोतोविघातिनं सुप्रियमपि सुहृदमभ्यसूयन्ते कवयः। किन्तु सरस्वतीलताप्रभवानां वाक्पुष्पकाणां कर्णपूरमकृत्वातिक्रमितुं वञ्चितमिवात्मानं मन्ये। यावदेनमुपसर्पामि।

[वही, पृ० ५]

अब इस सारी कथा में आपको मिल गया कवि का पूरा जीवन। 'आकाशरोमन्थन' से लेकर 'वाक्पुरोभाग' तक कवि का व्यापार फैला हुआ है।

'पुराणकाव्यपदच्छेदग्रथन' के साथ ही साथ 'नवपदान्वेषण' की चिन्ता में मग्न कवि को ध्यान रखना है 'वाक्पुरोभाग' अथवा अपने आलोचक का। भले ही वह तन्मयता की दशा में किसी का पधारना ठीक न समझे, पर काव्य के प्रेमी उसको यों ही कब छोड सकते है? उससे छेड़-छाड़कर कुछ न कुछ रस का आस्वादन करेंगे ही। किन्तु उक्त कथन मे सबसे अधिक महत्त्व की बात है 'वर्तमान रमणीय'। निश्चय ही वही कविता रमणीय होगी और उसी से 'सत्पुत्रलाभ' की भाँति 'यश' प्राप्त होगा जो वास्तव में इस 'वर्तमान' को दृष्टि मे रखकर बनेगी अन्यथा होगी उसकी गहरी आलोचना।

वसन्त—सो लीजिये 'वसन्त' का आगमन है उसी भाण में—

आतोद्यं पक्षिसंघास्तरुरसमुदिताः कोकिला गान्ति गीतं,
वाताचार्योपदेशादभिनयति लता काननान्तःपुरस्त्री।
तां वृक्षाः साधयन्ति स्वकुसुमहृषिताः पल्लवाग्रांगुलीभिः,
श्रीमान्प्राप्तो वसन्तस्त्वरितमपगतो हारगौरस्तुषारः ॥३॥

'वाताचार्य' के उपदेशानुसार लतानागरी का सुंदर अभिनय हो रहा है तो 'वसन्त' के साथ ही वसन्तकुटुम्बिनी का भी दर्शन होना चाहिये। सो लीजिये—

पद्मोत्फुल्लश्रीमद्वक्त्रा सितकुसुममुकुलदशना नवोत्पललोचना,
रक्ताशोकप्रस्यन्दोष्ठी भ्रमररुतमधुरकथिता वरस्तबकस्तनी।
पुष्पापीडालंकाराढ्या ग्रथितशुभकुसुमवसना स्रगुज्ज्वलमेखला,
पुष्पन्यस्तं नारीरूपं वहति खलु कुसुमविपणिर्वसन्तकुटुम्बिनी ॥२१॥

फिर भी 'वसन्त' की पूरी महिमा अभी कहाँ गोचर हुयी। इसके लिये तो उसका जंगम रूप चाहिये न? देखिये तो सही, सो भी शूद्रक के यहाँ प्राप्त है। 'शश' की दृष्टि में—

वासन्तीकुन्दमिश्रैः कुरवककुसुमैः पूरितः केशहस्तो,
लग्नाशोकशिखान्तः स्तनतटरचितस्सिन्दुवारोपहारः।
प्रत्यग्रैश्चूतपुष्पैः प्रचलकिसलयैः कल्पितः कर्णपूरः
पुष्पव्यग्राग्रहस्ते वहसि सुवदने मूर्तिमन्तं वसन्तम् ॥२६॥

इस 'मूर्तिमन्त वसन्त' की कृपा कहिये कि—

पुष्पसमुज्ज्वलाः कुरवका नदति परभृतः,
कान्तमशोकपुष्पसहितं चलति किसलयम् ।
चूतसुगन्धयश्च पवना भ्रमररुतवहाः,
सम्प्रति काननेषु सधनुर्विचरति मदनः ॥२॥

भला इस प्रकार 'सधनु मदन' का विचरण कभी व्यर्थ जा सकता है? फलतः—

प्रचलकिसलयाग्रप्रनृत्तद्रुमं,
यौवनस्थायते फुल्लवल्लीपिनद्धं वनम् ।
तिलकशिरसि केशपाशायते कोकिलः,
कुन्दपुष्पे स्थितः स्त्री कटाक्षायते षट्पदः ॥६॥

और साथ ही—

क्वचिदचिरविरूढबालस्तनी कन्यकेवोद्गतैः
श्यामलैः कुड्मलैः पद्मिनी शोभते ।
वरयुवतिरतिश्रमखिन्नपीनस्तनस्पर्श—
धूर्तायिता वान्ति वासन्तिका वायवः ॥७॥

'धूर्त' से 'बालस्तनी' की रक्षा भले ही न हो, किन्तु 'शकार' से 'वसन्तसेना' की रक्षा तो हो गयी न? कारण उसका दृढ संकल्प ही तो था—

उदयन्तु नाम मेघा भवतु निशा वर्षमविरतं पततु ।
गणयामि नैव सर्वं दयिताभिमुखेन हृदयेन ॥३३॥४॥

मेघ—तो भला जीवनदाता मेघ से डर क्या? चारुदत्त का उल्लास है—

मेघो जलार्द्रमहिषोदरभृंगनीलो
विद्युत्प्रभारचितपीतपटोत्तरीयः ।
आभाति संहतबलाकगृहीतशंखः
खं केशवोऽपर इवाक्रमितुं प्रवृत्तः ॥२॥५॥

चारुदत्त की दृष्टि और भी आगे बढ़ी और वर्षा को देख कर उसे ऐसा लगा

कि केशव की भाँति एक साथ ही 'अर्जुन', 'बलदेव' और 'शक्र' उसकी आँख में फिर गये। देखिये शूद्रक की कलम—

धाराभिरार्यजनचित्तसुनिर्मलाभि-
श्चण्डाभिरर्जुनशरप्रतिकर्कशाभिः।
मेघाः स्रवन्ति बलदेवपटप्रकाशाः
शक्रस्य मौक्तिकनिधानमिवोद्गिरन्तः ॥४५॥५॥

फलतः कहा भी—

प्रिये ! पश्य पश्य—

एतैः पिष्टतमालवर्णकनिभैरालिप्तमम्भोधरैः,
संसक्तैरुपवीजितं सुरभिभिः शीतैः प्रदोषानिलैः।
एषाम्भोदसमागमप्रणयिनी स्वच्छन्दमभ्यागता,
रक्ता कान्तमिवाम्बरं प्रियतमा विद्युत्समालिंगति ॥४६॥५॥

'अकालदुर्दिन' प्रिया को पाकर कैसा सुदिन बना इसे प्रकरण में देखा तथा हृदय में समझा जा सकता है। निवेदन यहाँ यह करना है कि यहीं प्रकृति का यह आलम्बनगत वर्णन भी देख लें—

तालीषु तारं विटपेषु मन्द्रं शिलासु रूक्षं सलिलेषु चण्डम्।
संगीतवीणा इव ताड्यमानास्तालानुसारेण पतन्ति धाराः ॥५२॥५॥

देखिये न 'धारा' तो वही ठहरी, पर पात्रानुसार उसकी ध्वनि बदलती रहती है। और भी निकट से तो देखिये। आर्य चारुदत्त कहते हैं—

अमूर्हि भित्त्वा जलदान्तराणि पंकान्तराणीव मृणालसूच्यः।
पतन्ति चन्द्रव्यसनाद्विमुक्ता दिवोऽश्रुधारा इव वारिधाराः ॥४४॥५॥

'मृणाल' को 'सूची' कर दिखाना शूद्रक का ही काम है। हो भी क्यों नही? पंकान्तर को भेद कर ही तो मृणाल बाहर निकलता है। फिर उसका यह काम किस सूई से कम है? इसी प्रकार चन्द्र के छिप जाने पर आकाश का रोना भी कुछ कम नही। इसमें अलंकार की ही छटा नहीं है। नहीं, इसमें आगे चलकर चारुदत्त की विपदा का भी आभास है और है उसकी प्रिया वसन्तसेना का

रोना भी। उपमा, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति के साथ ही व्यंग्य रूपक भी यहाँ देखा जा सकता है। निकट का प्रकृति-निरीक्षण तो है ही। 'अमूर्हिभित्वा जलदान्तराणि' में 'जलदान्तर' को बडे ध्यान से देखा गया है और 'पंकान्तर' का तो कहना ही क्या? 'पंक' से शूद्रक को कितना स्नेह है। कहते हैं—

उदयति हि शशांकः कामिनीगण्डपाण्डु-
ग्रहगणपरिवारो राजमार्गप्रदीपः।
तिमिरनिकरमध्ये रश्मयो यस्य गौराः
स्रुतजल इव पंके क्षीरधाराः पतन्ति॥५७॥१॥

यह 'शशांक' शर्विलक नही तो और क्या है? 'शश' को आर्यक समझिये और शेष तो ठीक ही है। 'तिमिरनिकर' भी तो कुछ कह रहा है। सचमुच कविता का प्राण है 'स्रुतजल'। जलरहित पंक के वर्ण पर ध्यान दीजिये और यह भी जान लीजिए कि दूध में सिक्त हो जाने पर इसका रंग क्या से क्या हो जायगा।

वर्षा—कालिमा मे भीनती चाँदनी का ऐसा दिव्य दर्शन अन्यत्र कहाँ? तो भी 'पंक' किंवा वर्षा के प्रसंग में कहना यह है कि कृपया शूद्रक के इस निरीक्षण पर ध्यान दे—

पंकक्लिन्नमुखाः पिबन्ति सलिलं धाराहता दर्दुराः,
कंठं मुञ्चति बर्हिणः समदनो नीपः प्रदीपायते।
संन्यासः कुलदूषणैरिव जनैर्मेघैर्वृतश्चन्द्रमा,
विद्युन्नीचकुलोद्गतेव युवतिर्नैकत्र संतिष्ठते॥१४॥५॥

सामान्यतः इस श्लोक मे कोई विशेष बात नहीं जान पड़ती, पर ध्यान से देखा जाय तो आप ही अवगत होगा कि प्रथम दो पंक्तियों में तो प्रकृति का शुद्ध वर्णन किया गया है और यह प्रत्यक्ष दिखा दिया गया है कि एक ही वर्षा का प्रभाव भिन्न-भिन्न पदार्थों पर क्या पड़ा है, और उसकी स्थिति क्या हो गयी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कविता का प्राण है 'पंकक्लिन्नमुख' कुछ 'धाराहत दर्दुर' नहीं। इससे दर्दुर की प्रकृति का बोध होता है। इसी प्रकार "कंठं मुञ्चति' और 'प्रदीपायते' को भी समझ लीजिये। इनके अतिरिक्त अन्त

की शेष दो पंक्तियों में कुछ और ही बात कही गयी है। अब तक 'विट' निरी प्रकृति को देख रहा था। अब उसकी दृष्टि मानव पर पड़ी। 'संन्यास' दूषित दिखाई दिया और 'युवती' चंचल। किंतु कर्म के कारण नहीं, 'कुल' के अभाव से।

'वसन्तसेना' स्त्री ठहरी। उसको भी स्त्री की नीचता खल गयी। शुद्ध प्रकृति का दर्शन शुद्ध हृदय से होता है न? भाव से अनुरंजित हृदय में तो अपना ही इष्ट निहित रहता है न? निदान वसन्तसेना भी बोली—

भाव सुष्ठु ते भणितम्। एषा हि—
मूढे निरन्तरपयोधरया मयैव
कान्तः सहाभिरमते यदि किं तवात्र।
मां गर्जितैरपि मुहुर्विनिवारयन्ती
मार्गं रुणद्धि कुपितेव निशासपत्नी ॥१५॥५॥

'निशासपत्नी' के इस व्यवहार को कहा क्या जाय? 'निरन्तरपयोधर' का यह अभिमान? तो क्या स्त्री से कभी स्त्री को सहागता नहीं मिल सकती? निवेदन है, ऐसा हो नहीं सकता। स्वयं वसन्तसेना ही तो कहती है—

यदि गर्जति वारिधरो गर्जतु तन्नाम निष्ठुराः पुरुषाः।
अयि विद्युत्प्रमदानां त्वमपि च दुःखं न जानासि ॥३२॥५॥

वेदना की फटकार व्यर्थ नहीं जाती। विट ने ठीक ही तो कहा—

ऐरावतोरसि चलेव सुवर्णरज्जुः
शैलस्य मूर्ध्नि निहतेव सिता पताका।
आखण्डलस्य भवनोदरदीपिकेय-
माख्याति ते प्रियतमस्य हि सन्निवेशम् ॥३३॥५॥

'विद्युत्' से दीपक का कार्य तो बहुतों ने लिया है, किंतु यहाँ इसके अति-रिक्त और जो कुछ कहा गया है वह देशकाल की दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। उससे उस समय के राजसी जीवन का भान होता है। स्मरण रहे, इसी विट का उधर चारुदत्त से निवेदन है—

एषा फुल्लकदम्बनीपसुरभौ काले घनोद्भासिते
कान्तस्यालयमागता समदना हृष्टा जलार्द्रालका ।
विद्युद्वारिदगर्जितैः सचकिता त्वद्दर्शनाकांक्षिणी
पादौ नूपुरलग्नकर्दमधरौ प्रक्षालयन्ती स्थिता ॥३५॥५॥

'अभिसारिका' के आगमन का कैसा सजीव वर्णन है ? प्रकृति के साथ ही उसकी अपनी प्रकृति भी कैसा शोभन कार्य कर रही है ? कर्दम का प्रक्षालन भी कुछ कहा चाहता है। सब कुछ को देखते हुये कहना ही पड़ता है कि 'विद्युद्वारिदगर्जन' से रक्षा का उपाय तो होना ही चाहिए। विट भला इससे अधिक कुछ और कह ही क्या सकता था ? फलतः उधर से चारुदत्त का भी मुँह खुला—

एतैः पिष्टतमालवर्णकनिभैरालिप्तमम्भोधरैः
संसक्तैरुपवीजितं सुरभिभिः शीतैः प्रदोषानिलैः ।
एषाम्भोदसमागमप्रणयिनी स्वच्छन्दमभ्यागता
रक्ता कान्तमिवाम्बरं प्रियतमा विद्युत्समालिंगति ॥४६॥५॥

एक ही दुर्दिन को चारुदत्त ने देखा, वसन्तसेना ने देखा और देखा उसके विट ने भी, किन्तु सभी ने देखा उसे अपनी भावना के अनुकूल, अपनी दृष्टि से। अच्छा होगा, यहीं विदूषक का देखना भी देख लें। वह भी कुछ समझकर कहता है—

भो वयस्य एष खल्वपसारयन्निव सुखोपविष्टं जनं पुनरपि विस्तारि-वारिधाराभिः प्रवृष्टः पर्जन्यः ।

विदूषक का प्रकृति में विशेष अनुराग नहीं, पर चारुदत्त तो उसका भक्त ही ठहरा। उसे तो मेघ में ही न जाने क्या-क्या दृश्य दिखाई दे जाते हैं। देखिये न—

संसक्तैरिव चक्रवाकमिथुनैर्हंसैः प्रडीनैरिव
व्याविद्धैरिव मीनचक्रमकरैर्हर्म्यैरिव प्रोच्छ्रितैः ।
तैस्तैराकृतिविस्तरैरनुगतैर्मेघैः समभ्युन्नतैः ।
पत्रच्छेद्यमिवेह भाति गगनं विश्लेषितैर्वायुना ॥५॥५॥

अधिक क्या? बड़ी सरलता से सहज में ही कहा जा सकता है कि 'वसन्त' और 'वर्षा' का यह वर्णन अन्यत्र नही, और मेघ का ऐसा विवरण तो अन्यत्र दुर्लभ ही है। गगन में मेघ क्या आ गये मानो चित्र की पूरी भित्ति ही सामने आ गयी। जो कुछ चाहें उसमें चित्रित देख लें। कालिदास ने इसी से तो कहा भी है मेघ को 'कामरूप'।

प्रकृति निरीक्षण—मेघाच्छादित गगन की गाथा ही क्या? शूद्रक ने तो उसे भाँति-भाँति से गा कर पूरा एक अंक ही बना लिया है। किन्तु वैसे भी उसका अंधकार का वर्णन सदा से अति प्रसिद्ध रहा है। विट किस भाव से कहता है—

आलोकविशाला मे सहसा तिमिरप्रवेशविच्छिन्ना।
उन्मीलितापि दृष्टिर्निमीलितेवान्धकारेण ॥३३॥१॥

तो क्या यह उसी की बात रही? नहीं जी, देखते नहीं हो—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥३४॥१॥

अंधकार का भाग्योदय समझिये कि उधर चन्द्रास्त की स्थिति आ गयी। अस्त होते-होते चन्द्र का दर्शन तो कीजिये। देखा नहीं कि—

असौ हि दत्त्वा तिमिरावकाशमस्तं व्रजत्युन्नतकोटिरिन्दुः।
जलावगाढस्य वनद्विपस्य तीक्ष्णं विषाणाग्रमिवावशिष्टम् ॥६॥३॥

सच है जो दूसरे को 'अवकाश' देगा उसका अस्त भी 'उन्नतकोटि' का होगा और होगा उसका अवशिष्ट भी दर्शनीय। संकोच की बात नहीं, कह तो दे कि चन्द्रोदय और चन्द्रास्त का ऐसा अद्भुत वर्णन कहीं अन्यत्र भी देखा है। वहाँ था 'स्रुतजल इव पंके' यहाँ है 'विषाणाग्रमिव'। बस इसी से समझ लीजिए कि शूद्रक की पैनी दृष्टि 'पंक' से 'वनद्विप' तक क्या नहीं देख लेती।

अर्द्धरात्रि के चन्द्रास्त की शोभा आँख में घर कर गयी तो 'मध्याह्न' की स्थिति को भी देख लीजिये। शकार को भी क्या सूझी कि कह दिया—

नभोमध्यगतः सूर्यः दुष्प्रेक्षः कुपितवानरसदृशः।
भूमिर्दृढसंतप्ता हतपुत्रशतेव गान्धारी ॥१०॥८॥

और क्यों न ऐसा कहे ? शील और संस्कार ही तो अप्रस्तुत-विधान में काम करते हैं ? देखिये न, इसी अवसर पर उधर विट क्या देखता है । यही न—

छायासु प्रतिमुक्तशष्पकवलं निद्रायते गोकुलं,
तृष्णार्तैश्च निपीयते वनमृगैरुष्णं पयः सारसम् ।
संतापादतिशंकितैर्न नगरीमार्गो नरैः सेव्यते ,
तप्तां भूमिमपास्य च प्रवहणं मन्ये क्वचित्संस्थितम् ॥११॥८॥

और यदि आप को भी किसी छाया में विश्राम लेना हो तो ध्यान रखें। यहीं 'वृक्षवाटिका' भी है—

अच्छरीतिकुसुमप्रस्तारा रोपितानेकपादपाः निरन्तरपादपतलनिर्मिता युवतिजघनप्रमाणा पट्टदोला सुवर्णयूथिकाशेफालिकामालतीमल्लिकानवमल्लिकाकुरवकातिमुक्तकप्रभृतिकुसुमैः स्वयं निपतितैर्यत्सत्यं लघूकरोतीव नन्दनवनस्य सश्रीकताम् ।

साथ ही—

इतश्च उदयत्सूर्यसमप्रभैः कमलरक्तोत्पलैः सन्ध्यायते इव दीर्घिका । अपि च—

एषोऽशोकवृक्षो नवनिर्गमकुसुमपल्लवो भाति ।
सुभट इव समरमध्ये घनलोहितपंकचर्चिकः ॥२१॥४॥

अशोक का 'सुभट' होना ठीक ही है, परन्तु किसी यात्रा में बाधा भी तो कम नहीं । देखिये न—

मयि विनिहितदृष्टिर्भिन्ननीलाञ्जनाभः
स्फुरितविततजिह्वः शुक्लदंष्ट्राचतुष्कः ।
अभिपतति सरोषो जिह्मिताध्मातकुक्षि-
र्भुजगपतिरयं मे मार्गमाक्रम्य सुप्तः ॥१२॥९॥

मानव—सुप्त सर्प तो आहट पाते ही सरोष हो उठा, पर मानव सोया तो गाढ़ निद्रा में पड़ गया—

निःश्वासोऽस्य न शंकितः सुविशदस्तुल्यान्तरं वर्त्तते,
दृष्टिर्गाढनिमीलिता न विकला नाभ्यन्तरे चञ्चला।
गात्रस्रस्तशरीरसन्धिशिथिलं शय्याप्रमाणाधिकं,
दीपं चापि न मर्षयेदभिमुखं स्याल्लक्ष्यसुप्तं यदि ॥१८॥३॥

मानव जो सो गया उसकी दशा तो यह है और जो जागता है उसकी यह—

अद्याप्यस्य तथैव केशविरहाद्गौरी ललाटच्छविः
कालस्याल्पतया च चीवरकृतः स्कन्धे न जातः किणः।
नाभ्यस्ता च कषायवस्त्ररचना दूरं निगूढान्तरं
वस्त्रान्तं च पटोच्छ्रयात्प्रशिथिलं स्कन्धे न संतिष्ठते ॥५॥८॥

यह तो रही विशेष स्थिति में मानव की परख। सामान्यत देखा जाता है कि मानव की आकृति तथा प्रकृति में विशेष समता होती है। इसी से आर्य चारुदत्त को देखकर 'अधिकरणिक' ने कहा भी है—

घोणोन्नतं मुखमपांगविशालनेत्रं
नैतद्धि भाजनमकारणदूषणानाम्।
नागेषु गोषु तुरगेषु तथा नरेषु
नह्याकृतिः सुसदृशं विजहाति वृत्तम् ॥१६॥६॥

एवं चारुदत्त भी आर्यक को सनिगड़ देखकर आश्चर्य में पड़ गया है—

करिकरसमबाहुः सिंहपीनोन्नतांसः
पृथुतरसमवक्षास्ताम्रलोलायताक्षः।
कथमिदमसमानं प्राप्त एवंविधो यो
वहति निगडमेकं पादलग्नं महात्मा ॥५॥७॥

किन्तु सबके कारण को समझ लेना कुछ कठिन नहीं। सब की रक्षा अथवा लोकमंगल के लिये जिस अधिकरण का विधान होता है उसकी स्थिति पापवश हो जाती है—

चिन्तासक्तनिमग्नमन्त्रिसलिलं दूतोर्मिशंखाकुलं
पर्यन्तस्थितचारनक्रमकरं नागाश्वहिंस्राश्रयम्।

नानावाशककंकपक्षिनिचितं कायस्थसर्पास्पदं
नीतिक्षुण्णतटं च राजकरणं हिंस्रैः समुद्रायते ॥१४॥६॥

मानव कार्यवश इस 'समुद्र' में पहुँचता है तो उसकी भी सारी मानवता दूर हो जाती है और वह स्वयं सभी प्रकार से अपनी ही जीत चाहता है। फलतः अधिकरणिक को भी कलप कर कहना पड़ता है—

अहो व्यवहारपराधीनतया दुष्करं खलु परचित्तग्रहणमधिकरणिकैः ।
छन्नं कार्यमुपक्षिपन्ति पुरुषा न्यायेन दूरीकृतं
स्वान्दोषान्कथयन्ति नाधिकरणे रागाभिभूताः स्वयम् ।
तैः पक्षापरपक्षवर्धितबलैर्दोषैर्नृपः स्पृश्यते
संक्षेपादपवाद एव सुलभो द्रष्टुर्गुणो दूरतः ॥३॥६॥

तिस पर भी किसी 'राष्ट्रिय' की ऊपर से धौंस यह कि—

एतमधिकरणिकं दूरीकृत्यात्रान्यमधिकरणिकं स्थापयिष्यामि ।

धर्म्य—अत एव मानव का कल्याण तभी हो सकता है जब अधिकरणिक वास्तव में कैंडे का प्राणी हो। शूद्रक के कथनानुसार—

शास्त्रज्ञः कपटानुसारकुशलो वक्ता न च क्रोधन-
स्तुल्यो मित्रपरस्वकेषु चरितं दृष्ट्वैव दत्तोत्तरः ।
क्लीबान्पालयिता शठान्व्यथयिता धर्म्यो न लोभान्वितो
द्वार्भावे परतत्त्वबद्धहृदयो राज्ञश्च कोपापहः ॥५॥६॥

जी, 'धर्म्य' इसलिये कि इसी से सदा उसकी भावना बनी रहेगी कि—

पश्यन्ति मां दशदिशो वनदेवताश्च
चन्द्रश्च दीप्तकिरणश्च दिवाकरोऽयम् ।
धर्मानिलौ च गगनं च तथान्तरात्मा
भूमिस्तथा सुकृतदुष्कृतसाक्षिभूता ॥२४॥८॥

अन्यथा वह भी राष्ट्रिय शकार के उपदेशानुसार पट की ओट में ही सब कुछ कर लेगा। हाँ, भूलना न होगा कि शकार का उपदेश है—

तेन हि पटान्तापवारितां कृत्वा मारय ।

और इस उपदेश से बचने का उपाय है मानव का 'धर्म्य' होना ही। किंतु इस 'धर्म्य' का अर्थ नहीं कि आप को लक्ष्य करके किसी को कहना पड़े—

एष हि धर्मासनिकपुत्रः पवित्रको नाम प्रच्छन्नपुंश्चलीको (आचोक्षः चौक्षवारितः) राजमार्गेऽविदितजनसंस्पर्शं परिहरन्निव संगृहीतार्द्रवसनः संकुचितसर्वाङ्गो नासिकाद्वयमङ्गुलीद्वयेन पिधाय चत्वरशिवपीठिका-माश्रित्य स्थितः।

[पद्म, पृ० १०]

हाँ, इसी 'धर्म्य' की प्रेरणा है कि साहसी शर्विलक साभिमान कहता है—

नो मुष्णाम्यबलां विभूषणवतीं फुल्लामिवाहं लतां
विप्रस्वं न हरामि काञ्चनमथो यज्ञार्थमभ्युद्धृतम्।
धात्र्युत्संगगतं हरामि न तथा बालं धनार्थी क्चि-
त्कार्याकार्यविचारिणी मम मतिश्चौर्येऽपि नित्यं स्थिता ।।६।।४।।

नायिका—शूद्रक के इस 'काव्यलिंग' को उसके काव्य की पकड़ समझें और यह भलीभाँति समझ ले कि उसके 'धर्म्य' का क्षेत्र क्या है और किस प्रकार वह उसे समर्थ भाषा में व्यक्त करता है। स्मरण रहे, इसी का यह भी समर्थन है—

एता हसन्ति च रुदन्ति च वित्तहेतो-
र्विश्वासयन्ति पुरुषं न तु विश्वसन्ति।
तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन
वेश्याः श्मशानसुमना इव वर्जनीयाः ।।१४।।४।।

किंतु साथ ही यह स्वीकृति भी—

स्त्रियो हि नाम खल्वेता निसर्गादेव पंडिताः।
पुरुषाणां तु पांडित्यं शास्त्रैरेवोपदिश्यते ।।१६।।४।।

अस्तु, हम देखते हैं कि शूद्रक ने मानव-प्रकृति का चित्रण बड़े सीधे-सादे ढंग से किया है और कहीं वह चमत्कार के चक्कर में नहीं पड़ा है। जहाँ कहीं चमत्कार आया भी है बड़े ही स्वाभाविक ढंग से। आता भी क्यों नहीं? शूद्रक स्वभाव का ही तो कवि है! देखिये न मदनिका से यही शर्विलक कहता क्या है—

विषादस्त्रस्तसर्वांगी संभ्रमभ्रान्तलोचना ।
नीयमानाभुजिष्यात्वं कम्पसे नानुकम्पसे ॥८॥४॥

तपस्वी को क्या पता कि उसने कितना बड़ा अनर्थ कर डाला और वास्तव में मदनिका के कम्पन में उसकी अनुकम्पा का ही योग है । हाँ, वह अनुकम्पा उसके नहीं चारुदत्त के प्रति है । 'विशेषोक्ति' से कहीं बढ़कर मर्मभेदी है 'कम्पसे नानुकम्पसे' । ध्यान से देखिये तो, इसकी व्याप्ति बहुत दूर तक है । वस्तुतः इस 'नानुकम्पसे' में बहुत कुछ कह दिया गया है । नायक को नायिका की अनुकम्पा ही तो दुर्लभ है ? लीजिये—

इदमपरं शृंगारप्रकरणमुपस्थितम् । एषा हि नागरिकादुहिता गणिका मगधसुन्दरी नाम शरदमलशशिसदृशवदना असितमृदुकुञ्चितस्निग्ध-सुरभिशिरसिरुहा विकसितकुवलयदललोललोचनयुगा विद्रुमचारुतरताम्रा-धरसंपर्कपरिपाटलदशनमयूखा कुन्दकुसुममुकुलधवलसमसहित शिखरदती पीनकपोलस्तनोरुजघनचक्रा बाह्यद्वारकपाटार्द्धसंवृतशरीरा दक्षिणहस्तांगुलिद्वयेन तिरस्करिण्येकदेशमवलम्बमाना वामचरण-कमलैकदेशेन भूतले तालमभिसंयोज्य रक्तस्वरमधुरतारसंयुक्तामसंकीर्ण-वर्णामवघुष्टालंकारालंकृतां श्रोत्रमनोहरां षड्जग्रामाश्रयां वल्लभां नाम चतुष्पदां आकूजमाना नेत्रभ्रूक्षेपैः संकल्पितान् भावानभिनयन्ती कस्यापि सुभगस्यागमनं प्रतीक्षमाणा तिष्ठति । भोः को नु खल्वयं महेन्द्र इव सुरतयज्ञायाहूयते । भवतु । पृच्छाम्येनाम् । भवति वेशमेघविद्युल्लते पृच्छामस्तावत्—

शुक्लासितान्तरक्ता सापांगावेक्षिणी विकसितेयम् ।
धन्यस्य कस्य हेतोश्चन्द्रमुखि बहिर्मुखी दृष्टिः ॥३५॥

हा धिक् वित्रस्तमृगपोतिकेव सन्त्रस्तया दृष्ट्या मां निरीक्षते । प्रत्यागत-चित्तयानया भवितव्यम् ।

[पद्म०, पृ० २२]

'आगतपतिका' के इस 'नखशिख' के विषय में कुछ विशेष कहने की आवश्य-कता नहीं । उसके 'अपांग' का कहना ही क्या ? 'शुक्लासितान्तरक्ता' को लेकर

आगे चल कर और कमाल किया गया और वह कला दिखायी गयी कि सहृदय दंग रह गया। लीजिये हिंदी का एक अति प्रसिद्ध दोहा है—

अमिय हलाहल मदभरे, स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार॥

'स्वेत स्याम रतनार' के लिये यहाँ 'शुक्लासितान्तरक्ता' है ही और 'चितवत' के लिये भी 'सापांगावेक्षिणी' पर्याप्त है ही, फिर दोहे की मूल भावना से इसे अलग कर क्यों कर देखा जाय? सच है इस 'चन्द्रमुखी' की यह 'बहिर्मुखीदृष्टि' बहुतों की अन्तर्मुखी दृष्टि को उड़ा ले जाने वाली है। हो भी क्यों नहीं? यह 'वेशमेघविद्युल्लता' की दृष्टि है न? विद्युल्लता की?

और उधर—

अये इयं शोणदासी किमपि चिन्तयन्ती द्वारकोष्ठक एवोपविष्टा। तत्किमिदानीं निर्मुक्तभूषणतया विविक्तशरीरलावण्या मलिनप्रावारार्ध-संवृतशरीरा रक्तचन्दनानुलिप्तललाटा सतदुकूलपट्टिकावेष्टितशीर्षाऽवनत-वदनचन्द्रमण्डलांकाधिरूढां वल्लकीमीषत्कररुहैरवघट्टयन्ती काकलीमन्द-मधुरेण स्वरेण कैशिकाश्रयमाकूजन्ती तिष्ठति। उत्कंठितयाऽनया भवित-व्यम्। कैशिकाश्रयं हि गानं पर्यायशब्दो रुदितस्य।

[पद्म०, पृ० २०]

'उत्कंठिता' के इस वर्णन में उसकी वेशभूषा भी ध्यान देने योग्य है। शूद्रक की यह सज्जा कुछ विलक्षण सी प्रतीत होती है। जो हो, इसमें भी शूद्रक की विवरण-क्षमता गोचर होती है और उसके आलम्बन के स्वरूप को प्रत्यक्ष कर देती है।

जी, 'कर्कशस्त्रीकिशोरी' का रूप तो कुछ और ही है। देखिये न—

कान्तं कन्दर्पपुष्पं स्तनतटशशिनं रागवृक्षप्रवालं
शय्यायुद्धाभिघातं सुरतरथरणश्रान्तधुर्यप्रतोदम्।
उन्मेष विभ्रमाणां करजपदमयं गुह्यसम्भोगचिह्नं
रागाक्रान्ता वहन्तां जघननिपतितं कर्कशाः स्त्रीकिशोर्यः॥

साधु भोः कर्कशस्त्रीकिशोरीप्रतारणायाभिप्रस्थितस्य मे महदिदं मंगल-मर्थसिद्धिं सूचयति ।

[पद्म०, पृ० २४]

और कृपया भूल न जाइये इस प्रसंग में इस 'बालपक्वा' को । नहीं तो फिर अन्यत्र इसका दर्शन भी दुर्लभ होगा । लीजिये वह आपके सामने है किस रूप में—

उन्मत्तेनैव तावत्स्तनविषममुरो नोद्गता रोमराजिः
न व्युत्पन्नासि च त्वं व्यपनययुवती दोहलं दुर्विदग्धे ।
व्युत्पन्नाभिः सखीभिः सततमविनयग्रन्थमध्याप्यसे त्वं
केनेदं बालपक्वे मनसिजकदनं कर्तुमभ्युद्यतासि ॥४०॥

[पद्म०]

धात्री के इस उपालंभ से 'इस बालपक्वा' की रक्षा कौन करे ? 'आगे कौन हवाल' का हवाला देकर हम भी आगे बढ़ते हैं और यहाँ इतना ही कहना अलं समझते है कि 'नायिकाभेद' की दृष्टि से भी शूद्रक का अध्ययन बड़े महत्त्व का है । 'सामान्या' के प्रति इतना अनुराग 'भाण' के अतिरिक्त अन्यत्र कहाँ ? 'गणिका' के प्रेम में 'कर्णीपुत्र' की यह दशा है कि उनके सखा 'शश' को देवसेना से कहना पड़ता है—

किमाह देवसेना—'ननु भावदर्शनात्स्वस्थैवाहम्' इति प्रियं मे । कृतं मदनकर्म । कर्णीपुत्रप्राणधारणार्थं किञ्चित्स्मरणीयं दातुमर्हसि । किं ब्रवीषि—'किं दास्यामि' इति । किं नाम विचार्यते । इदं खलु—

ईषल्लीलाभिदष्टं स्तनतटमृदितं पत्रलेखानुविद्धं
खिन्नं निश्वासवातैर्मलयतरुरसक्लिष्टकिंजल्कवर्णम् ।
प्रातर्निर्माल्यभूतं सुरतसमुदयप्राभृतं प्रेषयास्मै
पद्मं पद्मावदाते करतलयुगलभ्रामणक्लिष्टनालम् ॥४४॥

कथं कटाक्षपातेनैतदनुज्ञातमनया । हन्त ! प्रतिगृहीतं प्राभृतं सुरत-सत्यकारस्य । यावदनेनौषधेन कर्णीपुत्रं सञ्जीवयामि ।

[पद्म०, पृ० २८]

भाव यह कि शूद्रक ने 'गणिका' को ही नायिका के रूप में देखा है और उसी को 'भाण' तथा 'प्रकरण' का विषय बनाया है। 'शश' का इस विषय में यह कहना कितना विचारणीय है—

दक्षात्मजाः सुन्दरि योगताराः
किं नैकजाताः शशिनं भजन्ते।
आरुह्यते वा सहकारवृक्षः
किं नैकमूलेन लताद्वयेन ॥४३॥

[पद्म०]

उस समय समाधान में देवसेना ने तो कह दिया—

तथेदानीं संप्रधार्यतां यथोभयं रक्ष्यते।

दम्पति—किंतु आज की देवसेना वा मानव क्या इस पक्ष में है? न हो, पर हृदय तो आज भी उसका वैसा ही है न? आज भी कोई शर्विलक कहीं भी कहता मन ही मन सुनाई पड़ सकता है—

मदनमपि गुणैर्विशेषयन्ती रतिरिव मूर्तिमती विभाति येयम्।
मम हृदयमनङ्गवह्नितप्तं भृशमिव चन्दनशीतलं करोति ॥४॥४॥

किंतु कितनी दयनीय दशा है इस चारुदत्त की जो आप ही कहता है—

वयस्य अलमिदानीं सर्वं परिवादमुक्त्वा अवस्थयैवास्मि निवारितः।

अश्य—

वेगं करोति तुरगस्त्वरितं प्रयातुं
प्राणव्ययान्न चरणास्तु तथा वहन्ति।
सर्वत्र यान्ति पुरुषस्य चलाः स्वभावाः
खिन्नास्ततो हृदयमेव पुनर्विशन्ति ॥८॥

अपि च वयस्य

यस्यार्थस्तस्य सा कान्ता धनहार्यो ह्यसौ जनः।

यहाँ तक कह तो गये, पर अन्तरात्मा ने साथ न दिया। उसने धीरे से कहा—

न, गुणहार्यो ह्यसौ जनः।

भला अन्तरात्मा हृदय को कभी 'अर्थ' से तौल सकती है ? न तौले, किन्तु लोक तो इसी पक्ष में है न ? फलतः चारुदत्त का निष्कर्ष है—

वयमर्थैः परित्यक्ता ननु त्यक्तैव सा मया ॥६॥५॥

किन्तु यदि प्रिया का त्याग इतना सरल होता। जी ! उधर कान में पड़ा नहीं कि—

अयि द्यूतकर ! अपि सुखस्ते प्रदोषः ?

कि झट उत्तर मिला—

अयि प्रिये !
सदा प्रदोषो मम याति जाग्रतः
सदा च मे निश्वसतो गता निशा।
त्वया समेतस्य विशाललोचने
ममाद्य शोकान्तकरः प्रदोषकः ॥३७॥५॥

'शोकान्तकर प्रदोष' सचमुच सुखद तब हो गया जब प्रियप्रिया ने एक साथ 'अभ्यन्तर' में प्रवेश किया। इसके पहले भी वसन्तसेना का आलिंगन पाकर चारुदत्त ने कहा था—

भो मेघ गम्भीरतरं नद त्वं तव प्रसादात्स्मरपीडितं मे।
संस्पर्शरोमाञ्चितजातरागं कदम्बपुष्पत्वमुपैति गात्रम् ॥४७॥५॥

और समय पाकर ही उससे खुलकर संकेत में कहा था—

स्तम्भेषु प्रचलितवेदिसंचयान्तं
शीर्णत्वात्कथमपि धार्यते वितानम्।
एषा च स्फुटितसुधाद्रवानुलेपात्
संक्लिन्ना सलिलभरेण चित्रभित्तिः ॥५०॥५॥

इसके पश्चात् 'अभ्यन्तर' में क्या हुआ, यह रंगमंच का विषय नहीं। हाँ, कहने की बात यहाँ अवश्य यह है कि दैववश फिर जब प्रियप्रिया का सामना हुआ तब सहर्ष चारुदत्त ने कहा—

कुतो वाष्पाम्बुधाराभिः स्नपयन्ती पयोधरौ।
मयि मृत्युवशं प्राप्ते विद्येव समुपागता ॥४२॥१०॥

और अति आनंद में इतना और भी निवेदन किया—

रक्तं तदेव वरवस्त्रमियं च माला
कान्तागमेन हि वरस्य यथा विभाति।
एते च वध्यपटहध्वनयस्तथैव
जाता विवाहपटहध्वनिभिः समानाः ॥४८॥१०॥

'वध्यभूमि' को 'विवाहभूमि' में परिणत कर दिखाना शूद्रक का काम है और 'गणिका' को 'वधू' बना देना उसका गुण। इसके पहले भी तो हमने शर्विलक और मदनिका के प्रसंग में देखा था कि यहाँ प्रणय वहाँ भी अपना कौशल दिखा रहा है। वसन्तसेना की शुभकामना तो देखिये—

एषा केनापि पुरुषकेण सह मन्त्रयमाणा तिष्ठति। यथातिस्निग्धया निश्चलदृष्ट्या पिबन्तीवैतं निध्यायति तथा तर्कयामि एष स जन एतामिच्छत्यभुजिष्यां कर्तुम्। तद्रमतां रमताम्। मा कस्यापि प्रीतिच्छेदो भवतु।
[अंक ४, ३ प०]

आवेश—सम्भोग का विस्तार अधिक नहीं। प्रसंगवश चारुदत्त की इस पुकार पर ध्यान तो दीजिये—

हा प्रेयसि! प्रेयसि विद्यमाने कोऽयं कठोरो व्यवसाय आसीत्।
अम्भोजिनी लोचनमुद्रणं किं भानावनस्तंगमिते करोति ॥५८॥१०॥

प्रश्न जटिल था, पर उत्तर भी कितना सटीक—

आर्यपुत्र! अत एव साचेतनेति चुम्ब्यते।

आर्या 'धूता' का यह समाधान अद्भुत और अपूर्व है। इस एक 'अचेतना' में इतनी आह है कि स्वयं सूर्य भगवान् को आकर उसका चुम्बन करना पड़ता है। सच है धूता के बिना चारुदत्त का उदय कैसा? जी हाँ, कवि की कला ठहरी। 'प्रेयसि' का कमाल तो देखिये। एक ओर एक रूप में उसका संकेत है 'धूता' तो दूसरी ओर उसी रूप में उसी शब्द का संकेत है 'चारुदत्त'। पहली है 'प्रेयसी' तो दूसरा है 'प्रेयस्'। पर काव्य में दोनों हो गए हैं विभक्ति के साथ 'प्रेयसि'। तद्रूप। 'हा प्रेयसि' में चमत्कार चाहे जितना हो, पर वेदना की

वह गहराई नहीं जो आगे के इस 'हा ब्राह्मणि' में है। देखिये न चारुदत्त किस विषाद में कहता है—

मैत्रेय भोः किमिदमद्य ममोपघातो
हा ब्राह्मणि द्विजकुले विमले प्रसूता।
हा रोहसेन न हि पश्यसि मे विपत्तिं
मिथ्यैव नन्दसि परव्यसनेन नित्यम् ॥२६॥६॥

विचारने की बात है कि एक ही अवस्था में, एक ही प्राणी में, भिन्न भिन्न आलम्बनो को पाकर कैसे भिन्न भिन्न भाव उठते हैं और हृदय में अलग अलग अपना स्थान जमाते है। स्मरण रहे मित्र मैत्रेय के प्रति चारुदत्त का भाव कुछ कड़ा है। उसकी समझ में यह नहीं आता कि मित्र के रहते उस पर अचानक विपदा कैसे आ पडी। सुहृद् से आशा क्या की जाती है? उसे छोड़कर संकट का साथी और किसे माना जाय? तभी तो उसका अमर्ष के साथ कहना है--

मैत्रेय भोः! किमिदमद्य ममोपघातो ?

आज से पहले तो कभी ऐसा नही हुआ था। फिर तुम्हारे रहते यह हो क्या गया। 'मित्र' से ध्यान हटा तो पत्नी दृष्टिपथ में आ गयी। परन्तु उससे कहे तो क्या कहे? उसकी रक्षा का भार तो स्वयं चारुदत्त पर ही था न? फिर उससे रक्षा की कामना क्या करे? सो भी तब जब उसी पतिव्रता के होते हुए किसी गणिका से नेह लगाता है। फलतः उसका विषाद है—

हा ब्राह्मणि! द्विजकुले विमले प्रसूता।

ब्राह्मणी की स्थिति पर ध्यान तो दीजिए। उसका पति भी किस कलंक का भागी बना? धनधान्य तो पहले से ही विदा हो चुके थे। रह गयी थी केवल पति की प्रतिष्ठा। सो दुर्भाग्य से आज वह भी जाती रही और ऊपर से कलंक मिला अलंकार के लिये वसन्तसेना सी 'नगरश्री' के वध का। अब भला वह कैसे जीवित रहे और किसको क्या मुँह दिखाये? 'विमल' कुल में, विमल 'द्विजकुल' में जन्म लेने का फल क्या हुआ जब पति के आचरण के कारण पतिकुल में यह कलंक लगा? सोचिये तो सही अब समाज में उसकी स्थिति

क्या होगी। और पुत्र रोहसेन की चर्चा ? हाँ, उसी से जीवन की आशा थी। किंतु आज वह भी किस काम आ रहा है ? इसी से उसको उपालंभ है—

हा रोहसेन ! नहि पश्यसि मे विपत्तिं ?

वेदना की गम्भीरता तो देखिये। भावावेश में चारुदत्त भूल सा गया कि रोहसेन अभी बच्चा है। उसे लग रहा है कि पुत्र का कर्तव्य है कि पिता का उद्धार करे। परंतु रोहसेन सुनता नहीं और पिता को इस नरक-यातना में निमग्न रहने देता है। निदान पिता की फटकार है—

मिथ्यैव नन्दसि परव्यसनेन नित्यम्।

नित्य 'परव्यसन' से मौज करना और स्वव्यसन पर ध्यान ही न देना, यह कहाँ का पुत्र का काम है ? अरे सच्चा आनंद तो इसमें है न कि भाँति-भाँति का अभिनय छोड़कर सचमुच स्वधर्म का पालन करे ? फिर तुम आज मेरी विपत्ति को क्यो नहीं देखते ? कुछ करो न। देखा आपने ? शूद्रक ने एक साथ ही कितने भावो को देख लिया है ? भूलिये नही, इसी के पहले उसने यह भी कहा था—

भो अधिकृताः

दुष्टात्मा परगुणमत्सरी मनुष्यो
रागान्धः परमिह हन्तुकामबुद्धिः।
किं यो यद्वदति मृषैव जातिदोषात्-
तद्ग्राह्यं भवति न तद्विचारणीयम् ॥२७॥६॥

बात यह है कि 'अधिकरणिक' ने चारुदत्त से कहा नहीं कि—

आर्य चारुदत्त सत्यमभिधीयताम्।

कि उसका माथा गरम हो गया और जब शकार के आग्रह से उसे 'आसन' से उतार दिया गया तब तो वह बावला सा हो उठा और बोला—

विचार्यताम्। भो अधिकृताः विचार्यताम्।

उसके कथनानुसार विचार होना तो दूर रहा उलटे नाचता हुआ शकार ही सहर्ष उस आसन पर जा बिराजा और चारुदत्त से बोला—

तद्गुण भण मया मारितेति ।

फिर क्या था । चारुदत्त का भी पारा गरम हो गया । पर विवशता में करता तो क्या करता । निदान आह भर कर आप ही कह लिया—

मैत्रेय भोः

आदि । फिर सचेत हो सोचा—

प्रेषितश्च मया तद्वार्तान्वेषणाय मैत्रेयो वसन्तसेनासकाशं शकटिकानिमित्तं च तस्य प्रदत्तान्यलंकरणानि प्रत्यर्पयितुम् । तत्कथं चिरयते ।

भाव यह कि 'भावशबलता' का यह एक अच्छा उदाहरण है । इससे चारुदत्त के चित्त की विक्षिप्त दशा का बोध होता है ।

वात्सल्य—रोहसेन की अवस्था चाहे कितनी भी छोटी क्यों न हो, पर चारुदत्त की आशा तो उससे बहुत बड़ी है न ? सुनिये न, वह 'चांडाल' से वध्यवेष में प्रार्थना करता है—

तत्परलोकार्थं पुत्रमुखं द्रष्टुमभ्यर्थये ।

और उसकी यह भावना यहाँ तक दृढ़ रहती है कि पुत्र तथा मित्र को देखकर भी यही कहता है—

भोः कष्टम् ।
चिरं खलु भविष्यामि परलोके पिपासितः ।
अत्यल्पमिदमस्माकं निवापोदकभोजनम् ॥१७॥१०॥

किन्तु 'परलोक' की भावना कभी इह लोक को भुला सकती है ? बालक पास आ गया तो उसे कुछ देना चाहिये न ? फलतः भाव उठा—

किं पुत्राय प्रयच्छामि ?

प्रश्न विकट था, महा विकट । अभाव में आँखों में आँसू आ सकते थे । किन्तु नहीं, समझ की सूझ ठहरी । झट यज्ञोपवीत पर दृष्टि गयी और वह दाय रूप में पुत्र को प्राप्त हो गया । एक बार फिर पिता का वात्सल्य ललक उठा । किस तोष के साथ चारुदत्त ने कहा—

आं इदं तावदस्ति मम च ।

'मम च' में कितना बल है ? यहाँ तक कि—

अमौक्तिकमसौवर्णं ब्राह्मणानां विभूषणम् ।
देवतानां पितृणां च भागो येन प्रदीयते ॥१८॥१०॥

फिर भला इस सम्पत्ति के रहते ब्राह्मण दीन कहाँ ? देखिये न बालक भी बोल उठा—

अरे रे चाण्डालौ कुत्र मम पितरं नयथः ?

पिता ने उत्तर दिया—

वत्स !
अंसेन बिभ्रत्करवीरमालां स्कन्धेन शूलं हृदयेन शोकम् ।
आघातमद्याहमनुप्रयामि शामित्रमालब्धुमिवाध्वरेऽजः ॥२१॥१०॥

वध की बात बच्चे से किस ढंग से कही गयी । बच्चा भी बाप का बेटा निकला । भेद पाकर बोला—

व्यापादयतम् माम् । मुञ्चतं पितरम् ।

चाण्डाल ने शुभ कामना की—

दीर्घायुः एवं भणंश्चिरं मे जीव ।

'चिरं मे जीव' में 'मे' के मर्म को तो समझिये । बालक अपनी बोली से किसे नहीं मोह लेता ? तभी तो पहले भी 'चाण्डाल' की व्याख्या में 'चाण्डाल' को ही कहना पड़ा था—

न खलु वयं चाण्डालाश्चाण्डालकुले जातपूर्वा अपि ।
येऽभिभवन्ति साधुं ते पापास्ते च चाण्डालाः ॥२२॥१०॥

निश्चय ही बालक की वाणी ने चाण्डाल के हृदय को भेद दिया और उसने भी कर्म के चाण्डाल को चाण्डाल कह कर अपने हृदय की पवित्रता का परिचय दिया । कुछ भी हो, पुत्र की महिमा को सदा के लिये टाँक लें । चारुदत्त ने इस अवसर पर एक ही कही है और कही है सब के लिए समभाव से—

इदं तत्स्नेहसर्वस्वं सममाढ्यदरिद्रयोः ।
अचन्दनमनौशीरं हृदयस्यानुलेपनम् ॥२३॥१०॥

'हृदय' का यह 'अनुलेपन' मानव-जीवन को सुदृढ़ और शीतल बनाने में कितना समर्थ है । इसी की प्रेरणा से तो वसन्तसेना की माता अंत में हार कर अधिकरणिक से कहती है—

तद्यदि व्यापादिता मम दारिका व्यापादिता । जीवतु मे दीर्घायुः । अन्यच्च । अर्थिप्रत्यर्थिनोर्व्यवहारः । अहमर्थिनी । तन्मुञ्चतैतम्

और स्वयं वसन्तसेना भी रोहसेन से कहती है—

जात ! मुग्धेन मुखेनातिकरुणं मन्त्रयसि ।

कहती ही नहीं अपि तु 'मुग्ध मुख' की पुकार पर इतना और भी कर जाती है—

एषेदानीं ते जननी संवृत्ता । तद्गृहाणैतमलंकारम् । सौवर्णशकटिकां कारय ।

भला 'मुग्धमुख' को क्या पता था कि उसका 'सौवर्णशकटिकां देहि' ही प्रकारान्तर से उसके पिता की शूली का कारण बनेगा और उसकी यह 'जननी' ही उसके विनाश का मूल बनेगी ? होता, हृदय सदा प्रभावित होता है 'मुग्धमुख' से । परन्तु नहीं, वहीं एक ऐसी भी विभूति है, वहीं एक ऐसा भी प्राणी है जिसके मुँह से सहसा निकलता है—

सपुत्रमेवैतं मारयतम् ।

कारण ? वह पापजीवन जो है ? तभी तो फिर साग्रह कहता है—

अरे ननु भणामि । सपुत्रकं चारुदत्तं व्यापादयतमिति ।

और विधाता की वामता तो देखिये कि स्वयं माता धूता को भी कलप कर कहना पड़ता है—

जात ! मुञ्च माम् । मा विघ्नं कुरुष्व ।

जात और विघ्न !

करुणा——है न विधि की पक्की विडम्बना ? जो हो, इतना तो निर्विवाद और सर्वग्राह्य है कि रोहसेन के 'मुग्धमुख' से जो करुण वाणी फूटी वह प्रकरण में बहुत दूर तक फैल गयी। उसकी अब और अधिक चिन्ता क्या ? हाँ, स्वयं वसन्तसेना के मृत शरीर को देखकर 'विट' की जो दशा हुई थी उसका भी वर्णन अधिक क्यों ? शूद्रक के काव्य कौशल के लिये यहाँ तो इतना ही पर्याप्त है——

विटः——(समाश्वस्य सकरुणम्) हा वसन्तसेने !
दाक्षिण्योदकवाहिनी विगलिता याता स्वदेशं रति-
र्हा हालंकृतभूषणे सुवदने क्रीडारसोद्भासिनि ।
हा सौजन्यनदि प्रहासपुलिने हा माहशामाश्रये
हा हा नश्यति मन्मथस्य विपणिः सौभाग्यपण्याकरः ॥३८॥८॥
(सास्रम्) कष्टं भोः कष्टम् ।

सच तो यह है कि यह घटना ही कुछ ऐसी घटी थी कि अधिक 'हा' करने का अवसर भी यहाँ न था। यहाँ कुछ और ठहरना फाँसी को मोल लेना था। निदान विट के 'शोक' को 'भय' ने दबा दिया और वह झट वहाँ से चलता बना। चलते-चलते उसने शकार से कहा——

अपतितमपि तावत्सेवमानं भवन्तं
पतितमिव जनोऽयं मन्यते मामनार्यम् ।
कथमहमनुयायां त्वां हतस्त्रीकमेनं
पुनरपि नगरस्त्रीशंकितार्धाक्षिदृष्टम् ॥४२॥८॥

किन्तु विधि की विडम्बना तो देखिये कि उसकी माता को उसके शोक में इतना भी कहने का अवसर नही मिला। अधिकरण में उस 'वृद्धा' के हृदय की स्थिति यह हुई——

हताश यस्तदानीं न्यासीकृतं सुवर्णभाण्डं रात्रौ चौरैरपहृतमिति तस्य कारणाच्चतुःसमुद्रसारभूतां रत्नावलीं ददाति स इदानीमर्थकल्यवर्तस्य कारणादिदमकार्यं करोति ! हा जाते । एहि मे पुत्रि ।

ध्यान देने की बात है कि पहले वृद्धा का ध्यान चारुदत्त के शील पर गया

और तब फिर वसन्तसेना के निधन पर। फिर भी उसे रोने का अवसर तो मिल गया? किंतु आर्य चारुदत्त को भाग्य के फेर से रोना भी न मिला। अन्त में 'व्यवहार' से ऊबकर उसने सोचा—

न च मे वसन्तसेनाविरहितस्य जीवितेन कृत्यम्।

और इसी से उसके गहरे शोक की अभिव्यक्ति भी हो गयी। किंतु उसके निधन की आशंका से जो शोक सारी उज्जयिनी में छा गया उसका चित्रण शूद्रक ने खूब किया है। चारुदत्त स्वयं कहता है—

अमी हि दृष्ट्वा मदुपेतमेतन्मर्त्यं धिगस्त्वित्युपजातबाष्पाः।
अशक्नुवन्तः परिरक्षितुं मां स्वर्गं लभस्वेति वदन्ति पौराः ॥६॥१०॥

करुण रस के परिपाक में फिर भी यदि कुछ कमी हो तो यहीं इतना और भी जान लीजिए—

न च रोदित्यन्तरिक्षं नैवानभ्रे पतति वज्रम्।
महिलासमूहमेघान्निपतति नयनाम्बु धाराभिः ॥६॥१०॥

और स्वयं चारुदत्त की वाणी में—

एताः पुनर्हर्म्यगताः स्त्रियो मां वातायनार्धेन विनिःसृतास्याः।
हा चारुदत्तेत्यभिभाषमाणा बाष्पं प्रणालीभिरिवोत्सृजन्ति ॥११॥१०॥

जीवित प्राणी के प्रति इतने विशाल नीरव शोक की व्यंजना यदि किसी दूसरे कवि ने कहीं की है तो इस जन को पता नहीं। अन्यथा यह शूद्रक के संविधान की ही देन है। चारुदत्त की व्यथा ठहरी। अतः प्रिया वसन्तसेना से उसे यही कहना है—

हा! प्रिये वसन्तसेने!

शशिविमलमयूखशुभ्रदन्ति सुरुचिरविद्रुमसंनिभाधरौष्ठि।
तव वदनभवामृतं निपीय कथमवशो ह्ययशोविषं पिबामि ॥१३॥१०॥

और आर्या धूता से यह—

हा प्रिये! जीवत्यपि मयि किमेतद्व्यवसितम्?

किन्तु यहाँ तो सब जीवित ही के लिए हो रहा है न? जो हो, चारुदत्त का विलाप है—

न महीतलस्थितिसहानि भवच्चरितानि चारुचरिते यदपि।
उचित तथापि परलोकसुखं न पतिव्रते तव विहाय पतिम् ॥५६॥१०॥

और है विदूषक मैत्रेय का यह विषाद—

हा प्रियवयस्य! कुत्र मया त्वं द्रष्टव्यः?

तो भी है। शूद्रक की सृष्टि मे एक ऐसा भी प्राणी है जिसमें करुणा का नाम नहीं। वह इतना कठोर है कि वसन्तसेना की हत्या कर भी सरलता से विट से कह सकता है—

भाव प्रसीद प्रसीद। एहि। नलिन्यां प्रविश्य क्रीडावः।

हास्य—किन्तु इस अकरुण क्रीडा में किसी का योग मिल सकता है? न मिले। शूद्रक ने तो इसी को हास्य का पुतला बना दिया है। इसकी विपरीतता सभी को तो हँसाती रहती है। यहाँ तक कि हास का परम्परागत प्राणी विदूषक भी इसके सामने मंद पड जाता है। 'परिहास' में शूद्रक को कोई पा नही सकता। उसका भाण तो इसका पुष्ट प्रमाण ही है। परन्तु मृच्छकटिक जैसा शुद्ध हास भी संस्कृत वाङ्मय मे अन्यत्र कहीं भी नहीं पाया जाता। यहाँ हँसना और हँसाना जीव का अंग है कुछ विदूषक का कर्म नहीं। इसी से हम प्रकरण के प्रारंभ में ही पाते हैं—

सूत्रधारः—किमस्माकं गेहे सर्वमस्ति। अथवा परिहससि।

नटी—(स्वगतम्) परिहसिष्यामि तावत्। (प्रकाशम्) आर्य अस्त्यापणे।

सूत्रधारः—(सक्रोधम्) आः अनार्ये एवं तवाशा छेत्स्यति। अभावं च गमिष्यसि। यदिदानीमहं वरण्डलम्बुक इव दूरमुत्क्षिप्य पातितः।

नटी—मर्षतु मर्षत्वार्यः। परिहासः खल्वेषः।

किसी अन्य कवि के लिए इतना परिहास पर्याप्त था; पर शूद्रक को इतने से सन्तोष कहाँ? मूल बात तो अभी आगे आती है जब सूत्रधार परिहास को सत्य समझ बिगड उठता है और आपे से बाहर हो वहीं बरस पड़ता है—

प्रेक्षन्तां प्रेक्षन्तामार्यमिश्राः। मदीयेन भक्तपरिव्ययेन पारलौकिको भर्तान्विष्यते।

अथवा—

आः दास्याः पुत्र जूर्णवृद्ध! कदा न खलु त्वां कुपितेन राज्ञा पालकेन नववधूकेशहस्तमिव सुगन्धं छेद्यमानं प्रेक्षिष्ये।

इधर सूत्रधार का पारा इतना गरम है तो उधर नटी की चेष्टा इतनी नरम—

आर्य! प्रसीद प्रसीद। त्वमेव जन्मान्तरे भविष्यसीति।

अथवा—

प्रसीदत्वार्यः। आर्यस्यैव पारलौकिकोऽयमुपवासः।

विदूषक से तो नहीं, पर 'भोजन' को लेकर ही स्वयं सूत्रधार और नटी में इतना बड़ा विभेद हो गया कि इतना कुछ आपको हँसना पड़ा। परन्तु परिस्थिति का प्रताप तो देखिये कि यह भूखा सूत्रधार विदूषक से अनुनय कर कहता है—

आर्य! संपन्नं भोजनं निःसपत्नं च। अपि च दक्षिणापि ते भविष्यति।

किन्तु फिर भी उसे भूखे ब्राह्मण से झिड़क मिलती है—

भोः इदानीं प्रथममेव प्रत्यादिष्टोऽसि तत्क इदानीं ते निर्बन्धः पदे पदे मामनुरोद्धुम्।

विदूषक आरंभ में निमंत्रण की अवज्ञा कर देता है तो इसका यह अर्थ नहीं कि उसे अन्य विदूषकों की भाँति भोजन की चिन्ता नहीं। नही, वह भी भोजनभट्टता मे किसी से पीछे नहीं। देखिये न उसका परिताप है—

एतावत्या ऋद्ध्या न तयाहं भणितः—आर्यमैत्रेय विश्रम्यताम्। मल्लकेन पानीयमपि पीत्वा गम्यताम् इति। तन्मा तावद्दास्याः पुत्र्या गणिकाया मुखमपि द्रक्ष्यामि।

[अंक ५, ६ प०]

फलतः जब वसन्तसेना चारुदत्त की सेवा में पहुँची और पूछा—

आर्य मैत्रेय! कुत्र युष्माकं द्यूतकरः?

तब उसने भी कुछ सोचकर ही उत्तर दिया—

भवति एष खलु शुष्कवृक्षवाटिकायाम् ।

वसन्तसेना को 'शुष्कवृक्षवाटिका' के संकेत की जिज्ञासा हुई तो विदूषक ने कहा—

भवति यत्र न खाद्यते न पीयते ।

भोजनप्रियता की उसमें भी कमी नहीं, परंतु करे क्या ? परिस्थिति की प्रतिकूलता उसको कुछ और ही चिन्ता में लगा देती है । हाँ, इस क्षेत्र में उसके इस अभाव की पूर्ति होती है 'शकार' से । प्रकरण में उसे भोजन से जितना स्नेह है उतना किसी भी दूसरे को नहीं । शिश्नोदरपरता का वही प्रतीक है । इसी से उसके चेट का कहना भी है—

रमय च राजवल्लभं ततः खादिष्यसि मत्स्यमांसकम् ।
एताभ्यां मत्स्यमांसाभ्यां श्वानो मृतकं न सेवन्ते ॥२८॥१॥

पंडितंमानी—फिर भी शूद्रक की विशेषता इसमें है कि उस चारित्रकवि ने इस पंडितंमानी वज्रमूढ़ को भी हास का आलम्बन बना दिया है । देखिये न उसका प्रस्ताव होता है—

अहं वरपुरुषमनुष्यो वासुदेवः कामयितव्यः ।

उधर से झिड़की मिलती है—

शन्तं शन्तम् । अवेहि । अणज्जं मन्तेसि । (शान्तं शान्तम् । अपेहि । अनार्यं मंत्रयसि) ।

कामुक इसी को प्रसाद समझ सोल्लास निवेदन करता है—

भाव भाव ! प्रेक्षस्व तावत् । मामन्तरेण सुस्निग्धैषा गणिकादारिका ननु । येन मां भणति–एहि । श्रान्तोऽसि । क्लान्तोऽसि इति । अहं न ग्रामान्तरं नगरान्तरं वा गतः । भट्टालिके शपे भावस्य शीर्षमात्मीयाभ्यां पादाभ्याम् । तवैव पृष्ठानुपृष्ठिकयाहिण्डमानः श्रान्तः क्लान्तोऽस्मि संवृत्तः ।

[अंक १, २१ पू०]

इस मूढ को आनंद आता है सदा विपरीत कथन में। बात ही इसकी कुछ ऐसी उलटी होती है कि वह बरबस आपको अपने में रमा लेती है और उसकी मूर्खता के कारण हास की सामग्री या हँसी की चीज बन जाती है। देखिए न, किस भाव से वह विट से कहता है—

शृणोमि माल्यगन्धम्। अन्धकारपूरितया पुनर्नासिकया न सुव्यक्तं पश्यामि भूषणशब्दम्।

[अक १, ३५ पू०]

अंधकार से पूरित नाक से भूषणशब्द को देखना, पूरा नहीं अधूरा सही, इसी का तो काम है। बात ही नही, क्रिया से भी यह ऐसा ही विदग्ध है। चेट कहता है—

एष भट्टारकः। गृह्णात्वेनं भट्टारकोऽसिम्।

भट्टारक भी कितना वीर निकला कि तलवार को कन्धे पर उलटा रख कर दर्प से कह चला—

निर्वल्कलं मूलकपेशिवर्णं स्कन्धेन गृहीत्वा च कोशसुप्तम्।
कुक्कुरैः कुक्कुरीभिश्च बुक्क्यमानो यथा शृगालः शरणं प्रयामि ॥५२॥१॥

वार्तालाप मे इतना व्यस्त निकला कि चेट को भी हँसी रोकना कठिन हो गया। बातचीत पर ध्यान तो दीजिये। वह किस आश्चर्य से प्रश्न करता और घूम-फिर कर फिर वही आ जाता है—

शकारः—पुत्रक ! स्थावरक !! चेट !!! आगतोऽसि ?
चेटः—अथ किम्।
शकारः—प्रवहणमप्यागतम् ?
चेटः—अथ किम्।
शकारः—वृषभावप्यागतौ ?
चेटः—अथ किम्।
शकारः—त्वमप्यागतः ?

निश्चय ही इस अंतिम प्रश्न का उत्तर 'अथ किम्' नहीं हो सकता था। कारण पुत्रक चेट भी मनुष्य ठहरा न ? निदान सहास निवेदन किया—

भट्टारकः अहमप्यागतः ।

चेट का पिंड छूटा तो विट पर कृपा हुई और उससे कहा गया—

भाव आगच्छ । प्रवहणं पश्यावः । भाव त्वमपि मम गुरुः । परम-गुरुः । प्रेक्ष्यसे सादरकोऽभ्यन्तरक इति पुरस्करणीय इति । त्वं तावत्प्रवहणमग्रतोऽधिरोह ।

आज्ञापालन का अपराध हुआ नहीं कि सारा आदर दूर हुआ और ऊपर से फटकार मिली—

अथवा तिष्ठ त्वम् । तव पितृ-सम्बन्धि प्रवहणं येन त्वमग्रतोऽधि-रोहसि । अहं प्रवहणस्वामी । अग्रतः प्रवहणमधिरोहामि ।

[अंक ८, १४ प०]

शकार की अटपटी बातों से जी बहलता है । उसके साथ से भोजन भी भरपूर मिलता है; किन्तु मानव वस्तुतः कुछ और भी तो है ? और उसी कुछ और के कारण तो विट को कलप कर अंत में उससे कहना पड़ता है—

अप्रीतिर्भवतु विमुच्यतां हि हासो
धिक्प्रीति परिभवकारिकामनार्याम् ।
मा भूच्च त्वयि मम संगतं कदाचि-
दाच्छिन्नं धनुरिव निर्गुणं त्यजामि ॥४१॥८॥

किन्तु क्या शकार के वज्र हृदय पर इसका कुछ प्रभाव भी पड़ता है । उधर तो विट का शाप है और इधर उसका प्रस्ताव—

भाव ! प्रसीद प्रसीद । एहि । नलिन्यां प्रविश्य क्रीडावः ।

होते होते अंत में स्थिति यह हो जाती है कि वसन्तसेना वध्यमाला को चारुदत्त के कंठ से उतारकर शकार पर फेंक देती है और वह फिर अपनी बानी में बोल पड़ता है—

गर्भदासीपुत्रि ! प्रसीद प्रसीद । न पुनर्मारयिष्यामि । तत्परित्रायस्व ।

स्थिति सहसा बदल सकती है, पर स्वभाव तो प्राण के साथ जाता है न ?

है कही 'हास' का कहीं और भी ऐसा 'चित्र विचित्र' आलम्बन ? इसके सामने किसी 'विदूषक' की चर्चा ही क्या ? यह तो स्वयं 'विदूषण' है विदूषण। निष्ठुर हास होता भी तो निष्ठुर है न ?

विनोद्—हास के उस अंग को जिसे छेड़छाड़ या विनोद कहते हैं शूद्रक ने बहुत लिया है और उसे निभाया भी पूरा है। स्वयं शकार भी अधिकरण में पहुँचकर करता यही है। उदाहरण के लिये इतना पर्याप्त है—

शकारः—आं आत्मीयैषा भूमिः तद्यत्र मह्यं रोचते तत्रोपविशामि।

यहाँ तक तो कोई बात न थी, किन्तु इसके आगे ध्यान से देखिये—

श्रेष्ठिनं प्रति—

एष उपविशामि।

शोधनकं प्रति—

नन्वत्रोपविशामि।

तथा फिर—

इत्यधिकरणिकमस्तके हस्तं दत्त्वा—

एष उपविशामि।

सर पर सवार होना तो प्रसिद्ध है, पर किसी के मस्तक पर आसन जमाने की भावना किसी शकार में ही हो सकती है। होती भी क्यो नहीं ? वह राजश्याल जो ठहरा तो भी उसकी इस लीला को यहीं छोड़िये और लीजिये कुछ विदूषक के विनोद को। है मृच्छकटिक में एक ऐसा भी स्थान है जहाँ चारुदत्त भी कुछ हँसते दिखायी देते हैं। देखिये—

विदूषकः—अये क इदानीमेष प्राकारवेष्टितमिव कपित्थं मां लोष्टकैस्ताडयति।

चारुदत्तः—आरामप्रासादवेदिकायां क्रीडद्भिः पारावतैः पातितं भवेत्।

विदूषकः—दास्याः पुत्र दुष्टपारावत तिष्ठ तिष्ठ यावदेतेन दंडकाष्ठेन सुपक्वमिव चूतफलमस्मात्प्रासादाद्भूमौ पातयिष्यामि।

चारुदत्तः—(यज्ञोपवीतं आकृष्य) वयस्य ! उपविश। किमनेन ? तिष्ठतु दयितासहितस्तपस्वी पारावतः।

परन्तु यह तो भूमिका रही। पक्का दृश्य तो अब आया। लीजिये—

विदूषकः—(दिशोऽवलोक्य) कथं कुम्भीलकः। तद्यावदुपसर्पामि। (उपसृत्य द्वारमुद्घाट्य) अरे कुम्भीलक प्रविश। स्वागतं ते।

चेटः—(प्रविश्य) आर्य ! वन्दे।

विदूषक—अरे कुत्र त्वमीदृशे दुर्दिनेऽन्धकार आगतः ?

चेट—अरे एषा सा।

विदूषकः—कैषा का ?

फिर तो दोनों में 'एषा सा' और 'कैषा का' को लेकर द्वन्द्वयुद्ध ही छिड़ गया और इसका चरम उत्कर्ष हुआ तब जब चारुदत्त की सहायता से 'वसन्त' और 'सेना' का संकेत प्राप्त हो गया। देखिए कैसी विचित्र लीला है—

चेटः—अरे द्वे अप्येकस्मिन्कृत्वा शीघ्रं भण।

विदूषकः—सेनावसन्ते।

चेटः—ननु परिवर्त्य भण।

विदूषकः—(कायेन परिवृत्य) सेनावसन्ते।

चेटः—अरे मूर्ख बटुक पदे परिवर्तय।

विदूषकः—(पादौ परिवर्त्य) सेनावसन्ते।

चेटः—अरे मूर्ख ! अक्षरपदे परिवर्तय।

विदूषकः—वसन्तसेना।

[अंक ५, ११ प०]

कुम्भीलक भी एक ही चेट निकला। उसका अभिमान भी कैसा निराला है—

वंशं वादयामि सप्तछिद्रं सुशब्दं वीणां वादयामि सप्ततन्त्रीं नदन्तीम्।
गीतं गायामि गर्दभस्यानुरूपं को मे गाने तुम्बुरुर्नारदो वा ॥१९॥५॥

अस्तु, कहा जा सकता है कि कुम्भीलक का प्रवेश ही हास्य के रूप में हुआ है और होता भी क्यों नहीं ? प्रिया वसन्तसेना के आगमन की सूचना जो प्रिय चारुदत्त को देनी है। इसी से प्रिया भी पहुँच कर यही तो करती है—

(प्रविश्योपसृत्य च । पुष्पैस्ताडयन्ती) आयि द्यूतकर अपि सुखस्ते प्रदोषः ?

कहिये अंगी श्रृंगार का यह अंग हास्य धन्य है न जो इस प्रकार प्रणय को पुष्ट करता है।

छल हास्य—हँसी हँसी में काम निकालने की कला में शूद्रक इतने दक्ष हैं कि उनका दर्दुरक भी हँसते-हँसाते कुछ विशेष काम कर जाता है। कुम्भीलक की भाँति उसका दर्शन भी सकृत् ही होता है, पर होता है इतना बहुरूप कि सहसा भुलाया नही जा सकता। उसका प्रवेश ही कुछ इतना प्रभावक होता है कि मन उससे कुछ विशेष सुनने की आशा मे लग जाता है। दृष्टिपथ में आया नहीं कि आते ही घोषणा कर दी—

भोः द्यूतं हि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यम्।

बात तो राजा की कर गया, पर जब 'सभिक' का सामना हुआ तब अपने को छिपाने की आ पड़ी। देखा तो कोई साधन नही। विचार मे पड़ गया—

अयं पटः सूत्रदरिद्रतां गतो ह्ययं पटश्छिद्रशतैरलंकृतः।
अयं पटः प्रावरितुं न शक्यते ह्ययं पटः संवृत एव शोभते॥१०॥२॥

कहने से प्रतीत होता है कि आप के पास चार पट है, पर वास्तव में स्थिति यह है कि एक ही उत्तरीय के जीर्ण-शीर्ण इतने रूप हो गये हैं; निदान बल अर्जित कर बोल पड़ते हैं—

अथवा किमयं तपस्वी करिष्यति ?

उत्साह आ गया तो संवाहक की गोहार लगे और माथुर से दशसुवर्ण का ऋण सुनकर सरलता से कह उठे—

ननु कल्यवर्तमेतत्।

निश्चय ही दशसुवर्ण का कलेवा करने वाला प्राणी कोई धनाढ्य होगा न ? परंतु तपस्वी करे क्या ? माथुर परिचित प्राणी ठहरा। झट उसकी दृष्टि उसी वस्त्र पर पड़ी और काँख के नीचे से उसे खींच सबको दिखा दिया। दर्दुरक तो पहले भी अपने ढंग से उसका प्रदर्शन कर चुका था। अतएव झेंपता क्यों ? फलतः झपट कर कहा—

अरे मूर्ख ! नन्वहं दशसुवर्णान्कटकरणेन प्रयच्छामि । तत्किं यस्यास्ति धन स किं क्रोडे कृत्वा दर्शयति ?

इतना ही नही । इतना तो चुप करने का साधन भर था । इसके आगे कुछ और भी गहरा हाथ दिया—

अरे !

दुर्वर्णोऽसि विनष्टोऽसि दशस्वर्णस्य कारणात् ।
पञ्चेन्द्रियसमायुक्तो नरो व्यापाद्यते त्वया ॥२।१२॥

भला अब माथुर पच के सामने कहता क्या ? निदान धीमे से बोला—

भर्तः तव दशसुवर्णः कल्यवर्तः । ममैष विभवः ।

फलतः दर्दुरक ने भी पैतरा बदल दिया और बड़ी दृढता से कहा—

यद्येवम् श्रूयतां तर्हि । अन्यांस्तावद्दश सुवर्णानस्यैव प्रयच्छ । अयमपि द्यूतं शीलयतु ।

परिणाम की जिज्ञासा हुई तो समाधान मिला—

यदि जेष्यति तदा दास्यति । (अथ न जयति) तदा न दास्यति ।

माथुर भी ताव में आ गया और कहते कहते कह गया—

धूर्त खंडितवृत्तोऽसि त्वम् ।

दर्दुरक इसी को लेकर उससे उलझ गया और संवाहक को सटक जाने का निर्देश किया । किंतु उससे कुछ बन न पडा । माथुर ने पकड़ कर उसे खींचा तो दर्दुरक फिर उससे उलझ गया और दोनों में मारपीट हो गयी । दर्दुरक ने तरेर कर कहा—

अरे मूर्ख ! अहं त्वया मार्गगत एव ताडितः । श्वो यदि राजकुले ताडयिष्यसि तदा द्रक्ष्यसि ।

माथुर बात में आ गया और आँख फाड फाड़ कर कहने लगा—

एष प्रेक्षिष्ये । एवं प्रेक्षिष्ये ।

दर्दुरक को अवसर हाथ लगा तो सचमुच माथुर की आँख में उसने धूल

झोंक दी और संवाहक संकेत पा चम्पत बना। स्वयं दर्दुरक भी शर्विलक से जा मिला।

दर्दुरक के प्रसंग को ध्यान से पढ़े तो पता चले कि शूद्रक ने इससे कितना सूक्ष्म काम लिया है। सच तो यह है कि 'शकार', 'विदूषक', 'कुम्भीलक' तथा 'दर्दुरक' सभी अपने अपने ढंग से 'हास' का काम करते हैं और सब मिल कर मृच्छकटिक में हास्य को एक ऐसा रूप दे देते हैं जो अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता। इसमें विदूषक और कुम्भीलक का हास मृदु है तो शकार और दर्दुरक का कठोर। परंतु अपने अपने स्थान पर सभी का महत्त्व निराला है। भास का हास प्रसिद्ध है, पर शूद्रक का हास है निराला, अद्वितीय और अनुपम। कह लें, उसीका विकसित रूप।

परिहास—सच तो यह है कि शूद्रक ने हास को जितने रूपों में लिया है उनकी मीमांसा में एक पोथी ही बन सकती है। हास का ऐसा पारखी संस्कृत का कोई दूसरा कवि नहीं। 'पद्मप्राभृतकम्' में शश ने यों ही नहीं बार बार कहा है—

परिहासलवेनैनमवगाहिष्ये।

नहीं। उसने तो वहीं इसे सच कर दिखा भी दिया है। देखिये न—

ताम्बूलसेने! किमिदं दाक्षिण्यातिव्ययः क्रियते? कथं सुरतपरिश्रम-श्वासविच्छिन्नाक्षरं 'स्वागतं प्रियवयस्याय' इत्याह। अविरक्तिके! ताल-वृन्तन्तावदानय। कृतव्यायामा खलु ताम्बूलसेना। चोरि! अपि बलं वर्धते? किं ब्रवीषि—'न खल्ववगच्छामि' इति। एतत्प्रियजनपरिष्वंग-संक्रान्तमालेयकं स्तनतटद्वयम्। पृच्छामि तावत् असंतुष्टे! अनवरतनिशा-विहारस्यैरिमस्य दिवापि नाम त्वया न देयो विश्रामः? ननु सायंप्रात-र्होमो वर्तते? किं ब्रवीषि—'सदापि नाम परपक्षपरिहासप्रियो भावः। नैतदस्ति' इति। अयि दुर्विदग्धे! न त्वया श्रुतपूर्वं 'आकारसंवरणमप्या-कार एव' इति। किं ब्रवीषि—'कथं जानीषे' इति। चोरि! कथमिदं न ज्ञास्यामि? यथा—

विखंडितविशेषकं मुदितरोचनबिन्दुकं
कपोलतललग्नकेशमपविद्धकर्णोत्पलम्।
मुखं व्रणितपाटलोष्ठमलसायमानेक्षणं
प्रकाशयति ते दिवासुरतलोलुपं कामिनम् ॥२७॥

किं ब्रवीषि—'सद्यसुप्तोत्थिताहम्। किमप्याशंकसे ?' इति। भवतु। संज्ञप्ताः स्मः। न हि ते सूक्ष्ममपि किञ्चिदग्राह्यं पश्यामि। किन्तु—

स्वप्नान्ते नखदन्तविक्षतमिदं शंके शरीरं तव
प्रीयन्तां पितरः स्वधास्तु सुभगे वासोऽपसव्यं च ते।
किञ्चान्यत्त्वरया न लक्षितमिदं धिक्तस्य दुःशिल्पिनो
मोहाद्येन तवोभयोश्चरणयोः सव्ये कृते पादुके ॥२८॥

चोरि ! सहोढाभिगृहीता क्वेदानीं यास्यसि ? एषा हि प्रविश्यान्तर्गृहमुच्चैः प्रहसिता सह रमणेन। (कर्णं दावा) एष इरिमो व्याहरति—'ननु भोः धुर्ताचार्य ! प्रविश्यताम्' इति। सखे ! कः सुरतरथधूर्ययोर्योक्त्रच्छेदं करिष्यति ? एवमेवाविरतसुरतोत्सवोऽस्तु।

[पद्म० पृ० १७—१८]

अथवा—

भाव जरद्गव ! अपि सुभिक्षमनया जरसा ? किमाह भवान्—'एष भवतो निर्वेदात् जरद्भुजंग इव जरात्वचमुत्सृजामि' इति। प्राणैस्सहेति पश्यामः। पुनर्युवैव भावः। सिद्धं हि ते मायया यौवनकर्म। तव हि—

रागोत्पादितयौवनप्रतिनिधिच्छन्नव्यलीकं शिरः
सन्दंशापचितोत्तरोष्ठपलितं निर्मुण्डगण्डं मुखम्।
यत्नेनार्चिताभ्रूजागुणचलेनानेन चांगस्य ते
लेपेनेव पुराणजर्जरगृहस्यायोजितं यौवनम् ॥२९॥

कि ब्रवीषि—'मदनीयं खलु पुराणमधु' इति। मनोरथ एष भावस्य। सर्वथा त्रिफलगोक्षुरलोहचूर्णसमृद्धिरस्तु भवतः। साधयाम्यहम्।

[पद्म० पृ० १२-१३]

परिहास में समाज के कितने अंगों को सामने ला दिया है, इसे कौन नहीं देख सकता ? परन्तु सच तो कहें अभी कितने लोगो ने परितः देखा है शूद्रक

के इस कवि-कर्म को। 'पद्मप्राभृतकम्' के 'हाल' के विषय में अधिक न कह अति संक्षेप मे हमें कहना यह है कि वस्तुतः शूद्रक हास्य रस का राजा है। कारण, इसी वेशवास मे हमे यह भी देखने को मिल जाता है—

विदूषकः—अहो अस्याः कपर्दकडाकिन्या उदरविस्तारः। तत्किमेतां प्रवेश्य महादेवमिव द्वारशोभा इह गृहे निर्मिता ?

चेटी—हताश ! मैवमुपहसास्माकं मातरम्। एषा खलु चातुर्थिकेन पीड्यते।

विदूषकः—(सपरिहासम्) भगवंश्चातुर्थिक एतेनोपकारेण मामपि ब्राह्मणमवलोकय।

चेटी—हताश ! मरिष्यसि।

विदूषकः—(सपरिहासम्) दास्याः पुत्रि ! वरमीदृशः शूनपीनजठरो मृत एव।

सीधुसुरासवमत्ता एतावदवस्थां गता हि माता।
यदि म्रियतेऽत्र माता भवति शृगालसहस्रपर्याप्ता ॥३०॥४॥

स्फुट—माता के मरण से सहस्र शृगाल को भोजन मिल गया तो अप्रिय क्या हो गया कि 'हास' का सत्कार न हो ? देखिये न शूद्रक की सूझ है। श्मशान का दृश्य है—

अरे ! एतद् दृश्यते दक्षिणश्मशानं यत्प्रेक्ष्य वध्या झटिति प्राणान्मुञ्चन्ति। पश्य। पश्य—

अर्धं कलेवरं प्रतिवृत्तं कर्षन्ति दीर्घगोमायवः।
अर्धमपि शूललग्नं वेश इवाट्टहासस्य ॥३५॥१०॥

'अट्टहास' का यह रूप किसी प्राणी के लिये कितना भयंकर है कह नहीं सकता। परन्तु वहीं शृगाल का जो उछाह है उसकी उपेक्षा कैसे हो सकती है ? कैसा बीभत्स दृश्य है। कहाँ क्या और कहाँ क्या हो रहा है। भूलिये नहीं आर्य चारुदत्त ने पहले भी कहा था—

नयनसलिलसिक्तं पांशुरूक्षीकृतांगं
पितृवनसुमनोभिर्वेष्टितं मे शरीरम्।

विरसमिह रटन्तो रक्तगन्धानुलिप्तं
बलिमिव परिभोक्तुं वायसास्तर्कयन्ति ॥२।१०॥

'वायस' के इस मगल में चारुदत्त का विनाश ही तो है, पर है साथ ही बीभत्स का वास भी। शकार के मन में भी कभी जुगुप्सा का भाव उठता है। भिक्षु चीवर धोना चाहता है कि इसी में शकार भी वहा पहुँच जाता है और बड़े दर्प से फटकारता है—

अरे दुष्टश्रमणक! एतन्मम भगिनीपतिना सर्वोद्यानानां प्रवरं पुष्पकरण्डोद्यानं दत्तं यत्र तावच्छुनकाः शृगालाः पानीयं पिबन्ति। अहमपि प्रवरपुरुषो मनुष्यको न स्नामि।

यहाँ तक तो 'पुष्करिणी' की प्रशंसा रही। अब इसके आगे का भाव है—

तत्र त्वं पुष्करिण्यां पुराणकुलित्थयूषसवर्णान्युग्रगन्धीनि चीवराणि प्रक्षालयसि। तत्त्वामेकप्रहारिकं करोमि।

[अक ८, ४ प०]

कहने का तात्पर्य यह कि शूद्रक का ध्यान इस प्रकरण मे सभी रसो पर रहा है और कही न कही सबके लिए कुछ न कुछ स्थान निकाल लिया है। 'शान्त' का कहना ही क्या ? आर्य चारुदत्त मे कितना निर्वेद भरा है—

यासां बलिः सपदि मद्गृहदेहलीनां
हंसैश्च सारसगणैश्च विलुप्तपूर्वः।
तास्वेव संप्रति विरूढतृणांकुरासु
बीजाञ्जलिः पतति कीटमुखावलीढः ॥१॥९॥

किन्तु प्रकरण मे जो भूलने की बात नही वह है वीरक और चन्दनक का कर्णाटकलह। उसका आरभ ही कुछ ऐसा होता है जो कभी भूलकर भी भूला नही जा सकता। देखिये—

चन्दनकः—अरे वीरक! मया चन्दनकेन प्रलोकितं पुनरपि त्वं प्रलोकयसि। कस्त्वम् ?

वीरकः—अरे, त्वमपि कः ?

चन्दनकः—पूज्यमानो मान्यमानस्त्वमात्मनो जातिं न स्मरसि।

वीरकः—(सक्रोधम्) अरे का मम जातिः ?

चन्दनकः—को भणतु ?

वीरकः—भणतु ।

चन्दनकः—अथवा न भणामि ।

जानन्नपि खलु जातिं तव च न भणामि शीलविभवेन ।
तिष्ठतु ममैव मनसि किंच कपित्थेन भग्नेन ॥२१॥६॥

फिर तो धीरे धीरे पूरा रौद्र ही प्रकट हो गया और फलतः प्राप्त हुआ वीरक को 'पादप्रहार'। सब कुछ तो हुआ पर अभी परम साहसी शर्विलक का उत्साह कहाँ प्रकटा ? सो लीजिये। वह भी यही है। उसका दृढ़ संकल्प है—

ज्ञातीन्विटान्स्वभुजविक्रमलब्धवर्णा-
न्राजापमानकुपितांश्च नरेन्द्रभृत्यान् ।
उत्तेजयामि सुहृदः परिमोक्षणाय
यौगन्धरायण इवोदयनस्य राज्ञः ॥२६॥४॥

किन्तु इस संकल्प की प्राप्ति मे उसे कितना उद्योग करना पडा ? क्या इसका लेखा लिया जा सकता है ? हाँ, उसका मित्र आर्यक भी किस जीवट का प्राणी है। संकट के समय वह स्वयं सोचता है—

अपि रक्षिणो मामवलोकयन्ति। अशस्त्रश्चास्मि मन्दभाग्यः ।

अथवा—

भीमस्यानुकरिष्यामि बाहुः शस्त्रं भविष्यति ।
वरं व्यायच्छतो मृत्युर्न गृहीतस्य बन्धने ॥१७॥६॥

और 'निगडबद्ध' स्थावरक का तो कहना ही क्या ? उसका ध्रुव निश्चय है—

कथम्। विदूरतया न कोऽपि शृणोति। तत्किं करोमि ? आत्मानं पातयामि। (विचिन्त्य) यद्येवं करोमि तदार्यचारुदत्तो न व्यापाद्यते। भवतु। अस्याः प्रासादबालाग्रप्रतोलिकात एतेन जीर्णगवाक्षेणात्मानं निक्षिपामि। वरमहमुपरतः न पुनरेष कुलपुत्रविहगानां वासपादप आर्यचारुदत्तः। एवं यदि विपद्ये लब्धो मया परलोकः ।

[अंक १०, २५ पृ०]

जी हाँ। शकार को भी अपनी शूरता का अभिमान है। उसकी दृष्टि में—

सेवावञ्चितो भ्राता मम पिता मातेव सा द्रौपदी।
योऽसौ पश्यति नेदृशं व्यवसितं पुत्रस्य शूरत्वम् ॥३७॥८॥

और उमंग इतनी कि—

भवतु। एतमर्धपतितं प्राकारखंडमुल्लंघ्य गच्छामि।

एषोऽस्मि त्वरितत्वरितो लंकानगर्यां गगने गच्छन्।
भूम्यां पाताले हनूमच्छिखर इव महेन्द्रः ॥४५॥८॥

किन्तु इसके उत्साह में समाज का योग नहीं। सामाजिक की दृष्टि में वह हँसी का पात्र है। कातर इतना कि प्रवहण में वसन्तसेना को देखा नहीं कि इतना डरा कि विट के गले जा लगा और बोला—

भाव भाव मृतोऽसि। प्रवहणाधिरूढा राक्षसी चौरो वा प्रतिवसति। तद्यदि राक्षसी तदोभावपि मुषितौ। अथ चौरः तदोभावपि खादितौ।

[अंक ८, १४ पृ०]

उधर चारुदत्त को कुछ और ही डर लगा है—

कृत्वैवं मनुजपतेर्महद्व्यलीकं स्थातुं हि क्षणमपि न प्रशस्तमस्मिन्।
मैत्रेय क्षिप निगडं पुराणकूपे पश्येयुः क्षितिपतयो हि चारदृष्ट्या ॥८॥७॥

तो भी भयानक रस का आनन्द लेना है तो कृपया कर्णपूरक के इस कथन पर कान दें—

शृणोत्वार्या। यः स आर्यायाः खुण्टमोडको नाम दुष्टहस्ती स आलानस्तम्भं भंक्त्वा महामात्रं व्यापाद्य महान्तं संक्षोभं कुर्वन्राजमार्गमवतीर्णः। ततोऽत्रान्तरे उद्घुष्टं जनेन—

अपनयत बालकजनं त्वरितमारोहत वृक्षप्रासादम्।
किं न खलु प्रेक्षध्वं पुरतो दुष्टो हस्ती इत एति ॥१८॥

अपि च—

विचलति नूपुरयुगलं छिद्यन्ते च मेखला मणिखचिताः।
वलयाश्च सुन्दरतरा रत्नांकुरजालप्रतिबद्धाः ॥१९॥२॥

ततस्तेन दुष्टहस्तिना करचरणरदनैः फुल्लनलिनीमिव नगरीमुज्जयिनी-मवगाहमानेन समासादितः परिव्राजक.। तं च परिभ्रष्टदण्डकुण्डिकाभाजनं शीकरैः सिक्त्वा दन्तान्तरे क्षिप्तं प्रेक्ष्य पुनरप्युद्घुष्टं जनेन–हा परिव्राजको व्यापाद्यते इति।

जी चाहता है कि यही इस प्रसंग को समाप्त कर दें और पाठक को भरपूर इसका आस्वादन करने दें, किन्तु करें क्या? कर्तव्य साथ नहीं देता और कहता है कि 'भयानक' के साथ कुछ 'अद्भुत' भी। 'वीर' तो अपने चरमरूप में इसी के आगे है। अतः उसकी चिन्ता क्या? यदि सचमुच शूद्रक के काव्यकौशल को देखना है तो 'कर्णपूरक' का अध्ययन करें। वह सभी प्रकार से प्रकरण में 'पूरक' सिद्ध होगा।

जी 'अद्भुत' का भी मृच्छकटिक में अभाव नहीं। शर्विलक आर्यचारुदत्त के भवन में सेंध देकर पहुँचता है तो वहाँ कुछ और ही दृश्य दिखायी दे जाता है। फलत. विस्मय में पड़कर कहता है—

अये! कथं मृदंगः। अयं दर्दुरः। अयं पणवः। इयमपि वीणा। एते वंशाः। अमी पुस्तकाः। कथं नाट्याचार्यस्य गृहमिदम्। अथवा भवनप्रत्ययात्प्रविष्टोऽस्मि। तत् किं परमार्थदरिद्रोऽयम् उत राजभयाच्चौर-भयाद्वा भूमिष्ठं द्रव्यं धारयति। तन्ममापि नाम शर्विलकस्य भूमिष्ठं द्रव्यम्। भवतु। बीजं प्रक्षिपामि। (तथाकृत्वा) निक्षिप्तं बीजं न क्वचित्स्फारीभवति। अये! परमार्थदरिद्रोऽयम्। भवतु। गच्छामि।

[अंक ३, १८ प०]

और आर्यचारुदत्त भी श्मशानभूमि में उत्तान पड़े, अपनी प्रिया वसन्तसेना को अपनी छाती पर पड़ी पा कर सहसा बोल पड़ते हैं—

केयमभ्युद्यते शस्त्रे मृत्युवक्त्रगते मयि।
अनावृष्टिहते सस्ये द्रोणवृष्टिरिवागता॥३६।१०॥

समाधान की चिन्ता क्या? देखा तो वसन्तसेना। पर विश्वास हो तो कैसे हो? वह तो मारी जा चुकी थी न? निदान और भी विस्मय में पड़ गये—

वसन्तसेना किमियं द्वितीया समागता सैव दिवः किमित्थम् ।
भ्रान्तं मनः पश्यति वा ममैनां वसन्तसेना न मृताथ सैव ॥४०॥१०॥
अथवा—

कि नु स्वर्गात्पुनः प्राप्ता मम जीवातुकाम्यया ।
तस्या रूपानुरूपेण किमुतान्ये समागता ॥४१॥१०॥

अच्छा होगा, यहीं एक अद्भुत बानी का नमूना भी देख लें। भिक्षु की चेतावनी है—

पञ्चजना येन मारिता स्त्रियं मारयित्वा ग्रामो रक्षितः ।
अबलः कः चण्डालो मारितोऽवश्यमपि स नरः स्वर्गं गाहते । २॥८॥

देखा आपने ? कबीर की अटपटी बानी की परम्परा कितनी पुरानी है ।

भाषा—शूद्रक के कविकर्म का जो थोड़ा सा परिचय यहाँ दिया गया है वह तब तक स्यात् अधूरा ही समझा जायगा जब तक उसमें कुछ भाषा का विचार भी न आ ले । सो लीजिये उसकी भी थोड़ी सी चर्चा यहाँ हो ले । कहते हैं कि शूद्रक सा प्राकृत का प्रयोक्ता संस्कृत का दूसरा कवि नहीं । स्मरण रहे, मृच्छकटिक की भाषा पर विचार कर उसके प्रसिद्ध टीकाकार श्री पृथ्वीधर लिखते हैं—

तत्रास्मिन्प्रकरणे प्राकृतपाठकेषु सूत्रधारो, नटी, रदनिका, मदनिका, वसन्तसेना, तन्माता, चेटी, कर्णपूरकश्च रुदत्तस्य हारी, शोधनकः, श्रेष्ठी—एते एकादश शौरसेनीभाषापाठकाः । सूत्रधारोऽप्यत्र प्रकृतौ कार्यवशात्' इति वक्ष्यते । अवन्तिभाषापाठकौ वीरकचन्दनकौ । प्राच्यभाषापाठको विदूषकः । संवाहकः शकारवसन्तसेनाचारुदत्तानां चेटकत्रितयं, भिक्षुश्चारुदत्तदारकः—एते षण्मागधीपाठकाः । अपभ्रंशपाठकेषु शकारोभाषापाठको राष्ट्रियः । चाण्डालीभाषापाठकौ चाण्डालौ । ढक्कभाषापाठकौ माथुरद्यूतकरौ । तथा शौरसेन्यवन्तिजाप्राच्या-एतासु दन्त्यसकारता । तत्रावन्तिजा रेफवती लोकोक्तिबहुला, प्राच्या स्वार्थिककारप्राया । मागधी तालव्यशकारवती । शकारीचाण्डाल्योस्तालव्यशकारता । रेफस्य च लकारता । वकारप्राया ढक्कविभाषा । संस्कृतप्रायत्वे दन्त्यतालव्यसशकारद्वययुक्ता च ।

भाषा के सामान्य परिचय के पश्चात् कुछ प्राकृतमात्र की विशेषता भी बताते हैं—

स्वार्थिकः ककारः सर्वत्र। द्विवचनं चतुर्थीविभक्तिश्च नास्त्येव। द्वित्वे तु बहुवचनं। चतुर्थ्यर्थे षष्ठी। परस्मैपदात्मनेपदविपर्ययः। पूर्वनिपातानियमश्च।

देश भाषाओं के विकास मे इन प्राकृतों का क्या महत्त्व है, इसका लेखा अभी तक अच्छी तरह नही लिया गया। विदूषक की 'प्राच्यभाषा' को तो लोग सर्वथा भूल ही गये। यद्यपि 'प्राच्या स्वार्थिकककारप्राया' का ही प्रसाद है कि हमारी राष्ट्र-भाषा नागरी मे 'आ' का योग हो गया है। उसे बड़ी सरलता से आज आकारबहुलाभाषा कहा जा सकता है। 'वकारप्राया ढक्कविभाषा' की 'वकार'प्रवृत्ति भी उसमें है ही। फिर उसके विकास में इनकी अवहेलना कब तक होती रहेगी?

भाषाशास्त्र की दृष्टि से शूद्रक की भाषा पर विचार करना भाषाशास्त्री का काम है। प्रसंगवश यहाँ इतना सकेत कर साररूप में यहाँ कहा यह जाता है कि शूद्रक की भाषा सरल, सुबोध, सूक्ष्म और समर्थ है। वह पोथी की ही नहीं घर और जनसमाज की भी भाषा है। कितने है उसमे ठेठ या देशी शब्द। परन्तु तो भी भूल होगी यदि न कहा जाय लक्षणा के इस युग में उनकी इस कला के बारे में भी कुछ। लीजिये शश महाराज की वाणी है—

स्वागतमक्षरकोष्ठागाराय।, स्त्रीजनोऽपि त्वया कष्टशब्दनिष्ठुराभिर्व्याकरणविस्फुलिगाभिर्वाग्भिरुत्त्रासयितव्यो भवति।, इदमपरं परिहासपत्तनमुपस्थितम्।, ही ही! ननु नयनोत्सवः खल्विह वर्तते। इदं खलु वर्षतु ज्योत्स्नादर्शनम्।, भवति वेशमेघविद्युल्लते।, अलमलं प्रत्युत्थानयन्त्रणया।

प्रभृति प्रयोगो पर ध्यान दें और कृपया भूल न जायँ कि शूद्रक के यहाँ 'प्रवाद' अथवा 'लोकोक्ति' की छटा निराली है। सारांश यह कि शूद्रक की सजीव भाषा उनके जीवित काव्य के सर्वथा अनुकूल है और जीवन के सभी क्षेत्रों में व्याप्त है। किं बहुना? 'न दीपेनाग्निमार्गणं क्रियते,।

६. दारिद्र्य-दर्शन

निर्धनता—दरिद्र चारुदत्त की दरिद्रता को लेकर शूद्रक ने जो काम किया है वह देखते ही बनता है। उसका निष्कर्ष है 'गीता' के ढंग पर—

दारिद्र्याद्ध्रियमेति ह्रीपरिगतः प्रभ्रश्यते तेजसो
निस्तेजाः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते।
निर्विण्णः शुचमेति शोकपिहितो बुद्धया परित्यज्यते
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम्॥१४-१॥

देखिये न, कैसा है दरिद्रता का अभिशाप! कहने को तो 'दारिद्र्य' में धन का अभाव है; पर वास्तव में इस अभाव का परिणाम है कितना भयंकर। आप दरिद्र हुए नहीं कि आपको लज्जित होना पड़ा। जहाँ-तहाँ उपहास के कारण आपको सर्वथा लज्जा का स्वागत करना पड़ा। लज्जित होते रहने का प्रभाव यह पड़ा कि आपका 'तेज' जाता रहा। और जब 'तेज' चला गया तब 'परिभव' के अतिरिक्त शेष क्या रहा? किसने आपका तिरस्कार नहीं किया? आपका 'परिभव' हुआ नहीं कि अवश्य ही आप 'निर्वेद' के चंगुल में आ गये और ग्लानि ने आपको आ घेरा। और जब निर्वेद गहरा हो गया तब 'शोक' को स्थान मिला। उसके स्वागत से बचना कठिन हो गया। 'शोक' जमा नहीं कि 'बुद्धि' को प्रस्थान करना पड़ा। शोकाक्रान्त हृदय में विवेक को स्थान कहाँ? विवेक गया नहीं, बुद्धि का नाश हुआ नही, कि आपका सत्यानाश! सर्वनाश हो गया तो फिर 'निर्धनता' की कृपा से आपके पास रह क्या गया जो आप किसी संकट वा विपत्ति का सामना कर सकें? निदान निष्कर्ष निकला कि सभी 'आपदाओं' का निवास दरिद्रता में ही है। दारिद्र्य ही आपदाओं का जनक है। तो फिर इस दारिद्र्य से बचने का उपाय क्या? चारुदत्त इसकी मीमांसा में लीन नहीं। कारण उसका विचार जो है—

सत्यं न मे विभवनाशकृतास्ति चिन्ता
भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति।

एतत्तु मां दहति नष्टधनाश्रयस्य
यत्सौहृदादपि जनाः शिथिलीभवन्ति ॥१३॥१॥

धन तो भाग्य से होता और जाता रहता है, फिर किसी को उसकी चिंता क्यों हो ? हाँ, सोचने की बात यह अवश्य है कि इस 'धन' के लिये लोग मित्रता को भी तोड़ बैठते हैं। इतना ही नहीं अपि तु—

संगं नैव हि किश्चिदस्य कुरुते संभाषते नादरा—
त्संप्राप्तो गृहमुत्सवेषु धनिनां सावज्ञमालोक्यते।
दूरादेव महाजनस्य विहरत्यल्पच्छदो लज्जया
मन्ये निर्धनता प्रकाममपरं षष्ठं महापातकम् ॥३७॥१॥

'निर्धनता' इस प्रकार सिद्ध तो हो जाती है 'महापातक', परंतु उससे दूर होने की चिन्ता किसी चारुदत्त को नहीं। कारण, उसका विश्वास जो है—

कांश्चित्तुच्छयति प्रपूरयति वा कांश्चिन्नयत्युन्नतिं,
कांश्चित्पातविधौ करोति च पुनः कांश्चिन्नयत्याकुलान्।
अन्योन्यं प्रतिपक्षसंहतिमिमां लोकस्थितिं बोधय—
न्नेष क्रीडति कूपयन्त्रघटिकान्यायप्रसक्तो विधिः ॥६०॥१०॥

चारुदत्त की दृष्टि में जब यही 'लोकस्थिति' है और 'कूपयन्त्रघटिकान्याय' ही जब यहाँ का प्रधान न्याय है तब मानव की किसी दशा को देख कर कातर होना ठीक नहीं। उसे तो यह समझ रखना चाहिये कि यह लीला भी नित्य नहीं। यहाँ तो सभी कुछ कुछ काल के लिए ही होता है। तो भी आश्चर्य की बात तो यह है कि मानव धन को इतना महत्त्व देता है कि उसके सामने शील ठहर नहीं पाता। धन मानवता को दबा लेता है। देखिए न, चारुदत्त का विषाद है—

धिक्कष्टम्।

दारिद्र्यात्पुरुषस्य बान्धवजनो वाक्ये न सन्तिष्ठते
सुस्निग्धा विमुखीभवन्ति सुहृदः स्फारीभवन्त्यापदः।
सत्त्वं ह्रासमुपैति शीलशशिनः कान्तिः परिम्लायते
पापं कर्म च यत्परैरपि कृतं तत्तस्य संभाव्यते ॥३६॥१॥

धनाभाव—फिर भी शीलशशी चारुदत्त को चिन्ता है तो यह—

दारिद्र्य शोचामि भवन्तमेवमस्मच्छरीरे सुहृदित्युषित्वा।
विपन्नदेहे मयि मन्दभाग्ये ममेति चिन्ता क्व गमिष्यसि त्वम् ॥३८॥१॥

किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि 'दारिद्र्य' के आश्रय-दाता के रूप में जाने में आर्यचारुदत्त को आनन्द आता है। नही, यह तो उनके हृदय की गहरी खीझ है। तभी तो कहते भी हैं—

दारिद्र्यान्मरणाद्वा मरणं मम रोचते न दारिद्र्यम्।
अल्पक्लेशं मरणं दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम् ॥११॥१॥

फिर भी 'मरण' की कामना करनेवाला चारुदत्त दुःख से विचलित नहीं होता। उसकी दृष्टि में तो सुख की सच्ची अनुभूति के लिये थोड़ा दुःख भी आवश्यक है। दुःख के बाद सुख का आना तो ठीक, पर सुख के बाद दुःख का आना मरण ठहरा न? इसी से कहता भी है वह किस अनुताप से—

सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम्।
सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां धृतः शरीरेण मृतः स जीवति ॥१०॥१॥

धनी का निर्धन हो जाना उसके दुःख का कारण क्यों हो जाता है? क्या इसीलिए कि उसे पेट भर भोजन नही मिलता? जी नहीं, भरपेट भोजन की चिन्ता उसे उतना नहीं सताती जितना कि उसकी स्वयं विवशता। इसी से तो ऐसे जीवन से मरण ही अच्छा समझा जाता है? चारुदत्त की समझ में तो—

धनैर्वियुक्तस्य नरस्य लोके किं जीवितेनादित एव तावत्।
यस्य प्रतीकारनिरर्थकत्वात्कोपप्रसादा विफलीभवन्ति ॥४०॥५॥

भला जिस मनुष्य के 'कोप' और 'प्रसाद' का कोई अर्थ न हो उसके जीवित होने का फल ही क्या? साँस लेना और पेट भरना मानव का काम नहीं। इतना तो पशु भी सरलता से कर लेता है। मानव की मानवता तो लोकहित में है न? अर्थाभाव के कारण उसका होना तो दूर रहा उलटे स्थिति यह हो जाती है कि दरिद्रता कुछ और ही रंग दिखाती है। उसके प्रताप से मानव की स्थिति कितनी दयनीय हो जाती है। वह सोचता कुछ और है। लोग समझते उसे कुछ और हैं। इसी से चारुदत्त का समाधान है—

वयस्य ! दारिद्र्यं हि पुरुषस्य
निवासश्चिन्तायाः परपरिभवो वैरमपरं
जुगुप्सा मित्राणां स्वजनजनविद्वेषकरणम् ।
वनं गन्तुं बुद्धिर्भवति च कलत्रात्परिभवो
हृदिस्थः शोकाग्निर्न च दहति संतापयति च ॥१५॥१॥

अस्तु, धनाभाव सीधे उतना दुःखदायी नहीं होता जितना कि समाज के साथ । दस के बीच में हमारी क्या स्थिति होगी, मानव इससे जितना तंग है उतना पेट की आग से नहीं । संवाहक के इस कथन में कुछ सार है—

सत्कारधनः खलु सज्जनः कस्य न भवति चलाचलं धनम् ।
यः पूजयितुमपि न जानाति स पूजाविशेषमपि जानाति ॥१५॥२॥

यशोधन—जी । 'सत्कार' की दिव्य प्रेरणा का ही परिणाम वा प्रतिफल है कि विदूषक अभिमान के साथ विट वा शकार से कह सकता है—

मा दुर्गत इति परिभवो नास्ति कृतान्तस्य दुर्गतो नाम ।
चारित्र्येण विहीन आढ्योऽपि च दुर्गतो भवति ॥४२॥१॥

और यह इसी 'सत्कार' वा 'पूजा' का फल है कि गणिका वसन्तसेना 'राज-श्याल' शकार से ससाहस बोल सकती है—

खलचरित निकृष्ट जातदोषः कथमिह मां परिलोभसे धनेन ।
सुचरितचरितं विशुद्धदेहं न हि कमलं मधुपाः परित्यजन्ति ॥३२॥८।

'मधुप' की 'चरित' में जब इतनी निष्ठा है तब भला किसी मानव का कहना ही क्या ? यहाँ तो गणिका भी खुलकर स्पष्ट कहती है—

यत्नेन सेवितव्यः पुरुषः कुलशीलवान्दरिद्रोऽपि ।
शोभा हि पणस्त्रीणां सदृशजनसमाश्रयः कामः ॥३३॥८॥

जी हाँ, निरे 'अर्थ' और निरे 'काम' से मानव का काम नहीं चलता । नहीं, उसे तो 'सत्कार' और 'शोभा' की आवश्यकता पड़ती है । तभी तो 'काम' और 'अर्थ' की चिन्ता में मग्न शर्विलक भी अपने पराक्रम से इस अनुभव पर पहुँचता है—

गुणेष्वेव हि कर्तव्यः प्रयत्नः पुरुषैः सदा।
गुणयुक्तो दरिद्रोऽपि नेश्वरैरगुणैः समः ॥२२॥४॥

तो फिर मानव-जीवन में 'गुण' की उपेक्षा क्यों? कारण इसके अतिरिक्त और क्या हो वा कहा जा सकता है कि विधाता की वामता ही विकराल है। उसी के प्रताप से यह सब कुछ हो सकता है। परिस्थिति की विषमता पर तरस खाकर किस विषाद में विट कहता है—

अप्येष नाम परिभूतदशो दरिद्रः
प्रेष्यः परत्र फलमिच्छति नास्य भर्ता।
तस्मादमी कथमिवाद्य न यान्ति नाशं
ये वर्धयन्त्यसदृशं सदृशं त्यजन्ति ॥२६॥८॥

ठीक ही तो है। देखिये न 'प्रेष्य' स्थावरक परलोक की आशा में दरिद्रता की रत्ती भर भी चिन्ता नही करता। उसको तो एक प्रकार से चुनौती ही दे देता है। पर 'भर्ता' शकार की कभी आँख ही नहीं खुलती। खुले भी तो कैसे खुले? उसे धन का मद जो है। भला जिसकी आँख पर अर्थ की पट्टी बँध गयी उसको भोग के अतिरिक्त और कुछ सूझ सकता है? न सूझे, परन्तु इसका रहस्य क्या है कि उधर सज्जन स्थावरक तो दुःख भोग रहा है और इधर यह दुष्ट शकार सुख में लोट रहा है। प्रतीत होता है कि दैव का दुर्विपाक ही ऐसा है कि सज्जन दुःखी और दुष्ट सुखी रहें। इसी से उसने कहा भी है—

रन्ध्रानुसारी विषमः कृतान्तो यदस्य दास्यं तव चेश्वरत्वम्।
श्रियं त्वदीयां यदयं न भुंक्ते यदेतदाज्ञां न भवान्करोति ॥२७॥८॥

दास की दीन दशा पर तरस खानेवालो की कमी नहीं, परन्तु वास्तव में हैं कितने लोग जो सचमुच उसके उद्धार के लिये कुछ कार्य भी करते हैं? तपस्वी चारुदत्त तो बस इसी चिन्ता मे घुले जाते हैं—

कः श्रद्धास्यति भूतार्थं सर्वो मां तूलयिष्यति।
शंकनीया ही लोकेऽस्मिन्निष्प्रतापा दरिद्रता ॥२४॥३॥

उद्योग—हाँ, विट महाराज अवश्य कुछ हाथ पैर मारते हैं और अंत में निश्चय कर लेते हैं—

न युक्तमवस्थातुम् । भवतु । यत्रार्यशर्विलकचन्दनकप्रभृतयः सन्ति तत्र गच्छामि ।

[अंक ८, ४३ प०]

विट ने चन्दनक का उल्लेख कर दिया तो उसकी भी देख लीजिये । उसका कथन है—

एषोऽनपराधः शरणागत आर्यचारुदत्तस्य प्रवहणमारूढः प्राणप्रदस्य म आर्यशर्विलकस्य मित्रम् । अन्यतो राजनियोगः । तत्किमिदानीमत्र युक्तमनुष्ठातुम् । अथवा यद्भवतु तद्भवतु । प्रथममेवाभयं दत्तम् ।

भीताभयप्रदानं ददतः परोपकाररसिकस्य ।
यदि भवति भवतु नाशस्तथापि खलु लोके गुण एव ॥१६॥६॥

अर्थात् 'अभयदान' और 'परोपकार' के लिए आप कुछ भी कर सकते हैं, और अंत में इसी प्रेरणा से शर्विलक से सपरिवार जा मिलते हैं । मिले भी क्यो नहीं ? 'राजनियोग' तो पैसे का ही परिणाम था न ? यदि धन होता तो क्या आप राजा पालक की सेवा करते ? निदान निश्चय हुआ—

प्रधानदण्डधारको वीरको राजप्रत्ययकरो विरोधितः । तद्यावदहमपि पुत्रभ्रातृपरिवृत एतमेवानुगच्छामि ।

[अंक ६, अंत]

चन्दनक ने आर्य शर्विलक को 'प्राणप्रद' क्यो कहा, इसका हमें पता नहीं । हाँ, हम भली भाँति जानते यह हैं कि उसका भी विषाद है—

धिगस्तु खलु दारिद्र्यमनिर्वेदितपौरुषम् ।
यदेतद् गर्हितं कर्म निन्दामि च करोमि च ॥१६॥३॥

है न सचमुच यह कोई विचित्र प्राणी जो निन्द्य कर्म करता भी है, और उसकी निन्दा भी करता है ? अच्छा तो वह निन्द्य कर्म है क्या और क्यों हो रही है उसकी निन्दा भी ? उत्तर उसी के मुँह से सुनिये—

अहं हि चतुर्वेदविदोऽप्रतिग्राहकस्य पुत्रः शर्विलको नाम ब्राह्मणो गणिकामदनिकार्थमकार्यमनुतिष्ठामि ।

[अंक ३, १८ प०]

फिर भी 'अकार्य' का पता न लगा तो ध्यान से सुनें। उसकी चिन्ता है—

देशः को नु जलावसेकशिथिलो यस्मिन्न शब्दो भवेत्
भित्तीनां च न दर्शनान्तरगतः सन्धिः करालो भवेत्॥
क्षारक्षीणतया च लोष्टककृशं जीर्णं क हर्म्यं भवेत्
कस्मिन्स्त्रीजनदर्शनं च न भवेत्स्यादर्थसिद्धिश्च मे॥१२॥३॥

तो निश्चय ही 'अर्थसिद्धि' के लिए शर्विलक 'सन्धि' देना चाहता है और मन ही मन प्रार्थना करता है—

नमो वरदाय कुमारकार्तिकेयाय, नमः कनकशक्तये ब्रह्मण्यदेवाय देवव्रताय, नमो भास्करनन्दिने, नमो योगाचार्याय यस्याहं प्रथमः शिष्यः। तेन च परितुष्टेन योगरोचना मे दत्ता।

अनया हि समालब्धं न मां द्रक्ष्यन्ति रक्षिणः।
शस्त्रं च पतितं गात्रे रुजो नोत्पादयिष्यति॥१४॥३॥

तो क्या इससे यह आप ही प्रकट नही हो जाता कि वास्तव में शर्विलक की शिक्षा ही इसी कला में हुई थी और वस्तुतः यही उसकी वृत्ति भी थी? उसका स्वयं अभिमान है—

पद्मव्याकोशं भास्करं बालचन्द्रं
वापी विस्तीर्णं स्वस्तिकं पूर्णकुम्भम्।
तत्कस्मिन्देशे दर्शयाम्यात्मशिल्पं
दृष्ट्वा श्वो यं यद्विस्मयं यान्ति पौराः॥१३॥३॥

है न 'आत्मशिल्प' की यह पुकार कि शर्विलक को सुशिक्षित चोर मान लो? निश्चय ही है तो शर्विलक सधा हुआ बड़ा भारी चोर, किन्तु फिर भी देने को उसके पास द्रव्य नहीं। क्यों? उसकी शक्ति तो देखिये—

मार्जारः क्रमणे मृगः प्रसरणे श्येनो ग्रहालुञ्चने
सुप्तासुप्तमनुष्यवीर्यतुलने श्वा सर्पणे पन्नगः।
माया रूपशरीरवेशरचने वाग्देशभाषान्तरे
दीपो रात्रिषु संकटेषु डुडुमो वाजी स्थले नौर्जले॥२०॥३॥

शक्ति तो इतनी और स्थिति यह कि प्रिया मदनिका पूछती है—

अथ शर्विलक कुतस्त एतावान्विभवः येन मामार्यासकाशान्मोचयिष्यसि ?

[अंक ४, ५ पृ०]

शर्विलक उत्तर देता है—

दारिद्र्येणाभिभूतेन त्वत्स्नेहानुगतेन च ।
अद्य रात्रौ मया भीरु त्वदर्थे साहसं कृतम् ॥५॥४॥

किंतु क्या यह 'साहस' शर्विलक के लिए सर्वथा नवीन था ? नहीं, यह तो उसका व्यसन ही था। कारण, उसका सिद्धान्त जो था—

अपंडिते [1] साहसे श्रीः प्रतिवसति ।

[अंक ४, ५ पृ०]

सत्यसंकल्प—अस्तु, शर्विलक 'साहस' का प्रेमी ठहरा। वह चोरी करता और धन से दरिद्रता को दूर करने का उपाय रचता। 'सार्थवाह रेभिल' से उसका लगाव क्या ? क्यों उसके घर वधू मदनिका को उतारता है और अपने आप निश्चय करता है—

प्रियसुहृदमकारणे गृहीतं रिपुभिरसाधुभिराहितात्मशंकैः ।
सरभसमभिपत्य मोचयामि स्थितमिव राहुमुखे शशाकबिम्बम् ॥२७॥४॥

माना कि राजा पालक ने 'सिद्धादेश' से डरकर 'आर्यक' को घोर बन्धनागार में डाल दिया और इसी से सन्तप्त हो शर्विलक ने मित्रोद्धार का बीड़ा उठाया। किंतु इसके आगे इतना और भी कैसे मान लें कि स्वतन्त्रतानुरागी शर्विलक को नृशंस राजा पालक की दासता प्रिय थी और वह उसके प्रतिकूल कोई आचरण नहीं कर रहा था ? क्या 'सिद्धादेश' की पूर्ति से उसका कुछ लगाव न था ? तो फिर उज्जयिनी में उसके आने का कारण क्या था ? ध्यान से सुनें। उसकी 'कार्याकार्यविचारिणी' बुद्धि का निर्णय है—

कथं राज्ञा पालकेन प्रियसुहृदार्यको मे बद्धः । कलत्रवांश्चास्मि संवृत्तः। आः कष्टम् । अथवा—

द्वयमिदमतीव लोके प्रियं नराणां सुहृच्च वनिता च ।
संप्रति तु सुन्दरीणां शतादपि सुहृद्विशिष्टतमः ॥२५॥४॥

'संप्रति' का इतना ध्यान क्यों? 'कलत्रवांश्चास्मि संवृत्तः' से इतना असमंजस क्या? क्या इससे यह ध्वनित नहीं होता कि उज्जयिनी में आकर शर्विलक अपने मित्र को भूल सा गया और स्वयं वासना की तृप्ति में मग्न हुआ? हमको तो ऐसा ही लगता है कि शर्विलक 'सिद्धादेश' की पूर्ति के लिए ही उज्जयिनी में आया था और राजा पालक के क्रूर शासन से लोगों को मुक्त करने के लिये ही इस प्रपंच में पड़ा था। फलतः दरिद्र चारुदत्त के घर सेंध देकर पहुँचा तो विदूषक की बात से मन में भाव उठा—

अथवा न युक्तं तुल्यावस्थं कुलपुत्रजनं पीडयितुम्। तद्गच्छामि।

[अक ३, १८ पृ०]

बस, समझ रखिये कि शर्विलक कुलपुत्रजनों की पीड़ा से व्याकुल हो उठा है और वह किसी न किसी प्रकार उनकी पीड़ा को दूर करना चाहता है। पालक का शासन दरिद्रता को बढ़ाता है उसको दूर करने के लिए चोरी ही सही, वह भी विवेक के साथ की जायगी। अस्तु—

हत्वा रिपुं तं बलमन्त्रिहीनं पौरान्समाश्वास्य पुनः प्रकर्षात्।
प्राप्तं समग्रं वसुधाधिराज्यं राज्यं बलारेरिव शत्रुराज्यम्॥४८॥१०॥

'शत्रुराज्य' पर शर्विलक का अधिकार जिस 'साहस' से हुआ वह चारुदत्त के 'शील' के सामने तुच्छ था, किन्तु था तो भी असामान्य ही। चारुदत्त की दरिद्रता जाती रही इसी साहस के कारण। शत्रु का राज्य मिल गया तो शर्विलक चारुदत्त के पास पहुँचा और विनय से बोला—

आर्य! नन्वयमार्यको राजा विज्ञापयति—इदं मया युष्मद्गुणोपार्जितं राज्यम्। तदुपयुज्यताम्।

चारुदत्त सुनते ही अचरज में पड़ गया—

अस्मद्गुणोपार्जितं राज्यम्?

[अंक १०, ५२ पृ०]

सुकृत—राज्य मिला। किसके गुण से मिला, इसे जान लेना कठिन नही। शर्विलक के साहस ने तलवार का काम किया तो चारुदत्त के शील ने ढाल का। जीत दोनों की हुई इसलिए कि उनमें से एक को भी द्रव्य प्यारा न था। दोनों ही अपने अपने ढंग से लोकहित में लीन थे। देखने की बात है कि 'उदारसत्त्व' चारुदत्त की स्थिति भाग्यवश ऐसी विषम हो गयी है कि मित्र भी मुँह चुरा कर चुपचाप जा रहे हैं। इसी से उसका परिताप भी है—

अमी हि वस्त्रान्तनिरुद्धवक्त्रा प्रयान्ति मे दूरतरं वयस्याः।
परोऽपि बन्धुः समसंस्थितस्य मित्रं न कश्चिद्विषमस्थितस्य ॥१६॥१०॥

सचमुच उसके साथ समृद्ध उज्जयिनी के लोगों का आज यही व्यवहार था। किन्तु उसकी दशा पर तरस खाकर चांडाल रह रह कर कह रहे थे—

अपसरतार्याः अपसरत।
एष गुणरत्ननिधिः सज्जनदुःखानामुत्तरणसेतुः।
असुवर्णं मंडनकमपनीयतेऽद्य नगरीतः ॥१४॥१०॥

और रह रहकर मन ही मन अनुभव कर रहे थे—

सर्वः खलु भवति लोके लोकः सुखसंस्थितानां चिन्तायुक्तः।
विनिपतितानां नराणां प्रियकारी दुर्लभो भवति ॥१५॥१०॥

मानवता कसौटी पर चढ़ी थी, दरिद्रता विजयिनी बन रही थी, 'नियति' खुल खेल रही थी कि 'सुकृत' का हाथ बढ़ा और चारुदत्त की बन आई। उसे घोर परिस्थिति में 'अकारणबन्धु' के दर्शन हुए। उसी का संवाहक उसका त्राता बना। वही संवाहक जो उज्जयिनी के राजमार्ग पर खड़ा खड़ा कभी 'दशसुवर्ण' के अभाव में अपने को बेच रहा था और पुकार पुकार कर उच्च स्वर से कहता था—

आर्याः क्रीणीध्वं मामस्य सभिकस्य हस्ताद्दशभिः सुवर्णकैः।

[अंक २, ७ पू०]

और जब उसका इतना मोल भी न लगा तब कलप कर कह उठा—

हा! आर्यचारुदत्तस्य विभवे विघटिते एष वर्ते मन्दभाग्यः।

लोकहित—लगा, गोहार लगा द्यूतकर दर्दुरक। इस समय उसकी भी स्थिति थी—

त्रेताहृतसर्वस्वः पावरपतनाच्च शोषितशरीरः।
नर्दितदर्शितमार्गः कटेन विनिपातितो यामि ॥६॥२॥

और भी 'शोषितशरीर' की दशा यह कि ढकने को वस्त्र नहीं। फिर भी संस्कृतभाषी कुलीन पात्र ठहरा। अपनी आन पर आ गया तो माथुर ने उसकी दीन दशा को लक्ष्य कर कहा—

भर्तारः पश्यत पश्यत जर्जरपटप्रावृतोऽयं पुरुषो दशसुवर्णं कल्यवर्तं भणति।

सुनना था कि वह भी ताव में आ गया और कड़क कर बोला—

अरे मूर्ख! नन्वहं दशसुवर्णान्कटकरणेन प्रयच्छामि। तत्किं यस्यास्ति धनं स किं क्रोडे कृत्वा दर्शयति?

इसके आगे जो कुछ कहा मानवता के लिये सब कुछ कह दिया, पर धनिक वर्ग का ध्यान अब तक उसमें लीन न हुआ। इसे शूद्रक की फटकार समझिये। वह 'शोषक' को फटकारता है किस दिव्य आधार पर—

दुर्वर्णोऽसि विनष्टोऽसि दशस्वर्णस्य कारणात्।
पञ्चेन्द्रियसमायुक्तो नरो व्यापाद्यते त्वया ॥१३॥२॥

उसने अपनी समझ से 'दशसुवर्ण' से 'पंचेन्द्रियसमायुक्त' प्राणी की रक्षा तो कर दी, किंतु सच पूछिये तो उक्त प्राणी को मोक्ष मिला गणिका वसन्तसेना के दान से ही। वह भी अर्थाभाव में इतना कृतज्ञ निकला कि भिक्षु बन कर वसन्तसेना का उद्धार किया और ठीक समय पर चारुदत्त की सेवा में पहुँच गया। प्रिय-प्रिया के प्रणय का निमित्त बना। उसके 'मया दृष्टा' से स्थिति में कितना बल आ गया! कालचक्र क्या से क्या हो गया?

दारिद्र्य का दंड भोग कर जो संवाहक शाक्यश्रमण बना था, क्रांतिकारियों की क्रांति का पता उसे था अथवा नहीं, इसकी मीमांसा से कोई लाभ नहीं। परोपकार की अपेक्षा 'प्रत्युपकार' में ही सुख है। उसकी दृष्टि में सम्मान का एकमात्र साधन रह गया है 'शाक्यश्रमण' बनना ही। वह कहता भी है—

द्यूतेन तत्कृतं यद्विहस्तं जनस्य सर्वस्य ।
इदानीं प्रकटशीर्षो नरेन्द्रमार्गेण विहरिष्यामि ॥१७॥२॥

उसको आज भी अपनी ही चिन्ता है कुछ समाज की नहीं। किंतु उस पर तरस खाने वाले दर्दुरक की भावना कुछ और है। द्यूतकर होते हुए भी वह लोकहित में लीन है। 'माथुर' की आँख में सचमुच धूल झोंक कर उसने संवाहक का उद्धार किया, परन्तु उससे उसे संतोष न हुआ। उसने सोचा—

प्रधानसभिको माथुरो मया विरोधितः। तन्नात्र युज्यते स्थातुम्।

कुशासन—ठीक है। किंतु फिर किया क्या जाय? क्रूर पालक का राज्य ठहरा। किसी पर कोई नियन्त्रण नही। कौन जाने कब किस आपदा का सामना करना पड़ जाय? अपनी स्थिति यह कि द्यूत के प्रताप से न खाने को अन्न और न पहनने को वस्त्र। पक्का 'शोषित शरीर' ठहरा। तो फिर 'शोषण' का यह शिकार करे क्या? क्रांति मे योग देने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग क्या? माथुर का साहस तो देखिये। राजसत्ता के बल पर किस अभिमान से फटकार रहा है—

धूर्त! खंडितवृत्तोऽसि त्वम्।

कहने को तो दर्दुरक ने भी ताव मे आकर कह दिया—

अरे मूर्ख! अहं त्वया मार्गगत एव ताडितः। श्वो यदि राजकुले ताडयिष्यसि तदा द्रक्ष्यसि।

परन्तु जी से जानता है कि वास्तव में 'राजकुल' में होता क्या है। निदान निश्चय किया—

तदहमपि तत्समीपमेव गच्छामि।

कारण यह कि—

सर्वश्चास्मद्विधो जनस्तमनुसरति।

सन्तप्त और 'शोषित' प्राणी उसका अनुसरण क्यो कर रहे हैं? बात यह है कि—

कथितं च मम प्रियवयस्येन शर्विलकेन यथा किल आर्यकनामा गोपालदारकः सिद्धादेशेन समादिष्टो राजा भविष्यति इति।

क्रान्ति—शर्विलक ने दर्दुरक से कह दिया है कि आर्यक राजा होगा। 'सिद्धादेश' कदापि व्यर्थ वा निष्फल नहीं हो सकता। तो क्या इससे यह अनुमान नहीं होता कि वास्तव में शर्विलक ही इस 'सिद्धादेश' का प्रचारक है? वह परतन्त्रता में रह नहीं सकता। जैसे हो वैसे उसे स्वतंत्रता की साँस लेनी है। अतः वह 'सिद्ध' के पास पहुँचा। 'सिद्धादेश' मिला नहीं कि वह संघटन की चिंता में लीन हुआ और 'क्रान्ति' का नेता बन गया।

शर्विलक ने क्रान्ति का ऐसा जाल बिछाया कि राजा पालक की एक भी न चल सकी और धीरे-धीरे उसकी शक्ति इतनी क्षीण हो गई कि जब 'यज्ञवाट' में वह मारा गया तब कहीं किसी प्रकार का कोई कोलाहल भी न मचा। किन्तु फिर भी शर्विलक की साधना पूरी न हुई। उसका लक्ष्य पालक को दूर करना तो था नहीं। नहीं, वह तो उस शासन को दूर करना चाहता था जिससे शोषण बढ़ रहा था और लोग 'वृत्ति' वा जीविका के विचार से 'द्यूतकर' बन रहे थे। स्वयं उदार चारुदत्त ने किस परिताप में कहा था—

> अहो ! अविमृश्यकारी राजा पालकः।
> ईदृशे व्यवहाराग्नौ मन्त्रिभिः परिपातिताः।
> स्थाने खलु महीपाला गच्छन्ति कृपणां दशाम् ॥४०॥६॥

कहा ही नहीं, हृदय से कामना भी की थी—

> अथ रिपुवचनाद्वा ब्राह्मणं मां निहंसि।
> पतसि नरकमध्ये पुत्रपौत्रैः समेतः ॥४३॥६॥

किन्तु स्वयं ऐसे 'अविमृश्यकारी राजा' को उखाड़ने में दत्तचित्त न थे आर्य चारुदत्त। हाँ, अपनी शरणागतवत्सलता के कारण सजग इतना अवश्य थे—

> कृत्वैवं मनुजपतेर्महद्व्यलीकं स्थातुं हि क्षणमपि न प्रशस्तमस्मिन्।
> मैत्रेय ! क्षिप निगडं पुराणकूपे पश्येयुः क्षितिपतयो हि चारदृष्ट्या ॥८॥७॥

भवितव्यता—प्रतीत होता है कि इसी 'चारदृष्टि' के अभाव में पालक का ऐसा पतन हुआ। नहीं तो ऐसा होता ही क्यों कि राजधानी में इतने क्रांतिकारी जुट जाते और उसे पता भी न होता। शर्विलक ने ठीक ही तो कहा था—

ज्ञातीन्विटान्स्वभुजविक्रमलब्धवर्णा-
न्राजापमानकुपितांश्च नरेन्द्रभृत्यान्।
उत्तेजयामि सुहृदः परिमोक्षणाय
यौगन्धरायण इवोदयनस्य राज्ञः ॥२६॥४॥

और फलतः किया भी ऐसा ही। उसने सचमुच 'आर्यक' के लिए वही काम किया जो कभी उदयन के लिये यौगन्धरायण ने किया था। उधर इसी से आर्यक का भी कहना है—

भोः। अहं खलु सिद्धादेशजनितपरित्रासेन राज्ञा पालकेन घोषादानीय विशसने गूढागारे बन्धनेन बद्धः। तस्माच्च प्रियसुहृच्छर्विलकप्रसादेन बन्धनात्परिभ्रष्टोऽस्मि। (अश्रूणि विसृज्य)

भाग्यानि मे यदि तदा मम कोऽपराधो
यद्वन्यनाग इव संयमितोऽस्मि तेन।
दैवी च सिद्धिरपि लंघयितुं न शक्या-
गम्यो नृपो बलवता सह को विरोधः ॥२॥६॥

भाव यह कि आर्यक भी 'भाग्य' और 'दैव' के पचड़े में पड़े रहे और 'साहस' के भक्त न बने। तभी तो कहते हैं—

तत्कुत्र गच्छामि मन्द भाग्यः ? (विलोक्य) इदं कस्यापि साधोरनावृतपक्षद्वारं गेहम्।

इदं गृहं भिन्नमदत्तदण्डो विशीर्णसन्धिश्च महाकपाटः।
ध्रुवं कुटुम्बी व्यसनाभिभूतां दशां प्रपन्नो मम तुल्यभागः ॥३॥६॥

तो क्या इसका अर्थ यह नहीं कि वस्तुतः आर्यक भी आर्य चारुदत्त की भाँति ही प्रपन्न और दरिद्रावस्था को प्राप्त हो चुका था ? स्थिति कुछ भी हो, पर वास्तव में है वह दैवविपाकी हो। इसी से वह चन्दनक से कहता भी यही है—

चन्दनश्चन्द्रशीलाढ्यो दैवादद्य सुहृन्मम।
चन्दनं भोः स्मरिष्यामि सिद्धादेशस्तथा यदि ॥२६॥६॥

और चारुदत्त के विषय में सोचता भी यही है—

अभ्युपपन्नवत्सलः खलु तत्रभवानार्यचारुदत्तः श्रूयते । तत्प्रत्यक्षी-कृत्य गच्छामि ।

साक्षात्कार होने पर चारुदत्त की अनुकम्पा से निगडमुक्त हुआ और सचेल किया गया—

यदुद्यते पालके महती रक्षा न वर्त्तते तच्छीघ्रमपक्रामतु भवान् ।

[अंक ७, ७ प०]

कर्ममार्ग—परंतु क्या इस योजना से कुशासन का अंत हो सकता है ? समाधान शर्विलक के जीवन में है । दरिद्रता को दूर करने का मूलमंत्र उसी के पास है । उसका दृढ निश्चय है—

कामं नीचमिदं वदन्तु पुरुषाः स्वप्ने च यद्वर्धते
विश्वस्तेषु च वञ्चनापरिभवश्चौर्यं न शौर्यं हि तत् ।
स्वाधीना वचनीयतापि हि वरं बद्धो न सेवाञ्जलि—
र्मार्गो ह्येष नरेन्द्रसौप्तिकवधे पूर्वं कृतो द्रौणिना ॥११॥३॥

सच है स्वाधीनता से बढकर मानव को इष्ट क्या जो उससे अधिक किसी अन्य को महत्त्व दे और अपनी इस इष्ट साधना में, यदि आवश्यकता पड़े, तो अश्वत्थामा का अनुकरण क्यो न करे ? अस्तु, विकट ब्राह्मण का सकल्प ठहरा । और कर्म भी ऐसा—

कृत्वा शरीरपरिणाहसुखप्रवेशं
शिक्षाबलेन च बलेन च कर्ममार्गम् ।
गच्छामि भूमिपरिसर्पणघृष्टपार्श्वो
निर्मुच्यमान इव जीर्णतनुर्भुजंगः ॥९॥३॥

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो सिद्ध हो कि वास्तव में जीवन का सच्चा 'कर्ममार्ग' यही है । शरीर-यात्रा के लिए बस उतना ही स्थान चाहिये जितना उसके गमन के हेतु पर्याप्त हो; और हो ऐसा ठीक नपा-तुला और सधा कि उसकी यात्रा में सारा निर्मोक दूर हो जाय । शर्विलक का यही जीवन-दर्शन है, और है यही उसका 'कर्ममार्ग' भी । इसी से तो वह जीवन में सदा

अकिंचन रहा ? निश्चय ही शर्विलक के इस 'कर्ममार्ग' का रहस्य गूढ है। इसको जाने बिना शूद्रक का मर्म पाना कठिन है। शूद्रक सचमुच क्रान्तिकारी कवि है और है साथ ही सदा साधुदर्शी भी।

शिक्षाबल—स्वाधीनता प्रेमी शर्विलक ने अपने 'कर्ममार्ग' में 'शिक्षाबल' से काम लिया तो हमें उसका रहस्य भी तो जानना ही होगा न ? कारण, उसके बिना हमें उसके इस कर्म का बोध कैसे होगा ? वह स्वयं कहता भी है—

इह खलु भगवता कनकशक्तिना चतुर्विधः सन्ध्युपायो दर्शितः। तद्यथा पक्वेष्टकानामाकर्षणम्, आमेष्टकानां छेदनम्, पिण्डमयानां सेचनम् काष्ठमयानां पाटनमिति।

[अंक ३, १२ प०]

इसका अर्थ यह हुआ कि वह इस कला का पंडित है और है इस विद्या का निपुण ज्ञाता। प्रश्न यही उठ खड़ा होता है कि क्यों उसने इसकी, इस निन्द्य कर्म की, शिक्षा प्राप्त की। कुलधर्म तो उसका कुछ और ही था न ? जी इसका एकमात्र स्पष्ट कारण है इष्टसिद्धि के निमित्त सहसा अर्थ जुटा लेना। नहीं तो इस 'शिक्षाबल' का कोई महत्त्व नहीं। सभी राजविरोधी अपना कार्य छोड़कर जो उसके दल में जा रहे हैं तो उनके भोजन-छाजन का भी तो कुछ प्रबंध होना ही चाहिए न ? तो क्या यह अर्थ के अभाव में कभी संभव था ? निदान शर्विलक को सन्धि-विद्या का अभ्यास करना पड़ा। और धीरे-धीरे वह इस कला में इतना निष्णात हो गया कि कहीं से भी द्रव्य निकाल लेना उसके लिए अत्यंत सरल हो गया—

तत्किं परमार्थदरिद्रोऽयम्। उत राजभयाच्चौरभयाद्वा भूमिष्ठं द्रव्यं धारयति। तन्ममापि नाम शर्विलकस्य भूमिष्ठं द्रव्यम्। भवतु। बीजं प्रक्षिपामि।

[अंक ३, १८ प०]

परिस्थिति—शर्विलक को 'राजभय' और 'चौरभय' का नाम यों ही नहीं लेना पड़ा। नहीं, उस समय की स्थिति ही यह हो रही थी कि शासन की कुव्यवस्था के कारण लोग द्रव्य को छिपा रहे थे और इससे भी जनसमाज

का कष्ट बढ़ रहा था। कला और संगीत का ह्रास हो रहा था। यहाँ तक कि उस समय के सूत्रधार की स्थिति यह थी—

अये ! शून्येयमस्मत्संगीतशाला। क नु गताः कुशीलवा भविष्यन्ति ?

कौन कहे ? कहीं बेगार में पकड़ लिये गये हों ! तो भी सोचकर—

आं ज्ञातम्।
शून्यमपुत्रस्य गृहं चिरशून्यं नास्ति यस्य सन्मित्रम्।
मूर्खस्य दिशः शून्याः सर्वं शून्यं दरिद्रस्य ॥८॥१॥

कृत च संगीतकं मया। अनेन चिरसंगीतोपासनेन ग्रीष्मसमये प्रचण्डदिनकरकिरणोच्छुष्कपुष्करबीजमिव प्रचलिततारके क्षुधा ममाक्षिणी खटखटायेते। तद्यावद्गृहिणीमाहूय पृच्छामि-अस्ति किंचित्प्रातराशो न वेति।

सीधी सी बात यह है कि जब दरिद्रता ने आ घेरा है तब 'कुशीलव' लोग अपनी-अपनी चिन्ता क्यों न करें और क्यों दरिद्र सूत्रधार की 'संगीतशाला' की शोभा बढ़ायें ? रोटी के अभाव में राग-रंग किसे भाता है ? इसी से सभी अपनी-अपनी चिंता में लीन हैं।

सुवृत्त—है, पालक के राज्य में सुख भी प्रभूत है। देखिए न, शकार किस उल्लास में चेट से कहता है—

सर्वं त उच्छिष्टं दास्यामि।

और वह भी बड़ी गंभीरता से स्वीकार करता है—

अहमपि खादिष्यामि।

किंतु फिर भी उसका दृढ निश्चय है—

ताडयतु भट्टकः। मारयतु भट्टकः। अकार्यं न करिष्यामि।

कारण यह कि—

येनास्मि गर्भदासो विनिर्मितो भागधेयदोपैः।
अधिकं च न क्रीणिष्यामि तेनाकार्यं परिहरामि ॥२५॥८॥

'अकार्य' न करने का संकल्प अंत में सफल हुआ और चारुदत्त की कामना हुई—

सुवृत्तः अदासो भवतु ।

तो क्या 'सुवृत्त' का संकेत केवल 'स्थावरक' तक ही सीमित है ? नहीं जी । ऐसा मानने का कोई आग्रह नहीं । अब तो—

क्षीरिण्यः सन्तु गावो भवतु वसुमती सर्वसंपन्नसस्या
पर्जन्यः कालवर्षी सकलजनमनो नन्दिनो वान्तु वाताः ।
मोदन्तां जन्मभाजः सततमभिमता ब्राह्मणाः सन्तु सन्तः
श्रीमन्तः पान्तु पृथ्वीं प्रशमितरिपवो धर्मनिष्ठाश्च भूपाः ॥६१॥१०॥

आज की नहीं कहते, पर तब का यही भरतवाक्य है और यही है शूद्रक का किसी त्राता शर्विलक को आदेश भी । कैसी है यह शुभ कामना ? 'धर्मनिष्ठा' का स्वरूप शर्विलक से सीख लें, जिसका कितना दृढ़ अभिमान है—

कार्याकार्यविचारिणी मम मतिश्चौर्येऽपि नित्यं स्थिता ॥६॥४॥

तो क्या वह 'स्थितप्रज्ञ' भी था ? जी, स्थितप्रज्ञा के बिना मानव का उद्धार कहाँ ! क्रान्ति चाहे जिसकी हो ।

७. देश-काल

अलंकरण—मृच्छकटिक के देश-काल से हमें जिन तत्त्वों का पता लगता है उन्हें थोड़े ही अक्षरों में बाँध देना सरल नहीं। शूद्रक की पहेली चाहे अनबूझ रहे पर हमें शूद्रक की रचना को तो बूझना ही होगा। उसी बूझ का थोडा यहाँ प्रयत्न है। वर्णन वसंतसेना के गेह-द्वार का है। विदूषक देखते ही विस्मय के साथ बोल उठता है—

अहो सलिलसिक्तमार्जितकृतहरितोपलेपनस्य विविधसुगन्धिकुसुमोपहारचित्रलिखितभूमिभागस्य गगनतलावलोकनकौतूहलदूरोन्नामितशीर्षस्य दोलायमानावलम्बितैरावणहस्तभ्रमायितमल्लिकादामगुणालंकृतस्य समुच्छ्रितदन्तिदन्ततोरणावभासितस्य महारत्नोपरागोपशोभिना पवनबलान्दोलनाललच्चंचलाग्रहस्तेन 'इत एहि एहि' इति व्याहारतेव मां सौभाग्यपताकानिवहेनोपशोभितस्य तोरणधरणस्तम्भवेदिकानिक्षिप्तसमुल्लसद्धरितचूतपल्लवललामस्फटिकमंगलकलशाभिरामोभयपार्श्वस्य महासुरवक्षस्थलदुर्भेद्यवज्रनिरन्तरप्रतिबद्धकनककपाटस्य दुर्गतजनमनोरथायासकरस्य वसन्तसेनाभवनद्वारस्य सश्रीकता। यत्सत्यं मध्यस्थस्यापि जनस्य बलाद्दृष्टिमाकारयति।

[अंक ४, २७ पृ०]

वसन्तसेना के भवनद्वार की यह शोभा आज भी हमारे चित्त को मोहती है और अपनी भूली हुई कला को ला सामने खड़ी कर देती है। इसकी सजावट और बनावट को देखिए और साथ ही तरावट को दृष्टि में रख कर कहिये तो सही, उस समय का सुखी जीवन क्या था और क्या थी उस समय की संस्कृति और कला जो आज भी खंडहरों में ढूँढी जा रही और पाषाणखंडों में पायी जा रही है? मंगलामुखी के भवन-द्वार का मंगलकलश किसका मंगल न करेगा? इसी से तो उसके द्वार की शोभा सबको संकेत से बुला रही है। भला कोई इस शील-छटा की अवहेलना कर उधर से यों ही निकल सकता है?

शिल्प—लीजिए महाब्राह्मण विदूषक जी उसके प्रकोष्ठ में पधारे और देखा कि—

आश्चर्यं भोः इहापि प्रथमे प्रकोष्ठे शशिशंखमृणालसच्छाया विनिहितचूर्णमुष्टिपांडुरा विविधरत्नप्रतिबद्धकांचनसोपानशोभिताः प्रासादपंक्तयोऽवलंबितमुक्तादामभिः स्फटिकवातायनमुखचन्द्रैर्निध्यायन्तीवोज्जयिनीम्। श्रोत्रिय इव सुखोपविष्टः निद्राति दौवारिकः। सदध्ना कलमोदनेन प्रलोभिता न भक्षयन्ति वायसा बलिं सुधासवर्णतया।

भला काक जैसे कुशल पक्षी को भी, जब यहाँ रंग में रंग मिल जाने के कारण, बलि का बोध नहीं होता, तब भला यहाँ किसी नष्ट-बुद्धि कामुक की दशा क्या होगी? सो भी तब जब 'श्रोत्रिय' की भाँति 'दौवारिक' भी सुख से बैठा सुख की नींद सोता हो?

पशुचर्या—अस्तु, छोड़िए इस 'रत्नच्छाया' को और देखिए द्वितीय प्रकोष्ठ की पशुस्थिति को। कहते हैं—

आश्चर्यं भोः इहापि द्वितीये प्रकोष्ठे पर्यन्तोपनीतयवसबुसकवलसुपुष्टास्तैलाभ्यक्तविषाणा बद्धाः प्रवहणबलीवर्दाः। अयमन्यतरोऽवमानित इव कुलीनो दीर्घं निःश्वसिति सैरिभः। इतश्चापनीतयुद्धस्य मल्लस्येव मर्द्यते ग्रीवा मेषस्य। इत इतोऽपरेषामश्वानां केशकल्पना क्रियते। अयमपरः पाटच्चर इव दृढबद्धो मन्दुरायां शाखामृगः।···इतश्च कूरच्युततैलमिश्रं पिंडं हस्ती प्रतिग्राह्यते मात्रपुरुषैः।

उपवेशन—किस पशु को किस भाव से, किस रूप में क्या किया जा रहा है, इसको देख लिया तो आगे का दृश्य देखिए—

आश्चर्यं भोः इहापि तृतीये प्रकोष्ठे इमानि तावत्कुलपुत्रजनोपवेशननिमित्तं विरचितान्यासनानि। अर्धवाचितं पाशकपीठे तिष्ठति पुस्तकम्। एतच्च स्वाधीनमणिमयसारिकासहितं पाशकपीठम्। इमे चापरे मदनसन्धिविग्रहचतुरा विविधवर्णिकाविलिप्तचित्रफलकाग्रहस्ता इतस्ततः परिभ्रमन्ति गणिका वृद्धविटाश्च।

संगीतशाला—तृतीय प्रकोष्ठ में घूमती-फिरती गणिका तथा वृद्धविटों

की छटा मिली तो उसके आगे कुछ और ही झाँकी होगी न। लीजिए यहाँ का रंग है—

आश्चर्यं भोः इहापि चतुर्थे प्रकोष्ठे युवतिकरताडिता जलधरा इव गम्भीरं नदन्ति मृदंगाः क्षीणपुण्या इव गगनात्तारिका निपतन्ति कांस्यतालाः मधुकरविरुतमिव मधुरं वाद्यते वंशः। इयमपरेर्ष्याप्रणय-कुपितकामिनीवाङ्कारोपिता कररुहपरामर्शेन सार्यते वीणा। इमा अपराः कुसुमरसमत्ता इव मधुकर्योऽतिमधुरं प्रगीता गणिकादारा नर्त्यन्ते नाट्यं पाठ्यन्ते सश्रृंगारम्। अपवलिगता गवाक्षेषु वातं गृह्णन्ति सलिलगर्गर्यः।

इस प्रकोष्ठ की 'संगीतशाला' के बारे में कुछ नही कहना है। हाँ, प्रसंगवश इतना अवश्य कह देना है कि 'सुराही' की बाढ के दिनों में आप कही इस 'सलिलगर्गरी' को न भूल जायँ, नहीं तो झट कहीं से साहस के साथ सहसा कह दिया जायगा कि यहाँ के लोग पहले इतना भी नहीं जानते थे कि घडे में जल कैसे शीतल होता है। यह तो सुराही-सभ्यता की देन है। इसके पहले यहाँ शीतल जल का उपाय कैसा?

महानस—हाँ, साथ ही यह भी देख ले यही कि यहाँ भोजन की विधि क्या है और इसलाम के उदय के पहले यहाँ 'पाक' की व्यवस्था क्या थी। लीजिए, विदूषक यहाँ कुछ हरे हो कहते है—

आश्चर्य भोः इहापि पञ्चमे प्रकोष्ठेऽयं दरिद्रजनलोभोत्पादनकर आहरत्युपचितो हिंगुतैलगन्धः। विविधसुरभिधूमोद्गारैर्नित्यं सन्ताप्य-मानं निःश्वसितीव महानसं द्वारमुखैः। अधिकमुत्सुकायते मां साध्यमान-बहुविधभक्ष्यभोजनगन्धः। अयमपरः पटच्चरमिव हतपशूदरपेशिं धावति रूपिदारकः। बहुविधाहारविकारमुपसाधयति सूपकारः। बध्यन्ते मोदकाः पच्यन्तेऽपूपकाः।

'महानस' के इस 'सूपकार' को देखने का सौभाग्य यदि राष्ट्र के कर्णधारों को मिल जाता तो कौन आग्रह कर कह सकता कि 'बावर्ची' का मुसलमान के पहले यहाँ नाम नहीं। नहीं, आवश्यकता है आज साहित्य से ऐसे प्रकरणों को जनता में फैला देने की। नही तो इस प्रकार की हीन-वृत्ति से हमारा कल्याण कहाँ? हमको तो इसके अभाव में सभी कुछ पराया दिखाई देता है न?

शृंगारशाला—अच्छा, यह तो आगे की बात रही। अभी देखिये यह कि—

आश्चर्यं भोः इहापि षष्ठे प्रकोष्ठेऽमूनि तावत्सुवर्णरत्नानां कर्मतोरणानि नीलरत्नविनिक्षिप्तानीन्द्रायुधस्थानमिव दर्शयन्ति। वैडूर्यमौक्तिकप्रवालकपुष्परागेन्द्रनीलकर्केतरकपद्मरागमरकतप्रभृतीन्रत्नविशेषानन्योन्यं विचारयन्ति शिल्पिनः। बध्यन्ते जातरूपैर्माणिक्यानि। घट्यन्ते सुवर्णालंकाराः। रक्तसूत्रेण ग्रथ्यन्ते मौक्तिकाभरणानि। घृष्यन्ते धीरं वैडूर्याणि। छिद्यन्ते शंखाः। शाणैर्घृष्यन्ते प्रवालकाः। शोष्यन्त आर्द्रकुङ्कुमप्रस्तराः। सार्यते कस्तूरिका। विशेषेण घृष्यते चन्दनरसः। संयोज्यन्ते गन्धयुक्तयः। दीयते गणिका-कामुकानां सकर्पूरं ताम्बूलम्। अवलोक्यते सकटाक्षम्। प्रवर्तते हासः। पीयते चानवरतं ससीत्कारं मदिरा। इमे चेटाः। इमाश्चेटिकाः। इमे अपरेऽवधीरितपुत्रदारवित्ता मनुष्या आसवकरकापीतमदिरैर्गणिकाजनैर्ये मुक्तास्ते पिबन्ति।

पक्षि-शाला—शिल्पी के शिल्प को देखा और देखा गणिका-गृह की इस पान-गोष्ठी को तो अब यह भी देख लीजिए कि यहाँ पक्षी की दशा क्या है। लीजिए—

आश्चर्यं भोः इहापि सप्तमे प्रकोष्ठे सुश्लिष्टविहंगवाटीसुखनिषण्णान्यन्यचुम्बनपराणि सुखमनुभवन्ति पारावतमिथुनानि। दधिभक्तपूरितोदरो ब्राह्मण इव सूक्तं पठति पञ्जरशुकः। इयमपरा संमाननालब्धप्रसरेव गृहदासी अधिकं कुरकुरायते मदनसारिका। अनेकफलरसास्वादप्रहृष्टकंठा कुम्भदासीव कूजति परपुष्टा। आलम्बिता नागदन्तेषु पंजरपरम्पराः। योध्यन्ते लावकाः। आलाप्यन्ते कपिंजलाः। प्रेष्यन्ते पञ्जरकपोताः। इतस्ततो विविधमणिचित्रित इवायं सहर्षं नृत्यन्रविकिरणसंतप्तं पक्षोत्क्षेपैर्विधुवतीव प्रासादं गृहमयूरः।......इतः पिंडीकृता इव चन्द्रपादाः पदगति शिक्षमाणानीव कामिनीनां पश्चात्परिभ्रमन्ति राजहंसमिथुनानि। एतेऽपरे वृद्धमहल्लका इव इतस्ततः संचरन्ति गृहसारसाः। आश्चर्यं भोः प्रसारणं कृतं गणिकया नानापक्षिसमूहैः। यत्सत्यं खलु नन्दनवनमिव मे गणिकागृहं प्रतिभासते।

वृक्षवाटिका—किस प्रकार पशुपक्षियों के साथ गणिका-गृह नन्दनवन बन रहा था, इसका आभास हो गया तो स्वयं गणिका को कहीं 'वृक्षवाटिका' में देखिये। यहाँ की शोभा है—

आश्चर्यं भोः अहो वृक्षवाटिकायाः सश्रीकता। अच्छरीतिकुसुमप्रस्तारा रोपितानेकपादपाः निरन्तरपादतलनिर्मिता युवतिजघनप्रमाणा पट्टदोला सुवर्णयूथिकाशेफालिकामालतीमल्लिकानवमल्लिकाकुरबकातिमुक्तकप्रभृतिकुसुमैः स्वयं निपतितैर्यत्सत्यं लघूकरोतीव नन्दनवनस्य सश्रीकताम्।···इतश्च उदयत्सूर्यसमप्रभैः कमलरक्तोत्पलैः सन्ध्यायते इव दीर्घिका। अपि च—

एषोऽशोकवृक्षो नवनिर्गमकुसुमपल्लवो भाति।
सुभट इव समरमध्ये घनलोहितपंकचर्चिकः ॥३१॥४॥

भाव यह कि वैभव के जीवन की यह झाँकी जिसे न मिली उसने 'सुगल' को ही सबका दाता मान लिया, अन्यथा उस समय की उज्जयिनी का जीवन किसी दिल्ली से कम न था। किन्तु प्रश्न तो आज भी किसी 'वसन्तसेना' का यही है—

गुणप्रवालं विनयप्रशाखं विश्रम्भमूलं महनीयपुष्पम्।
तं साधुवृक्षं स्वगुणैः फलाढ्यं सुहृद्विहंगाः सुखमाश्रयन्ति ॥३२॥४॥

जीर्णोद्यान—यही कारण है कि समृद्धि की यह झाँकी गणिका-भवन में ही सीमित रह जाती है और उज्जयिनी का प्रसिद्ध 'उद्यान' भी अपनी आभा को खो बैठता है। उस पर भी दरिद्रता की छाया काम कर जाती है। उसका स्वामी शकार आप ही कहता है—

एतमर्धपतितं प्राकारखंडमुल्लंघ्य गच्छामि।

कारण यही कि अब वहाँ उस पालक का राज्य है जिसके विषय मे इसी 'साधुवृक्ष' आर्यचारुदत्त का कथन है—

दुर्बलं नृपतेश्चक्षुर्नैतत्तत्त्वं निरीक्षते।
केवलं वदतो दैन्यमश्लाघ्यं मरणं भवेत् ॥३२॥६॥

शासन-व्यवस्था—तो देखना चाहिए कि वास्तव में उसकी शासन-व्यवस्था क्या थी जो उसका इस प्रकार पतन हुआ। सो राजा पालक का शासन उस समय कितना शिथिल हो रहा था, इसका आभास आप ही मिल जाता है। देखिए न, शर्विलक अपनी प्रेयसी मदनिका से किस अवज्ञा के साथ कहता है—

नृपतिरिह शठानां मादृशां किं नु कुर्यात् ॥२०॥४॥

और उसका साथी चन्दनक भी राजकुल की कैसी उपेक्षा करता है। अपने प्रतिद्वन्द्वी वीरक से अकड़ कर कहता है—

अरे राजकुलमधिकरणं वा व्रज। कि त्वया शुनकसदृशेन ?

भला जिस शासन में यह दशा है उसके 'तंत्रिल' वा 'नगररक्षाधिकृत' की, उसकी रक्षा भगवान ही न करे तो और कौन करे। चले तो थे विद्रोही आर्यक का पता लगाने और लात खा गये अपने साथी चंदनक की। कुछ न बना तो बमक कर बोल पड़े—

अरे अहं त्वया विश्वस्तो राजाज्ञप्ति कुर्वन्सहसा केशेषु गृहीत्वा पादेन ताडितः। तच्छृणु रे अधिकरणमध्ये यदि ते चतुरंगं न कल्पयामि तदा न भवामि वीरकः।

[अंक ६, २४ पू०]

किसी प्रकार विषाद में रात कटी तो प्रातःकाल अधिकरण में पहुँचे और अपना दुखड़ा कह सुनाया—

ही बन्धनभेदनसंभ्रम आर्यकमन्वेषयन् अपवारितं प्रवहणं व्रजतीति विचारं कुर्वन्नन्वेषयन् अरे त्वयाप्यालोकितं मयाप्यालोकितव्यम् इति भणन्नेव चन्दनमहत्तरकेण पादेन ताडितोऽस्मि। एतच्छ्रुत्वार्यमिश्राः प्रमाणम्।

[अंक ६, २४ पू०]

अधिकरण की दशा—आर्यमिश्र करते तो क्या करते, उनके शिर पर तो सवार था शकार। उसने पहले ही कस कर उनसे कह दिया था—

आः किं न दृश्यते मम व्यवहारः यदि न दृश्यते तदावुत्तं राजानं पालकं भगिनीपतिं विज्ञाप्य भगिनीं मातरं च विज्ञाप्यैतमधिकरणिकं दूरीकृत्यात्रान्यमधिकरणिकं स्थापयिष्यामि ।

[अंक ९, ६ पू०]

जहाँ का 'अधिकरण' इस ढग पर न्याय करता हो कि उसका 'अधिकरणिक' किसी बात पर किसी समय निकाला जा सकता हो, उसका भला ईश्वर के अतिरिक्त कौन करे। 'राष्ट्रिय' पहले भी राष्ट्र के कलंक रहे, पर ऐसे सिरचढ़े कभी नहीं कि किसी का पलड़ा ही उलट दें। जो भी हो इतना तो निर्विवाद है कि पालक के शासन में बात-बात में 'राजकुल' की धमकी दी जाती और 'अधिकरण' की घुडकी से काम निकाला जाता है। और लोकमत वा 'पंच-परमेश्वर' का नाम ही नहीं लिया जाता। प्रतीत होता है कि उसके क्रूर शासन में जन का जन से संपर्क घट गया था और सभी राजा की दुहाई दे अपना हित साधना चाहते थे। यहाँ तक कि कोई किसी को कुछ समझता ही न था। देखिये न वसन्तसेना की चेटी का कहना क्या है और क्या है इसका भाव भी—

स च सभिको राजवार्ताहारी न ज्ञायते कुत्र गत इति ।

[अंक ५, ३९ पू०]

तो क्या 'सभिक' भी 'राजवार्ताहारी' हुआ करता था और उस समय जीवन में 'द्यूत' का इतना महत्त्व था? कहा था, सबसे पहले 'द्यूतकर' ने ही तो कहा था—

राजकुलं गत्वा निवेदयावः ।

[अक २, १४ प०]

राजकुल—'राजकुल' की इतनी पुकार सचमुच कभी परस्पर को पनपने नहीं देती और 'राजव्यवहार' को खोखला भी कर देती है। इसी से हम देखते हैं कि उधर 'शकार' विट को धमकाता है और बडे भाव से कहता है—

मदीये पुष्पकरंडकजीर्णोद्याने वसन्तसेनां मारयित्वा कुत्र पलायसे । एहि मम आवुत्तस्याग्रतो व्यवहारं देहि ।

और फलतः वह विट सोचता भी है—

न युक्तमवस्थातुम्। भवतु। यत्रार्यशर्विलकचन्दनकप्रभृतयः सन्ति तत्र गच्छामि।

[अंक ८, ४३ पृ०]

फलतः विरोधियों का गहरा संघटन हो जाता है और सहसा वह घटना घटित हो जाती है जिसे कहते हैं राजपरिवर्तन। कारण, 'विट' ने ही तो कभी विदूषक से कहा था—

एष ते प्रणयो विप्र शिरसा धार्यते मया।
गुणशस्त्रैर्वयं येन शस्त्रवन्तोऽपि निर्जिताः ॥४५॥१॥

निदान 'गुणशस्त्र' के अभाव में पालक का वध हुआ और 'शकार' गुणशस्त्र की प्रेरणा से ही 'उपकारहत' किया गया। अन्यथा मिलता तो उसे भी प्राणदंड ही? पालक में इस 'गुण' का अभाव न होता तो उसका अधिकरणिक क्यों कहता कि अधिकरणिक को होना चाहिए—'राज्ञश्च कोपापहः'। और फलतः निर्णय क्यों कर देता—

शोधनक! यथाह राष्ट्रियः। भो राजपुरुषाः गृह्यतामयं चारुदत्तः।

[अंक ९, ३८ पृ०]

न्याय की विधि—शूद्रक के समय में राजव्यवहार किस ढंग पर चलता था इसका पूरा पूरा बोध चारुदत्त के इस कथन से हो जाता है—

चिन्तासक्तनिमग्नमन्त्रिसलिलं दूतोर्मिशंखाकुलं
पर्यन्तस्थितचारनक्रमकरं नागाश्वहिंस्राश्रयम्।
नानावाशककंकपक्षिनिचितं कायस्थसर्पास्पदम्
नीतिक्षुण्णतरं च राजकरणं हिंस्रैः समुद्रायते ॥१४॥९॥

इसमें निश्चय ही 'राजकरण' के अंग हैं—१ मंत्री, २ दूत, ३ चार, ४ हिंस्र, ५ वाशक और ६ कायस्थ। 'कायस्थ' को 'श्रेष्ठिकायस्थ' में पाते हैं तो मन्त्री को 'अधिकरणिक' के रूप में। 'दूत' 'शोधक' है ही। 'अश्व' का पता भी चल जाता है अधिकरणिक के इस कथन से—

वीरक ! पश्चादिह भवतो न्यायं द्रक्ष्यामः। य एषोऽधिकरणद्वार्यश्वस्तिष्ठति तमेनमारुह्य गत्वा पुष्पकरंडकोद्यानं दृश्यतामस्ति तत्र काचिद्विपन्ना स्त्री न वेति।

[अंक ६, २४ प०]

'वाशक' के रूप में 'शकार' है ही। पर कमी रह जाती है न 'चार' की ? स्मरण रहे, चारुदत्त पहले से ही शंकित था इसी 'चार' से। उसकी चिन्ता है—

ज्ञातो हि किं नु खलु बन्धनविप्रयुक्तो
मार्गागतः प्रवहणेन मयापनीतः।
चारेक्षणस्य नृपतेः श्रुतिमागतो वा
येनाहमेवमभियुक्त इव प्रयामि ॥६॥६॥

तो क्या इससे आप ही सिद्ध नहीं हो जाता कि इसी 'चारेक्षण' के अभाव में राजा पालक का अंत हुआ ? निश्चय ही यदि वह चारचक्षु से देखता तो शर्विलक की चेष्टाओं से अनभिज्ञ न रहता और 'यज्ञवाट' में किसी आर्यक की बलि न बनता। और आर्यचारुदत्त को भी इस प्रकार का प्राणदंड तो न मिलता।

जो हो, यहाँ उलझन की बात एक ही है। चारुदत्त इसी के आगे सशंक हो यही कहता है—

रूक्षस्वरं वाशति वायसोऽयममात्यभृत्या मुहुराह्वयन्ति।
सव्यं च नेत्रं स्फुरति प्रसह्य ममानिमित्तानि हि खेदयन्ति॥१०।६॥

अमात्यभृत्य—तो 'अमात्यभृत्य' का अर्थ क्या ? सो भी बहुवचन में ? 'शोधनक' तो साथ ही है। अत. 'मुहुराह्वयन्ति' का प्रयोग उसके लिए हो नहीं सकता। तो क्या यह चारुदत्त के चित्त की आकुलता तो नहीं है जो उसको ऐसा भासित हो रहा है ? अधिकरणिक ने तो बहुत सोच कर शोधनक से कहा था—

भद्र शोधनक गच्छ। आर्यचारुदत्तं स्वैरमसंभ्रान्तमनुद्विग्नं सादरमाह्वय प्रस्तावेन—अधिकरणिकस्त्वां द्रष्टुमिच्छति इति।

किंतु आर्यचारुदत्त के लिए यही क्या कम था कि 'अधिकरण' से 'आह्वान' आया। फलतः वह चिंता में पड़ गया—

परिज्ञातस्य मे राज्ञा शीलेन च कुलेन च ।
यत्सत्यमिदमाह्वानमवस्थामभिशंकते ।।८।।६।।

अस्तु, कहा जा सकता है कि तथ्यतः यह उसके चित्त की 'अभिशंका' ही है जो उसे ऐसा भान हो रहा है कि—

अमात्यभृत्या मुहुराह्वयन्ति ।

इसी से शोधनक ने उससे चट कहा भी है—

एत्वेत्वार्यः स्वैरमसंभ्रान्तम् ।

किंतु तो भी इस 'अमात्यभृत्य' का अर्थ समझना ही होगा। कारण, यह भी तो 'आन्ध्रभृत्य' और 'कण्वभृत्य' की भाँति कुछ भेद से भरा शब्द दिखायी देता है। स्मरण रहे, 'व्यवहार' अंक के आरंभ में ही 'शोधनक' कहता है—

आज्ञप्तोऽस्म्यधिकरणभोजकैः—अरे शोधनक व्यवहारमंडपं गत्वासनानि सज्जीकुरु इति । तद्यावदधिकरणमंडपं सज्जितुं गच्छामि ।

इसमें तो संदेह नहीं कि 'अधिकरणभोजक' भी बहुवचन है और है 'अमात्यभृत्याः' भी बहुवचन ही। तो क्या दोनों को पर्याय मान लेना ठीक न होगा? होगा तो, पर इससे उलझन दूर कहाँ होगी? निवेदन है—होगी। कारण, उसी शोधनक का तो यह भी कहना है—

विविक्तः कारितो मयाधिकरणमंडपः । विरचितानि मयासनानि । तद्यावदधिकरणिकानां पुनर्निवेदयामि ।

[अंक ६, आरंभ]

अस्तु, सरलता से समझा जा सकता है कि 'अमात्यभृत्य,' 'अधिकरणभोजक' एवं 'अधिकरणिक' में कोई भेद नहीं। बहुवचन का रहस्य यह माना जा सकता है कि वस्तुतः 'श्रेष्ठि' और 'कायस्थ' के साथ बैठकर विचार करना ही उस समय 'व्यवहार' को इष्ट था, और तीनों की सम्मति से ही व्यवहार निर्णय होता था। इसके अतिरिक्त आदर के कारण भी इसका प्रयोग ठीक समझा जा सकता है। अत एव सभी दृष्टियों से विचार करने पर इसकी साधुता

में संदेह करने का कोई कारण नहीं रह जाता और न यही कहने की आवश्यकता रह जाती कि इसका प्रयोग चिन्त्य है।

शासन में प्रमाद—'अमात्यभृत्या' की पूरी जानकारी के लिये यह जान लेना भी आवश्यक है कि यही 'चारुदत्त' 'अधिकरण' में पहुँचकर कहता है—

भोः अधिकृतेभ्यः स्वस्ति। हंहो नियुक्ताः अपि कुशलं भवताम्।

यहाँ 'अधिकृत' और 'नियुक्त' दो शब्द और आ गए। इनका भी सांकेतिक अर्थ कुछ होगा ही। इस प्रकार हम देखते हैं कि उस समय की शासन-व्यवस्था की जानकारी के लिए यह अंक बड़े महत्त्व का है और पूरा प्रकरण ही इस दृष्टि से समूचे वाङ्मय में अनुपम तथा अद्वितीय है। किंतु संकट की बात यह है कि यह स्वस्थ रूप में नहीं हो पाता और 'राष्ट्रियश्याल' के दबाव के कारण इसका रूप बिगड़ जाता है। 'वसन्तसेना मारिता' की ध्वनि कान में पड़ी नहीं कि 'अधिकरणिक' फूट पड़ा—

अहो नगररक्षिणां प्रमादः।

और हम देखते है कि यहां 'प्रमाद' पालक-शासन में सर्वत्र काम करता है। यहाँ तक कि 'पुष्पकरंडकजीर्णोद्यान' जैसे सर्वस्थान में किसी शव का पड़ा रह जाना अति सामान्य है। यह कोई साधारण बात नहीं कि स्वयं नगररक्षाधिकृत 'वीरक' आकर अधिकरण में कहता है—

दृष्टं च मया स्त्रीकलेवरं श्वापदैर्विलुप्यमानम्।

[अंक ९, २४ प०]

व्यवहार-विधि—ऐसी दशा मे शासन के साधु रूप का दर्शन कहाँ तक संभव है। तो भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि उस समय की रूप-रेखा इसमें विद्यमान है। व्यवहार के विषय में यह टाँकने की बात है कि अधिकरणिक की दृष्टि में वह 'द्विविध' होता है—१ वाक्यानुसार और २—अर्थानुसार। 'वाक्यानुसार' तो वह अर्थी और प्रत्यर्थी के द्वारा बन जाता है पर 'अर्थानुसार' होता है वह अधिकरणिक की बुद्धि से। स्वयं अधिकरणिक का मत है—

वाक्यानुसारेण अर्थानुसारेण च। यस्तावद्वाक्यानुसारेण स खल्वर्थिप्रत्यर्थिभ्यः। यश्चार्थानुसारेण स चाधिकरणिकबुद्धिनिष्पाद्यः।

[अंक ९, ७ पू०]

इसीलिए किसी 'कार्य' के 'अर्थ' का 'निष्पादन' इतना कठिन और दुरूह होता है। चारुदत्त ने 'पुष्पकरंडकजीर्णोद्यान' की 'सश्रीकता' की प्रशंसा सुनकर विदूषक से कहा था—

वणिज इव भान्ति तरवः पण्यानीव स्थितानि कुसुमानि।
शुल्कमिव साधयन्तो मधुकरपुरुषाः प्रविचरन्ति ॥१॥७॥

पुलिस—देखने में यह एक अति सामान्य बात है, किन्तु वस्तुतः इसकी चोट बड़ी गहरी है। 'मधुकर' को 'पुरुष' के रूप में दिखाने का प्रयोजन क्या है ? यह 'पुरुष' और कुछ नहीं 'पुलिस' है। पुलिस का काम जब कर उगाहने का रह गया तब राष्ट्र में जो कुछ हो जाय थोड़ा है। फलतः इसी जीर्णोद्यान में क्या नहीं हो जाता ? वसन्तसेना मारी जाती और पेड़ से दबी पड़ी नारी को 'श्वापद' नोच खाते हैं। विट ने शकार को सुझाया था—

अमी हि वृक्षाः फलपुष्पशोभिताः कठोरनिष्पन्दलतोपवेष्टिताः।
नृपाज्ञया रक्षिजनेन पालिताः नराः सदारा इव यान्ति निर्वृतिम् ॥७॥८॥

किन्तु 'रक्षिजन' का ध्यान शकार को कब रहा ? वसन्तसेना के वध के उपरांत भी वह डरा तो किसी 'पुरुष' से नहीं अपितु किसी 'श्रमण' से। उसका अवसाद है—

येन येन गच्छामि मार्गेण तेनैवैष दुष्टश्रमणको गृहीतकषायोदकं चीवरं गृहीत्वागच्छति। एष मया नासां छित्त्वा वाहितः कृतवैरः कदापि मां प्रेक्ष्यैतेन मारितेति प्रकाशयिष्यति। तत्कथं गच्छामि।

[अंक ८, ४५ पू०]

चिन्ता दूर हुई और जाने का मार्ग भी निकल आया—

एतमर्धपतितं प्राकारखंडमुल्लंघ्य गच्छामि।

कुशासन—शकार की यह लीला शासक की किस व्यवस्था का परिचय देती है ? उसका संकल्प तो देखिये—

चारुदत्तविनाशाय करोमि कपटं नवम्।
नगर्यां विशुद्धायां पशुघातमिव दारुणम् ॥४४॥८॥

'गोवध', 'श्रमण' और 'ब्राह्मण' के प्रति उस समय की भावना क्या थी, इसको दृष्टि में लाने के पहले ही हमें भली भाँति जान रखना चाहिए कि प्रकरण में सर्वत्र 'राजकुल' वा 'अधिकरण' का आतंक छाया हुआ है। जान पड़ता है कि पालक के राज्य में 'समाज' की सारी शृंखला उखड़ चुकी थी और राजा की दृष्टि में लोकजीवन का कोई महत्त्व ही न रह गया था परिणाम यह हुआ कि सबसे पहले द्यूतकर दरिद्र दर्दुरक को निश्चय करना पड़ा ऐसे कुशासन के प्रतिकूल—

प्रधानसभिको माथुरो मया विरोधितः तन्नात्र युज्यते स्थातुम्। कथितं च मम प्रियवयस्येन शर्विलकेन यथा किल आर्यकनामा गोपालदारकः सिद्धादेशेन समादिष्टो राजा भविष्यति इति। सर्वश्चास्मद्विधो जनस्तमनुसरति। तदहमपि तत्समीपमेव गच्छामि।

[अंक २, १४ पृ०]

सुशासन—क्यों न शोषितों की मण्डली जुटे जब 'सभिक' भी ऐसा क्रूर बना कि 'सुवर्ण' के सामने 'मानव' की सारी प्रार्थना को ठुकरा दिया? मानव मोल बिका? जो हो, जन-समाज ने किस ढब से ऐसे कुशासन का अंत किया इसे हम पहले ही जान चुके हैं। निदान देखना है अब इसी कुशासित जन-समाज को। सो उसके नेता का अभिमान है—

नो मुष्णाम्यबलां विभूषणवतीं फुल्लामिवाहं लतां
विप्रस्वं न हरामि काञ्चनमथो यज्ञार्थमभ्युद्धृतम्।
धात्र्युत्संगगतं हरामि न तथा बालं धनार्थी क्वचि—
त्कार्याकार्यविचारिणी मम मतिश्चौर्येऽपि नित्यं स्थिता ॥६॥४॥

स्थितमति शर्विलक को अपने 'कर्म' तथा 'कौशल' का बड़ा ध्यान है। वह गो-ब्राह्मण-भक्त जो है। परंतु यहाँ उसके शील और चरित से कुछ नहीं लेना है। यहाँ तो दिखाना है कुछ और ही। और वह यही कि इस लोकनेता को सफलता मिली किस परिस्थिति के कारण। सो चारुदत्त का विषाद है—

वैदेश्येन कृतो भवेन्मम गृहे व्यापारमभ्यस्यता
नासौ वेदितवान्धनैर्विरहितं विस्रब्धसुप्तं जनम् ।
दृष्ट्वा प्राङ्महतीं निवासरचनामस्माकमाशान्वितः
सन्धिच्छेदनखिन्न एव सुचिरं पश्चान्निराशो गतः ॥२३॥३॥

किन्तु हम जानते हैं कि शर्विलक निराश जानेवाला प्राणी नहीं। वह जग को जानता जो है। फलतः उसकी योजना सफल होती है और अंत में सब लोग उसके शासन में आ जाते हैं। चारुदत्त थोड़े मे सब कुछ कह देता है। देखिये—

सुवृत्तः अदासो भवतु। ते चाण्डालाः सर्वचाण्डालानामधिपतयो भवन्तु। चन्दनकः पृथिवीदंडपालको भवतु। तस्य राष्ट्रियश्यालस्य यथैव क्रिया पूर्वमासीत् वर्तमाने तथैवास्यास्तु।

[अंक १०, अंत]

व्यवस्था—इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्यपरिवर्तन के साथ ही बहुत कुछ परिवर्तन व्यवस्था में भी हो जाता है; और आर्यक का शासन सुव्यवस्थित रूप से चलता है। चलता भी क्यों नहीं ? किसी चांडाल ने कहा भी तो था—

अरे भणितोऽस्मि पित्रा स्वर्गं गच्छता यथा—पुत्र वीरक यदि तव बध्यपालिका भवति मा सहसा व्यापादयसि वध्यम्।

और कारण यह बताया था कि—

कदापि कोऽपि साधुरर्थं दत्त्वा वध्यं मोचयति। कदापि राज्ञः पुत्रो भवति तेन वृद्धिमहोत्सवेन सर्ववध्यानां मोक्षो भवति। कदापि हस्ती बन्धं खंडयति तेन संभ्रमेण वध्यो मुक्तो भवति। कदापि राजपरिवर्तो भवति तेन सर्ववध्यानां मोक्षो भवति।

[अंक १०, ३२ प०]

दंड-विधान—'राजपरिवर्तन' की बात सच निकली, पर वध्य चारुदत्त का मोक्ष हुआ किसी और ही कारण से। मानव हृदय किस उदारता और

उल्लास से कार्य करता जा रहा है उसका यह एक दिव्य प्रमाण है। चांडाल भी प्राणदंड को ठीक नहीं समझता, यह भी इससे व्यक्त ही है। किंतु कठोर से कठोर दंड उस समय दिये जाते थे यह भी प्रकट ही है। लीजिए, क्रान्तिकारी शर्विलक शकार के विषय में क्रुद्ध कर चारुदत्त से पूछता है—

आकर्षन्तु सुबद्ध्वैनं श्वभिः संखाद्यतामथ।
शूले वा तिष्ठतामेष पाट्यतां क्रकचेन वा॥५४॥१०॥

कुत्ते से नोचवा देना और खड़े आरे से चीर देना कोई सामान्य दंड नहीं है। इस दारुण व्यथा का अनुमान ही हृदय को कँपा देता है। उसको देख सकना तो आज कठिन ही है। तो भी उस समय ऐसे कठोर दंड दिये ही जाते थे। दर्दुरक का भी तो कथन है—

यः स्तब्धं दिवसान्तमानतशिरा नास्ते समुल्लम्बितो
यस्योद्घर्षणलोष्टकैरपि सदा पृष्ठे न जातः किणः।
यस्यैतच्च न कुक्कुरैरहरहर्जङ्घान्तरं चर्व्यते
तस्यात्यायतकोमलस्य सततं द्यूतप्रसंगेन किम्॥१२॥२॥

साथ ही अलग-अलग मंडली का कुछ अलग-अलग दंड-विधान भी था। तभी तो संवाहक किस विषाद में कहता है—

कथं द्यूतकरमण्डल्या बद्धोऽस्मि। कष्टम्। एषोऽस्माकं द्यूतकराणामलंघनीयः समयः। तस्मात्कुतो दास्यामि।

[अंक २, ६ प०]

वध्य-भूषा—मृत्यु को विवाह कहने की प्रथा सूफियों में कब से चली, कहा नहीं जा सकता; किन्तु यहाँ देखा जा सकता है कि किस प्रकार शूद्रक ने 'वध्यपटह' को 'विवाहपटह' बना दिया है। 'वध्य' का शृंगार भी तो देखिये। कहना चारुदत्त का ही है—

नयनसलिलसिक्तं पांशुरूक्षीकृतांगं
पितृवनसुमनोभिर्वेष्टितं मे शरीरम्।
विरसमिह रटन्तो रक्तगन्धानुलिप्तं
बलिमिव परिभोक्तुं वायसास्तर्कयन्ति॥३॥१०॥

'वायस' इस भूषा में चारुदत्त को 'बलि' समझते हैं तो ठीक ही करते हैं। प्रणय की 'बलिवेदी' पर ही तो उसका बलिदान हो रहा है? और भी—

सर्वगात्रेषु विन्यस्तै रक्तचन्दनहस्तकैः।
पिष्टचूर्णावकीर्णश्च पुरुषोऽहं पशूकृतः ॥५॥१०॥

यहाँ तक तो वध-शृंगार की बात रही। अब प्रस्थान का रूप देखिये—

अंसेन बिभ्रत्करवीरमालां स्कन्धेन शूलं हृदयेन शोकम्।
आघातमद्याहमनुप्रयामि शामित्रमालब्धुमिवाध्वरेऽजः ॥२१॥१०॥

'रक्तचंदन', 'करवीरमाला' और 'पिष्टचूर्ण' से सजे शरीर पर 'शूल' कितना कष्टप्रद होगा इसे 'हृदय' के 'शोक' से देखा जा सकता है। वध्य का शृंगार होता भी था मरघट के फूल से ही न?

प्रसाधन—अच्छा, वध्य नायक का अभिसार-वेष गोचर हो गया तो उसकी अभिसारिका की भूषा भी देख लें। विट छेड़ता है—

किं त्वं कटीतटनिवेशितमुद्वहन्ती
ताराविचित्ररुचिरं रशनाकलापम्।
वक्त्रेण निर्मथितचूर्णमनःशिलेन
त्रस्ता द्रुतं नगरदैवतवत्प्रयासि ॥२७॥१॥

कारण यह कि—

कामं प्रदोषतिमिरेण न दृश्यसे त्वं
सौदामिनीव जलदोदरसन्धिलीना।
त्वां सूचयिष्यति तु माल्यसमुद्भवोऽयं
गन्धश्च भीरु! मुखराणि च नूपुराणि ॥३५॥१॥

इतने से ही जाना जा सकता है कि उस समय के प्रसाधन क्या और कैसे थे; और किसी नारी की शोभा किस अलंकरण से समझी जाती थी। 'कुसुमाढ्य केश' का तो कहना ही क्या? आज भी दक्षिण की वह विशेषता है। कभी उज्जयिनी में भी उसका चलन था। सबसे बढ़कर बात यह है कि शूद्रक की दृष्टि में सजी नारी फूली लता की भाँति है। उस समय आभूषण पर कितना काम होता था, इसका भान हो सकता है इस छन्द से—

विचलति नूपुरयुगलं छिद्यन्ते च मेखला मणिखचिताः ।
वलयाश्च सुन्दरतरा रत्नांकुरजालप्रतिबद्धाः ।।१६।।२।।

व्यर्थ होगा सारा प्रयास यदि आप न देखेंगे शकार के केशविन्यास को। वह आप ही कह देता है—

क्षणेन ग्रन्थिः क्षणजूटको मे क्षणेन बालाः क्षणकुन्तला वा ।
क्षणेन मुक्ताः क्षणमूर्ध्वचूडाश्चित्रो विचित्रोऽहं राजश्यालः ।।२।।६।।

संगीत—भला गणिका जिसकी नायिका हो उसमें सगीत का अभाव कैसा? विट के इस कथन को तो लें। कहाँ का कैसा अप्रस्तुत-विधान है, और क्यो?

विट किस वेदना से वसन्तसेना से कहता है—

प्रसरसि भयविक्लवा किमर्थं प्रचलितकुण्डलघृष्टगंडपार्श्वा ।
विटजननखघट्टितेव वीणा जलधरगर्जितभीतसारसीव ।।२४।।१।।

'वाद्य' की इस तन्मयता के साथ 'नृत्य का यह भाव—

किं त्वं भयेन परिवर्तितसौकुमार्या
नृत्यप्रयोगविशदौ चरणौ क्षिपन्ती ।
उद्विग्नचंचलकटाक्षविसृष्टदृष्टि—
र्व्याधानुसारचकिता हरिणीव यासि ।।१७।।१।।

रही 'गीति' की बात, सो उसकी भी स्थिति है—

इयं रंगप्रवेशेन कलानां चोपशिक्षया
वंचनापंडितत्वेन स्वरनैपुण्यमाश्रिता ।।४२।।१।।

गणिका वसन्तसेना की तो बात ही निराली ठहरी। भावरेभिल की कुशलता देखिए। आर्यचारुदत्त का उल्लास है—

वयस्य ! सुष्ठु खल्वद्य गीतं भावरेभिलेन । न च भवान्परितुष्टः ।
रक्तं च नाम मधुरं च समं स्फुटं च
भावान्वितं च ललितं च मनोहरं च ।
किवा प्रशस्तवचनैर्बहुभिर्मदुक्तै—

रन्तर्हिता यदि भवेद्वनितेति मन्ये ।।४।।३।।

अपि च—

तं तस्य स्वरसंक्रमं मृदुगिरः श्लिष्टं च तन्त्रीस्वनं
वर्णानामपि मूर्च्छनान्तरगतं तारं विरामे मृदुम् ।
हेलासंयमितं पुनश्च ललितं रागद्विरुच्चारितं
यत्सत्यं विरतेऽपि गीतसमये गच्छामि शृण्वन्निव ।।५।।३।।

'भावरेभिल' के गीत गुण की कितनी प्रशंसा है । विदूषक को तो भी वह नहीं भाती ! उधर चेट का अभिमान है—

वंशं वादयामि सप्तच्छिद्रं सुशब्दं वीणां वादयामि सप्ततंत्रीं नदन्तीम् ।
गीतं गायामि गर्दभस्यानुरूपं को मे गाने तुम्बुरुर्नारदो वा ॥११॥५॥

फिर भी संगीतज्ञ की अवस्था अच्छी नहीं । सूत्रधार की चिन्ता 'नास्ति किल प्रातराशोऽस्माकं गृहे' से उत्पन्न होती है, और शर्विलक चारुदत्त के भवन में वाद्यपुंज देखकर सोचता है—

अये, कथं मृदंगः । अयं दर्दुरः । अयं पणवः । इयमपि वीणा । एते वंशाः। अमी पुस्तकाः । कथं नाट्याचार्यस्य गृहमिदम् । अथवा भवन-प्रत्ययात्प्रविष्टोऽस्मि । तत्कि परमार्थदरिद्रोऽयम् उत राजभयाच्चौरभयाद्वा भूमिष्ठं द्रव्यं धारयति ।

[अंक ३, १८ प०]

हाँ, वसन्तसेना के चतुर्थ प्रकोष्ठ में इसकी चहल-पहल अच्छी है । वहाँ का कहना ही क्या ? वह तो 'नगरश्री' है न ?

कला—'संगीत' के अतिरिक्त 'चित्र' का भी जीवन में बड़ा महत्त्व है । 'वीणा' की प्रशंसा में चारुदत्त ने कहा था—

वीणा हि नामासमुद्रोत्थितं रत्नम् । कुतः—
उत्कंठितस्य हृदयानुगुणा वयस्या
संकेतके चिरयति प्रवरो विनोदः ।
संस्थापना प्रियतमा विरहातुराणां
रक्तस्य रागपरिवृद्धिकरः प्रमोदः ।।३।।३।।

सब सही, पर प्रिय का चित्र बनाने में जो आनंद आता है वह अन्यत्र कहाँ? देखिए न संगीतपंडिता वसन्तसेना स्वयं इसी विनोद में लीन है—

वसन्तसेना—चेटि मदनिके! अपि सुसदृशीयं चित्राकृतिरार्य-चारुदत्तस्य ?

मदनिका—सुसदृशी।

वसन्तसेना—कथं त्वं जानासि ?

मदनिका—येनार्यायाः सुस्निग्धा दृष्टिरनुलग्ना।

[अंक ४, आरंभ]

हो भी क्यों नहीं ? वीणा 'असमुद्रोत्थितरत्न' है तो चित्र 'हृदयोत्थित'। तो भी हृदय से 'असमुद्र' की तुलना क्या ? उधर चारुदत्त का इसमें इतना अनुराग है कि मेघ पर दृष्टि पड़ी तो वहाँ भी चित्र ही गोचर हुआ। और वहाँ कुछ और ही कला का बोध हो गया—

संसक्तैरिव चक्रवाकमिथुनैर्हंसैः प्रडीनैरिव
व्याविद्धैरिव मीनचन्द्रमकरैर्हर्म्यैरिव प्रोच्छ्रितैः।
तैस्तैराकृतिविस्तरैरनुगतैर्मेघैः समभ्युन्नतैः
पत्रच्छेद्यमिवेह भाति गगनं विश्लेषितैर्वायुना ॥५॥५॥

'पत्रच्छेद्य' से पता चल जाता है कि पहले किस प्रकार पत्र को छेद छेद कर चित्र बनाते थे। साथ ही 'चित्रभित्ति' का भी प्रचलन था। फलक पर ही नहीं, भित्ति पर भी चित्र बनते थे—

स्तम्भेषु प्रचलितवेदिसंचयान्तं
शीर्णत्वात्कथमपि धार्यते वितानम्।
एषा च स्फुटितसुधाद्रवानुलेपा-
त्संक्लिन्ना सलिलभरेण चित्रभित्तिः ॥५०॥५॥

भित्ति पर चित्र बने थे, पर वर्षा के कारण पानी टूटी छत से रसता और उन्हें क्लिन्न कर देता था। यहाँ स्थापत्य कला का भान होता है और शिल्प भी ओझल नहीं रहता। अस्तु, प्रत्यक्ष ही चित्रकला की नाईं अनेक अन्य कलाओ का भी जहाँ-तहाँ उल्लेख है। 'प्रतिमा' वा स्थापत्यकला के प्रसंग में भी भूलना न होगा 'द्यूतकर' और 'माथुर' का यह वार्तालाप—

द्यूतकरः—कथं काष्ठमयी प्रतिमा ?
माथुरः—अरे न खलु न खलु । शैलप्रतिमा ।

[अंक २, ५ पू०]

साथ ही वसन्तसेना और संवाहक की यह बातचीत भी समय पर आँख देती है—

संवाहक—संवाहकस्य वृत्तिमुपजीवामि ।
वसन्तसेना—सुकुमारा खलु कला शिक्षितार्येण ।
संवाहक—आर्ये कलेति शिक्षिता । आजीविकेदानीं संवृत्ता ।

[अंक २, १४ प०]

कला कला के लिए है अथवा उसका कुछ उपयोग है । इसका इससे और अच्छा तथा सच्चा समाधान और क्या होगा ? कला सीखी तो अभिरुचि के कारण जाती है, पर गुण हो जाने पर समय पड़ने पर उससे पेट भी भरा जाता है ।

काम-कला—सब तो हुआ, पर काम-कला पर कुछ कहे बिना प्रकरण का पेट कैसे भर सकता है ? निदान वसंतसेना से विट का कहना है—

सकलकलाभिज्ञाया न किंचिदिह तवोपदेष्टव्यमस्ति । तथापि स्नेहः प्रलापयति । अत्र प्रविश्य कोपोऽत्यन्तं न कर्तव्यः ।

यदि कुप्यसि नास्ति रतिः कोपेन विनाथवा कुतः कामः ।
कुप्य च कोपय च त्वं प्रसीद च त्वं प्रसादय च कान्तम् ॥३४॥५॥

उधर दूसरे विट का निर्देश है—

स्त्रीभिर्विमानितानां कापुरुषाणां विवर्धते मदनः ।
सत्पुरुषस्य स एव तु भवति मृदुर्नैव वा भवति ॥६॥८॥

निष्कर्ष यह निकला कि रति और कोप की लीला जाने बिना इस क्षेत्र में उतरना ठीक नहीं । शूद्रक ने इस विषय को लेकर एक 'भाण' ही रच डाला है, जिसकी चर्चा समय पर होगी । इस प्रसंग मे अभी यह मंगल-कामना ही पर्याप्त है—

साटोपकूटकपटानृतजन्मभूमेः
शाठ्यात्मकस्य रतिकेलिकृतालयस्य ।
वेश्यापणस्य सुरतोत्सवसंग्रहस्य
दाक्षिण्यपण्यसुखनिष्क्रयसिद्धिरस्तु ॥३६॥४॥

कारण, इसी का परिणाम है सतीत्व के साथ—

आर्ये वसन्तसेने ! परितुष्टो राजा भवतीं वधूशब्देनानुगृह्णाति ।

[अंक १०, ५८ प०]

पाक-विद्या—सब कलाओं की चर्चा नीरस होगी यदि पाक-कला का भी कुछ बोध न हो । 'पाक' की स्थिति का पता बहुत कुछ वसन्तसेना के 'महानस' से हो गया है । तो भी सूत्रधार का आश्चर्य तो देखिए—

किं नु खल्वस्माकं गृहेऽन्यदिव संविधानकं वर्तते । आयामित-तण्डुलोदकप्रवाहरथ्या लोहकटाहपरिवर्तनकृष्णसारा कृतविशेषकेव युवत्यधिकतरं शोभते भूमिः । स्निग्धगन्धेनोद्दीप्यमानेवाधिकं बाधते मां बुभुक्षा । तत्किं पूर्वार्जितं निधानमुत्पन्नं भवेत् । अथवाहमेव बुभुक्षातोऽन्नमयं जीवलोकं पश्यामि । नास्ति किलःप्रातराशो स्माकं गृहे । प्राणाधिकं बाधते मां बुभुक्षा । इह सर्वं नवं संविधानकं वर्तते । एका वर्णकं पिनष्टि, अपरा सुमनसो गुम्फति ।

[अंक १, ८ प०]

सूत्रधार की जिज्ञासा के शमन के पहले ही विदूषक का ठाट भी देख लीजिए । दिनो का फेर ठहरा—

यो नामाहं तत्रभवतश्चारुदत्तस्य ऋद्ध्याहोरात्रं प्रयत्नसिद्धैरुद्गारसुरभि-गन्धिभिर्मोदकैरेवाशितोऽभ्यन्तरचतुःशालकद्वार उपविष्टो मल्लकशतपरि-वृतश्चित्रकर इवांगुलीभिः स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वापनयामि, नगरचत्वरवृषभ इव रोम-न्थायमानस्तिष्ठामि ।...

[अंक १, ९ पू०]

भोज्य पदार्थ—इन अवतरणों से इतना तो प्रगट हो गया कि उस समय

भी कुछ ठाट का भोजन हुआ करता था और बनता भी था बड़े विधि-विधान से। क्या क्या था, कौन कहे ? उनमें से कुछ का परिचय है—

गुडौदनं घृतं दधि तंडुला आर्येणात्तव्यं रसायनं सर्वमस्तीति ।

[अंक १, ८ पृ०]

किन्तु यह तो 'उपवास' का भोजन ठहरा। नहीं तो वैसे तो शकार के घर की स्थिति कुछ और ही है। 'चेट' वसन्तसेना से कहता है—

रमय च राजवल्लभं ततः खादिष्यसि मत्स्यमांसकम् ।
एताभ्यां मत्स्यमांसाभ्यां श्वानो मृतकं न सेवन्ते ॥२६॥१॥

एवं 'शकार' विदूषक को सचेत करता है—

कूष्मांडी गोमयलिप्तवृन्ता शाकं च शुष्कं तलितं खलु मांसम् ।
भक्तं च हैमन्तिकरात्रिसिद्धं लीनायां च वेलायां न खलु भवति पूति ॥५१॥१॥

यह तो रहा शकार का पाकविज्ञान और उससे ज्ञात हुआ कि कौन सा पाक कब नहीं बिगड़ता। अब उसका मध्यान्ह का भोजन सुनिये—

मांसेन तिक्ताम्लेन भक्तं शाकेन सूपेन समत्स्यकेन ।
भुक्तं मयात्मनो गेहे शालीयकूरेण गुडौदनेन ॥२६॥१०॥

उसने समझ लिया कि उसके घर का भोजन जैसा स्वादिष्ट है वैसा अन्यत्र का कहाँ। इसी से वसन्तसेना से कहता भी है—

जदिच्छशे लम्बदशाविशालं पावालअं शुत्तशदेहि जुत्तम् ।
मंशं च खादुं तह तुश्टि कादुं चुहू चुहू चुक्कु चुहू चुहूत्ति ॥२२॥८॥

इसी की संस्कृत है—

यदीच्छसि लम्बदशाविशालं प्रावारकं सूत्रशतैर्युक्तम् ।
मांसं च खादितुं तथा तुष्टि कर्तुं चुहू चुहू चुक्कु चुहू चुहू इति ॥

किन्तु वसन्तसेना के यहाँ भी इन द्रव्यों का अभाव नहीं। वहाँ भी हमने देख लिया है पंचम प्रकोष्ठ में—

अयमपरः पटच्चरमिव हतपशूदरपेशिं धावति रूपिदारकः ।

उपयोग—भोजन जीभ और पेट के लिए ही नहीं होता। उसका कंठ से भी कुछ लगाव है। सुकंठ होने के विचार से कुछ द्रव्यों का सेवन किया जाता है। शकार गर्व के साथ तभी तो कहता है—

हिंगूज्ज्वलं दत्तमरीचचूर्णं व्याघारितं तैलघृतेन मिश्रम्।
भुक्तं मया पारभृतीयमांसं कथं नाहं मधुरस्वर इति ॥१४॥८॥

'मधुर स्वर' बनने का यह उपाय कहाँ तक साधु है, हम नहीं जानते; परंतु इतना कह देना ठीक समझते हैं कि 'शकार' की बात सुनने की है, करने की नहीं। भोजन को देखकर मानव का स्वर भले न बदले पर बिल्ली का तो बदल जाता है न? लीजिये शकार की साखी है—

'भाव भाव यथा दधिशरपरिलुब्धाया मार्जारिकायाः स्वरपरिवृत्तिर्भवति तथा दास्याः पुत्र्या स्वरपरिवृत्तिः कृता।

[अंक १, ४१ प०]

शकार भोजन का चाहे जैसा बखान करे, पर चारुदत्त का विषाद तो यह है—

यासां बलिः सपदि मद्गृहदेहलीनां
हंसैश्च सारसगणैश्च विलुप्तपूर्वः।
तास्वेव संप्रति विरूढ़तृणांकुरासु
बीजाञ्जलिः पतति कीटमुखावलीढः ॥६॥१॥

रहे, पर उससे अब सध क्या सकता है? इसी से तो 'भाण' में भी—

अपि चैषा स्वभवनवलभीपुटस्थं विक्षिप्तबलिप्रणयोपस्थितं स्वागतव्याहारेणाभिनन्दति वायसम्।

[प०, पृ० १८]

देवकार्य—जी, मृच्छकटिक में 'देवकार्य' का बड़ा महत्त्व है। यहां तक कि उसका सूत्रपात यहीं से होता है, और इसीको लेकर 'सूत्रधार' तथा 'नटी' में कुछ ठन भी जाती है। आगे बढ़ते है तो चारुदत्त तथा विदूषक में इसी विषय को लेकर विवाद होता दिखायी देता है। देखिये—

चारुदत्तः—तद्वयस्य कृतो मया गृहदेवताभ्यो बलिः। गच्छ। त्वमपि चतुष्पथे मातृभ्यो बलिमुपहर।

विदूषकः—न गमिष्यामि ।

चारुदत्तः—किमर्थम् ।

विदूषकः—यत एवं पूज्यमाना अपि देवता न ते प्रसीदन्ति तत्को गुणो देवेष्वर्चितेषु ।

चारुदत्तः—वयस्य मा मैवम् । गृहस्थस्यनित्योऽयं विधिः ।

तपसा मनसा वाग्भिः पूजिता बलिकर्मभिः ।
तुष्यन्ति शमिनां नित्यं देवताः किं विचारितैः ॥१६॥१॥

तद्गच्छ मातृभ्यो बलिमुपहर ।

इस 'किं विचारितैः' से विदूषक को संतोष हो गया, पर किसी जिज्ञासु का मुँह आज इससे बंद नहीं हो सकता । न हो, चारुदत्त की धुन तो इससे नहीं रुकती । वह फिर भी विदूषक से कहता है—

वयस्य समाप्तजपोऽस्मि । तत्सांप्रतं गच्छ । मातृभ्यो बलिमुपहर ।

विदूषक अधिक आग्रह के कारण आज्ञा में लीन हुआ नहीं कि चारुदत्त को वह वसन्तसेना प्राप्त हुई जिसके कारण उसकी दशा कुछ और ही हो रही थी । कैसी वेदना भरी वाणी है—

यया मे जनितः कामः क्षीणे विभवविस्तरे ।
क्रोधः कुपुरुषस्येव स्वगात्रेष्वेव सीदति ॥५५॥१॥

उधर वसन्तसेना की स्थिति यह है कि उसको देवपूजन की सुधि दिलायी जाती है तो वह कह बैठती है—

चेटि विज्ञापय मातरम् । अद्य न स्नास्यामि । तद् ब्राह्मण एव पूजां निर्वर्तयतु इति ।

[अंक २, आरंभ]

जो शकार की ओर दृष्टि दौड़ी तो उसकी स्थिति निराली ही निकली । तपस्वी वसन्तसेना के पाँव पर पड़ा ठोकर खा रहा है और गिड़गिड़ाकर क्रोध में आकर भभक पड़ा है—

यच्चुम्बितमम्बिकामातृकाभिर्गतं न देवानामपि यत्प्रणामम् ।
तत्पातितं पादतलेन मुंडं वने शृगालेन यथा मृतांगम् ॥१६॥८॥

सच है, शकार ने कभी देव-दर्शन नहीं किया और न कभी किसी देवता की पूजा ही की। देवता के सामने सदा उसका मस्तक उठा रहा, झुका कभी नहीं। परंतु 'गणिका' के सामने वही मस्तक झुका ही नहीं, उसके पाद-प्रहार का भागी भी बना। कहीं न कहीं उसको झुकना भी तो था? इष्ट की पहिचान ठहरी।

उपासना—मृच्छकटिक के प्रमुख तीन पात्रों की देवबुद्धि का लेखा मिल गया तो 'विट' की शुभ कामना का दर्शन कीजिए। अपशकुन से उसका दिल दहल उठा तो उसके कंठ से यह वाणी फूट पड़ी वसन्तसेना की शुभ कामना मे—

अये! मार्ग एव पादपो निपतितः। अनेन च पतता स्त्री व्यापादिता। भोः पाप किमिदमकार्यमनुष्ठितं त्वया। तवापि पापिनः पतनात्स्त्रीवधदर्शनेनातीव पातिता वयम्। अनिमित्तमेतत्। यत्सत्यं वसन्तसेनां प्रति शंकितं मे मनः। सर्वथा देवताः स्वस्ति करिष्यन्ति।

[अंक ८, २७ प०]

'स्वस्ति' कामना से क्या नही हो जाता? होने को भले ही कुछ न हो, इससे चित्त का भार तो उतर जाता है न? और किसी स्त्री का उपवास-व्रत भी तो प्रायः इसी भावना से होता है न? देखिये न चारुदत्तवधू व्रत से कैसा काम लेती है—

अहं खलु रत्नषष्ठीमुपोषितासम्। तत्र यथाविभवानुसारेण ब्राह्मणः प्रतिग्राहितव्यः। स च न प्रतिग्राहितः। तत्तस्य कृते प्रतीच्छेमां रत्नमालिकाम्।

[अंक ३, २७ पू०]

और 'देवकुल' का उपयोग देखना हो तो सवाहक की इस युक्ति पर ध्यान दें—

तावदहं विपरीताभ्यां पादाभ्यामेतच्छून्यदेवकुलं प्रविश्य देवीभविष्यामि।

[अंक २, २ प०]

साथ ही भूल न जायँ कि प्रकरण का सारा भवन खड़ा है 'कामदेवायतनोद्यान' पर। वही तो 'चारु' और 'वसन्त' की आँखे चार होती और शकार कट कर रह जाता है? उसकी मर्मवेदना है—

भाव भाव एषा गर्भदासी कामदेवायनोद्यानात्प्रभृति तस्य दरिद्र-चारुदत्तस्यानुरक्ता न मां कामयते ।

[अंक १, ३२ प०]

कुछ भी हो, चांडाल की 'सह्यवासिनी' की आराधना कितनी ललाम है—

भगवति सह्यवासिनि ! प्रसीद प्रसीद । अपि नाम चारुदत्तस्य मोक्षो भवेत् तदानुगृहीतं त्वया चांडालकुलं भवेत् ।

[अंक १०, ३७ प०]

'कुल' का यह अभिमान प्रकरण में प्रचुर मात्रा मे पाया जाता है, और शकार के अतिरिक्त सभी आराधन में लीन हैं । देवकार्य की सिद्धि में सब को अपनी सिद्धि दिखायी देती है । सभी अपने अपने ढंग से अपनी अपनी उपासना में लीन है ।

ब्राह्मण—देवता के साथ ब्राह्मण के प्रति श्रद्धा का भाव कितने दिनों से इस देश में चला आ रहा है, इसकी जानकारी के अभाव में भी हम धडल्ले से कह सकते हैं कि वह मृच्छकटिक में भी बना है और अपना वही रूप दिखाता है । सूत्रधार का निमन्त्रण है—

अद्य मैत्रेय ! अस्माकं गृहेऽशितुमग्रणीर्भवत्वार्यः ।

अस्वीकृति पर प्रलोभन मिलता है—

आर्य ! संपन्नं भोजनं निःसपत्नं च । अपि च दक्षिणापि ते भविष्यति ।

परन्तु मैत्रेय का अभिमान न डिगा और सूत्रधार का निमंत्रण न लिया । वसन्तसेना का प्रेम जगा तो मदनिका ने पूछा—

विद्याविशेषालंकृतः किं कोऽपि ब्राह्मणयुवा काम्यते ?

उत्तर मिला—

पूजनीयो मे ब्राह्मणजनः ।

[अंक २, आरंभ]

तस्कर शर्विलक को सुधि आयी तो पश्चात्ताप हुआ और मर्मभरी वाणी में कहा—

त्वत्स्नेहबद्धहृदयो हि करोम्यकार्यं
सद्वृत्तपूर्वपुरुषेऽपि कुले प्रसूतः ।
रक्षामि मन्मथविपन्नगुणोऽपि मानं
मित्रं च मां व्यपदिशस्यपरं च यासि ॥६॥४॥

मानैकधन ब्राह्मण का अभिमान ही तो है कि सुशील चारुदत्त के मुख से शाप निकलता है—

विषसलिलतुलाग्निप्रार्थिते मे विचारे
क्रकचमिह शरीरे वीक्ष्य दातव्यमद्य ।
अथ रिपुवचनाद्वा ब्राह्मणं मां निहंसि
पतसि नरकमध्ये पुत्रपौत्रैः समेतः ॥४३॥६॥

और अपने आत्मज को देने को कुछ न पाकर अपने खुले शरीर को देखता है । फिर क्या, ब्राह्मण का सर्वस्व हाथ लगा । कारण—

अमौक्तिकमसौवर्णं ब्राह्मणानां विभूषणम् ।
देवतानां पितॄणां च भागो येन प्रदीयते ॥१८॥१०॥

सचमुच 'यज्ञोपवीत' ब्राह्मण का पक्का धन है जिससे 'देवऋण' और 'पितृऋण' से मुक्त हुआ जाता है और लौकिक उपयोगिता भी इसकी अल्प नहीं । साहसी शर्विलक का मत है—

यज्ञोपवीतं हि नाम ब्राह्मणस्य महदुपकरणद्रव्यम् विशेषतोऽस्मद्विधस्य । कुतः—

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्गमेतेन मोचयति भूषणसंप्रयोगान् ।
उद्घाटको भवति यन्त्रदृढे कपाटे दष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनं च ॥१६॥३॥

और यदि ठीक समझा जाय तो यह भी मान लिया जाय कि ताली को सुरक्षित रखने का इससे उत्तम कोई दूसरा साधन नहीं ।

अग्रणी—जो हो, विदूषक का धूता से यह कहना कुछ अर्थ रखता है—

समीहितसिद्ध्यै प्रवृत्तेन ब्राह्मणोऽग्रे कर्तव्यः । अतो भवत्या अहमग्रणीर्भवामि ।

[अंक १०, ५७ प०]

जी हाँ, विदूषक भोजन मे तो सूत्रधार का 'अग्रणी' न बना; परंतु जब उसने देखा कि सिद्धि का अवसर आ गया तब अग्रणी हो गया। ब्राह्मण की धाक ही उस समय कुछ ऐसी थी कि एक बार शकार भी उसके सामने सहम गया और पैदल यात्रा का विचार किया। उसका आदेश है—

एवं भवतु। स्थावरक चेट ! नय प्रवहणम्। अथवा तिष्ठ। देवतानां ब्राह्मणानां चाग्रतश्चरणेन गच्छामि।

किन्तु प्रभुत्व का ध्यान आया नहीं कि फडक उठा—

नहि नहि। प्रवहणमधिरुह्य गच्छामि येन दूरतो मां प्रेक्ष्य भणिष्यन्ति-एष स राष्ट्रियश्यालो भट्टारको गच्छति।

[अंक ८, १८ पू०]

इस अभिमान का दुष्परिणाम पालक को भोगना पड़ा और अंत में शकार को गिड़गिडाकर कहना पड़ा—

भट्टारक चारुदत्त ! शरणागतोऽस्मि। तत्परित्रायस्व। यत्तव सदृशं तत्कुरु पुनर्नेदृशं करिष्यामि।

[अंक १०, ५४ प०]

कहा तो ब्राह्मण को लेकर बहुत कुछ कहा गया है, पर ब्राह्मण का उपदेश है—

तदहं ब्राह्मणो भूत्वेदानीं भवन्तं शीर्षेण पतित्वा विज्ञापयामि-निवर्त्यतामात्मास्माद् बहुप्रत्यवायाद् गणिकाप्रसंगात्। गणिका नाम पादुकान्तरप्रविष्टेव लेष्टुका दुःखेन पुनर्निराक्रियते। अपि च भो वयस्य। गणिका हस्ती कायस्थो भिक्षुश्चाटो रासभश्च यत्रैते निवसन्ति तत्र दुष्टा अपि न जायन्ते।

[अंक ५, ८ पू०]

महाब्राह्मण विदूषक की यह शिक्षा आर्यचारुदत्त को ग्राह्य न हुई, ऐसी बात भी नही कही जा सकती। परंतु परिणाम बताता है कि ब्राह्मण 'गणिका' को 'वधू' बनाने में सफल रहा। मदनिका शर्विलक की घरनी बनी तो वसन्त-

सेना चारुदत्त की। प्रथम ने 'साहस' को वरा तो द्वितीय ने 'शील' को। 'कुल' की उपेक्षा किसी से न हुई। 'द्विजावर' की यह जोड़ी धन्य हुई। है न अद्भुत कथा? गणिका गृहिणी! गोपालक राजा!!

श्रमण—'ब्राह्मण' के प्रति जहाँ लोक की यह भावना थी वहीं 'श्रमण' के प्रति कुछ अनैसी। प्रस्थान का विचार किया नही कि दृष्टिपथ में श्रमण आ गया और चारुदत्त को कहना पड़ा—

कथमभिमुखमनाभ्युदयिकं श्रमणकदर्शनम्। (विचार्य) प्रविशत्वयमनेन पथा। वयमप्यनेनैव पथा गच्छामः।

[अंक ७, अंत]

और शकार भी इससे कुछ भयभीत रहता है। कारण 'शकुन' नही उसका अपना चरित है। हम उस चरित के विषय मे इतना ही कहना चाहते है कि बौद्ध की इस यातना का कोई कारण रहा होगा जो उसकी नाक छेदकर उसे पशु की भाँति चलाया गया। यह शकार का व्यसन हो गया है, पर हुआ कैसे, इसका कुछ समाधान तो करना ही होगा। शूद्रक की दृष्टि श्रमण के प्रति उदार हो सकती है, पर प्रिय नहीं। कारण, इससे सस्ता कोई दूसरा मार्ग नहीं। संवाहक का ही तो कथन है—

आर्ये! अहमेतेन द्यूतकरापमानेन शाक्यश्रमणको भविष्यामि। तत्संवाहको द्यूतकरः शाक्यश्रमणकः संवृत्त इति स्मर्तव्यान्यार्ययैतान्यक्षराणि।

वसन्तसेना को बात रुची नहीं। उसने मना किया—

आर्य। अलं साहसेन।

किन्तु संवाहक का निश्चय हो चुका था। सामने कुछ हरियाली भी थी। निवेदन किया—

आर्ये! कृतो निश्चयः।
द्यूतेन तत्कृतं मम यद्विहस्तं जनस्य सर्वस्य।
इदानीं प्रकटशीर्षो नरेन्द्रमार्गेण विहरिष्यामि ॥१७॥२॥

विहार की इसी कामना के कारण बौद्ध का पतन हुआ। उसकी अटपटी बानी भी कुछ वैसा काम करने में सहायक हुयी। 'अज्ञाः कुरुत धर्मसंचयम्' का परिणाम जो हो सकता था वही हुआ। फलतः उसको दंड भी मिला—

गामिव नासिकां विद्ध्वापवाहयति।

इस विषम परिस्थिति में उसका विश्वास था—

अथवा भट्टारक एव बुद्धो मे शरणम्।

[अंक ८, आरंभ]

जी। 'अज्ञ धर्म का संचय करो' का पाठ कंठ के नीचे नहीं उतरता था और "विनय' का इतना कठोर पालन किया जाता था कि मरणप्राय वसन्तसेना से दूर ही से कहा जाता था—

उत्तिष्ठतूत्तिष्ठतु बुद्धोपासिकैतां पादपसमीपजातां लतामवलम्ब्य।

गणिका वसन्तसेना का शरीर कोई श्रमण कैसे छू सकता है! कहा भी है—

एषा तरुणी स्त्री एष भिक्षुरिति। शुद्धो ममैष धर्मः।

[अंक ८, अंत]

धर्मभगिनी—किन्तु साथ ही यह भी स्मरण रहे कि यह भिक्षु वसन्तसेना का ऋणी द्यूतकर संवाहक है। अतः वह उसकी उपेक्षा कर नहीं सकता। निदान—

एतस्मिन्विहारे मम धर्मभगिनी तिष्ठति। तत्र समाश्वस्तमना भूत्वोपासिका गेहं गमिष्यति तच्छनैः शनैर्गच्छतु बुद्धोपासिका।

[अंक ८, अंत]

और यदि कहीं निर्वेद में आकर यह भी 'धर्मभगिनी' बन जाती तो? उत्तर शूद्रक के 'भाण' में धरा है। वहाँ धर्मारण्यनिवासी 'संघिलक' की लीला दर्शनीय है। विट कैसा ताड़कर कहता है—

विहारवेताल क्वेदानीमुलूक इव दिवाशंकितश्चरसि। किं ब्रवीषि? सांप्रतं विहारादागच्छामि इति। भूतार्थं जाने विहारशीलतां भदन्तस्य।

भ्रान्त क्वेदानीं वेशवीथीदीर्घिकागतो बक इव शंकितश्चरसि ! ननु सुरत-पिडपातमनुष्ठीयते। किं ब्रवीषि ? मातृव्यापत्तिदुःखितां संघदासिकां बुद्धवचनैः पर्यवस्थापयितुमागतोऽस्मि इति। विनष्टं त्वन्मुखाद् बुद्धवचनं मद्भ्रमादिवोपस्पर्शं पश्यामः।

तथा और भी आगे की कैसी लगती सुनाता है—

किं ब्रवीषि—मर्षयतु भवान् ननु सर्वसत्त्वेषु प्रसन्नचित्तेन भवितव्यम् इति। स्थाने नित्यप्रसन्नो भदन्तः तृष्णाच्छेदेन परिनिर्वाणमवाप्स्यसि। एषोऽञ्जलिप्रग्रहं करोति। किं ब्रवीषि–गच्छाम्यहमकालभोजनमपि परिहार्यम् इति। ही ही सर्वं कृतम्। एतदवशिष्टमस्खलितपंचशिक्षापदस्य भिक्षोः कालभोजनमतिक्रामति। ध्वंसस्व। वृथामुंडनश्चित्रदुद्रूणापत्रपते। गच्छ, बुद्धो ह्यसि। हन्त! ध्वस्त एष दुरात्मा। तत् क्व नु खल्विदानीं दुष्टशाक्यभिक्षुदर्शनोपहतं चक्षुः प्रक्षालयेयम्।

[पद्मप्राभृतकम् पृ० १५,१६]

अथवा किसी 'द्विजकुमार' को लक्ष्य कर कहता है—

अयि सुरतोंच्छवृत्ते मामैवम्। प्रकाशं खल्वेतत् यथा शैषिलकस्य गृहे शाक्यभिक्षुकी प्रतिवसतीति। सा किल त्वयि उत्पन्नकामया मालादारिकया मालतिकया त्वत्सकाशं दौत्येनानुप्रेषिता।

सारांश यह कि 'शाक्यश्रमण' के प्रति श्रद्धा उठ चली थी और विहार सचमुच विहारभूमि बन चले थे। उज्जयिनी की काम-क्रीडा का क्रोड ही कहिये इस 'भाण' को। वैसे मृच्छकटिक में भी तो इसका आभास है ही। धर्म का प्राण सूख चला था और लोग शव की शोभा बढा रहे थे। संवाहक भिक्षु का वितर्क तो देखिए। किस भावना से जनसमूह से कहता है—

अपसरत। आर्याः अपसरत। एषा तरुणी स्त्री। एष भिक्षुरिति शुद्धो ममैष धर्मः।

[अंक ८, अंत]

प्रकाशनारी—हाँ, संवाहक ने बुद्धोपासना का जो व्रत लिया उसमें पूरा दत्तचित्त न हो सका। कारण यह था कि उस पर वसन्तसेना के उपकार का

ऋण रह गया था। उसने मोक्ष के पहले उससे मुक्ति पाना ठीक समझा और फलतः सफलता भी उसे सच्ची मिली। पर जैसा कि प्रकट ही है, वसन्तसेना गणिका थी और थी चारुदत्त की भाषा में 'प्रकाशनारी'। प्रकाशनारी का अर्थ नारी-प्रकाश के युग में क्या समझा जायगा, कह नहीं सकता; किन्तु उस समय आर्यचारुदत्त के मुँह से निकला था—

अलं चतुःशालमिमं प्रवेश्य प्रकाशनारीधृत एष यस्मात्।
तस्मात्स्वयं धारय विप्र तावद्यावन्न तस्याः खलु भोः समर्प्यते ॥७॥३॥

भला गणिका का आभूषण अन्तःपुर में जा सकता है? छूत का रोग लग जाय तो? तो भी आर्यचारुदत्त को मर्यादा का ध्यान और विनय का पालन तो करना ही है। निदान उसे अपने यहाँ सुरक्षित रखना ही होगा। किन्तु उधर भी एक मर्यादाध्यानी हैं जिन्हें चोरो से धन प्राप्त कर अपनी प्रिया को हथियाना है। अतः उनको भी किसी मर्यादा के भीतर ही अपना हाथ साफ करना है। इसी से उनकी चिन्ता है—

देशः को नु जलावसेकशिथिलो यस्मिन्न शब्दो भवे-
द्भित्तीनां च न दर्शनान्तरगतः सन्धिः करालो भवेत्।
क्षारक्षीणतया च लोष्टककृशं जीर्णं क हर्म्यं भवे-
त्कस्मिन्स्त्रीजनदर्शनं च न भवेत्स्यादर्थसिद्धिश्च मे ॥१२॥३॥

नारी—विचारने तथा ध्यान देने की बात है कि शर्विलक ऐसा क्यों सोचता है। क्या वह सचमुच 'स्त्रीजनदर्शन' से इसलिये घबराता है कि स्त्रियाँ व्याकुल हो उसकी दृष्टि में बाधा उत्पन्न करेंगी? कहाँ की बात? वह इतना बच्चा नही। नही। नहीं, उसे तो 'स्त्रीजनदर्शन' मात्र को बचाना है। दृष्टिपथ मे कहीं कोई सोई स्त्री न आ जाय यही चिन्ता है? निदान ऐसा संकल्प है। फिर भी वह अनुरक्त है नारी पर। 'अवरोध' नहीं 'प्रकाशनारी' पर। किन्तु उसकी 'प्रकाश-नारी' को तो देखिये। किस वेदना से कहती है—

शर्विलक! अप्रकाशोऽलंकारः। अयं च जन इति द्वयमपि न युज्यते।

[अंक ४, ७ प०]

किन्तु शूद्रक ने इसी 'न युज्यते' को 'नु युज्यते' कर दिखाया है और 'प्रकाश नारी' को 'अप्रकाशनारी' बना दिया है। जी! ताव में आकर शर्विलक ने भले ही कह दिया हो—

न पर्वताग्रे नलिनी प्ररोहति न गर्दभा वाजिधुरं वहन्ति।
यवाः प्रकीर्णा न भवन्ति शालयो न वेशजाताः शुचयस्तथांगनाः ॥१७॥४॥

पर मृच्छकटिक के 'सामाजिक' ने आँख फाडकर देख लिया कि नलिनी पर्वत की चोटी पर न उगे, परन्तु वेशवास में तो वसन्तसेना सी सती उगेगी ही, मदनिका सी साध्वी जनमेगी ही। इसी से तो मदनिका ने वसन्तसेना से पूछा भी था—

आर्ये किं य एव जनो वेशे प्रतिवसति स एवालीकदक्षिणो भवति?

[अंक ४, आरंभ]

वधू—कौन कह सकता है कि प्रकरण में यह अन्यथा सिद्ध न हो गया? रह रहकर यह भाव उठता है कि कौन सी है वह लहर जिसने एक ही झटके में वेश्या को वधू बना दिया और उस पर राजमुद्रा भी अंकित हो गयी। वसन्तसेना की कामना अन्तःपुर में पहुँचने की क्यों होती है? यहाँ का विधान तो यह था—

वाप्यां स्नाति विचक्षणो द्विजवरो मूर्खोऽपि वर्णाधमः
फुल्लां नाम्यति वायसोऽपि हि लतां या नामिता बर्हिणा।
ब्रह्मक्षत्रविशस्तरन्ति च यया नावा तयैवेतरे
त्वं वापीव लतेव नौरिव जनं वेश्यासि सर्वं भज ॥३२॥१॥

गणराज्य ने 'गणिका' को पचायती बना कर उसके रूप को सराहा तो कोई बात नहीं। वह तो एक प्रकार की रूपदेवता थी न? किन्तु किसी पालक के शासन में उसकी क्या प्रतिष्ठा रह गयी थी? कोई 'शकार' कही भी उसकी मर्यादा लूट सकता था। वह सबकी जो ठहरी। इसी से तो उसकी तड़प है 'प्रकाश' से 'अवरोध' में पहुँच जाने की। तभी तो वह चेटी से पूछती भी है—

चेटि सुष्ठु न निध्यातो रात्रौ तदद्य प्रत्यक्षं प्रेक्षिष्ये। चेटि किं प्रविष्टाहमिहाभ्यन्तरचतुःशालकम्।

[अंक ६, आरंभ]

उत्तर का प्रसंग नहीं। प्रश्न आज भी बना ही है! आज भी 'प्रकाशनारी' 'अभ्यन्तरचतुःशाला' चाहती है न? जो नहीं चाहती वह नारी को प्रकाश में लाकर क्या किया चाहती है, हम नही जानते। परंतु इतना मानते अवश्य हैं कि वसन्तसेना की इस व्यथा का कुछ अर्थ है—

सांप्रतं त्वमेव वन्दनीया संवृत्ता।

[अंक ४, ४४ पू०]

दासी 'वन्दनीया' क्यों हुयी? 'वधू' बन गयी इसी से न? वसन्तसेना की हत्या पर 'विट' ने ठीक ही तो कहा था—

अन्यस्यामपि जातौ मा वेश्या भूस्त्वं हि सुन्दरि।
चारित्र्यगुणसंपन्ने जायेथा विमले कुले ॥४३॥८॥

किन्तु 'चारित्र्य' तो वह कहिए जिससे अविमल कुल भी विमल हो गया। वसन्तसेना अपने चरित्र से 'जननी' बनी, 'भगिनी' बनी, 'वधू' बनी, 'प्रकाशनारी' से 'अवगुंठनवती' हुयी। चरित की जय।

परलोक—शकार की सेवा विट को कितनी खल रही थी और उसके इस कृत्य से उसकी आत्मा कितनी दुःखी थी, इसका भान बहुत कुछ उसके इस कथन से हो जाता है—

अपतितमपि तावत्सेवमानं भवन्तं
पतितमिव जनोऽयं मन्यते मामनार्यम्।
कथमहमनुयायां त्वां हतस्त्रीकमेनं
पुनरपि नगरस्त्रीशंकितार्धोक्षिदृष्टम् ॥४२॥८॥

फिर भी वह साथ छोड़ने में स्वतंत्र था और दृढता के साथ कह सकता था—

अप्रीतिर्भवतु विमुच्यतां हि हासो
धिक्प्रीतिं परिभवकारिकामनार्याम्।
मा भूच्च त्वयि मम संगतं कदाचि-
दाच्छिन्नं धनुरिव निर्गुणं त्यजामि ॥४१॥८॥

किंतु उस चेट की दशा कितनी दयनीय थी जो सदा के लिये उसके हाथ

बिक गया था और अपने उद्धार का उपाय केवल 'सुकृत' ही समझता था। इह लोक तो उसका बिगड़ चुका था, परलोक की निष्ठा बनी थी। परलोक के भय से वह पाप नहीं कर सकता था। उसकी परलोक की व्याख्या भी कितनी सरल, सीधी और सुबोध है? शकार और चेट का वार्तालाप है—

शकारः—कः स परलोकः ?
चेटः—भट्टक ! सुकृतदुष्कृतस्य परिणामः।
शकारः—कीदृशः सुकृतस्य परिणामः ?
चेटः—यादृशो भट्टको बहुसुवर्णमंडितः।
शकारः—दुष्कृतस्य कीदृशः ?
चेटः—यादृशोऽहं परपिडभक्षको भूतः। तदकार्यं न करिष्यामि।

[अंक ८, २५ पू०]

शकार बहुत ताड़ना देता है तो डटकर कह बैठता है—

ताडयतु भट्टकः मारयतु भट्टकः अकार्यं न करिष्यामि।
येनास्मि गर्भदासो विनिर्मितो भागधेयदोषैः।
अधिकं च न क्रीणिष्यामि तेनाकार्यं परिहरामि ॥२५॥८॥

'अकार्य' से अलग रखने का इससे अच्छा दूसरा सूत्र नहीं। चेट इसी आशा पर तो इतनी यातना सह रहा है और अपने कर्तव्य पर अडिग बना है! इसके अभाव में 'शकार' की स्थिति क्या है? वह किस दर्प से अपने चेट से कहता है—

सर्वं त उच्छिष्ट दास्यामि।

[अंक ८, २४ प०]

दास—था वह भी न एक जीवन कि 'उच्छिष्ट' का इतना महत्त्व था! क्रान्ति इसके प्रतिकूल हुई भी। इस शासन का भी पलड़ा पलटा, पर किस खूबी और किस ढंग से! मरा एक और काम बना सब का। वसन्तसेना ने तो पहले ही कह दिया था—

यदि मम छन्दस्तदा विनार्थं सर्वं परिजनमभुजिष्यं करिष्यामि।

[अंक ४, ५ पू०]

सब की तो नहीं कहते, पर सुराज्य होते ही 'स्थावरक' मुक्त हो गया। आर्यचारुदत्त ने कहा—

सुवृत्तः अदासो भवतु।

चलो इतना तो हुआ कि 'सुवृत्त' को दासता से मुक्ति मिली। नहीं तो उस समय 'दास' को कौन छोडता था! मानव मानव को खरीदने में लगा था और मानव बेचता भी था अपने आपको मानव के हाथ। परन्तु इसकी भी मर्यादा थी। तभी तो चेट ने खुलकर शकार से कह दिया—

प्रभवति भट्टकः शरीरस्य न चरित्रस्य।

हां, तो इस आत्म-विक्रय का दृश्य देखना हो तो संवाहक की इस विज्ञप्ति पर ध्यान दें—

आर्याः क्रीणीध्वं मामस्य सभिकस्य हस्ताद्दशभिः सुवर्णकैः। (दृष्ट्वा आकाशे) कि भणथ? किं करिष्यसि इति। गेहे ते कर्मकरो भविष्यामि।

[अंक २, ७ पृ०]

क्रीतदास के अतिरिक्त वेतनभोगी भी काम करते थे। इसी संवाहक का पूर्व वृत्त है—

ततस्तेनार्येण सवृत्तिः परिचारकः कृतोऽस्मि।

[अंक २, १५ प०]

भाव यह कि सभी प्रकार के परिचारक थे जिनमें से कुछ विशेष प्रकार के भी थे। इनमें से 'बन्धुल' का परिचय लीजिये। उन्हीं में से किसी का कहना है—

परगृहललिताः परान्नपुष्टाः परपुरुषैर्जनिताः परांगनासु।
परधननिरता गुणेष्ववाच्या गजकलभा इव बन्धुला ललामा ॥२८॥४॥

'बन्धुल' का संसार कितना सुखी है इसे भी यहीं विदूपक कह डालता है—

इह गन्धर्वाप्सरोगणैरिव विविधालंकारशोभितैर्गणिकाजनैर्बन्धुलैश्च यत् सत्यं स्वर्गायत एतत् गेहम्।

व्यस्त जीवन—आज इसी 'गेह' का स्थान 'देश' को देने का प्रयत्न जहाँ-तहाँ चल रहा है। पर किसी वसन्तसेना को क्या यहाँ भी कोई विश्राम है?

इस समाज मे उसको सुख कहाँ, शान्ति कहाँ ? सुख-शान्ति तो चरित और मर्यादा में है न ? विलास की इति कहाँ ? यहाँ तो लिप्सा ही लिप्सा है न ? इसी से यह 'बन्धुल' लोक उसे इष्ट नही । 'बन्धु' और 'बन्धुल' । अस्तु, छिटफुट रूप मे उस समय के जीवन की जो झाँकी मिली है उसको दृष्टि में रखकर देखिए यह कि उस समय का सामान्य व्यस्तजीवन कैसा है । सो स्थावरक कहता है—

आज्ञप्तोऽस्मि राजश्यालकसंस्थानेन-स्थावरक प्रवहणं गृहीत्वा पुष्पकरंडकंजीर्णोद्यानं त्वरितमागच्छ इति । भवतु । तत्रैव गच्छामि । वहतं बलीवर्दौ वहतम् । (परिक्रम्यावलोक्य च) कथं ग्रामशकटै रुद्धो मार्गः । किमिदानीमत्र करिष्यामि । (साटोपम्) अरे रे अपसरत अपसरत । (आकर्ण्य) किं भणथ-एतत्कस्य प्रवहणम् इति । एतद्राजश्यालकसंस्थानकस्य प्रवहणमिति तच्छीघ्रमपसरत । (अवलोक्य) कथम् एषोऽपरः सभिकमिव मां प्रेक्ष्य सहसैव द्यूतपलायित इव द्यूतकरोऽपवार्यात्मानमन्यतोऽपक्रान्तः । तत्कः पुनरेषः । अथवा किं ममैतेन । त्वरितं गमिष्यामि । अरे रे ग्राम्याः अपसरत अपसरत । कि भणथ-मुहूर्तकं तिष्ठ चक्रपरिवृत्ति देहि इति । अरे रे राजश्यालकसंस्थानकस्याहं शूरश्चक्रपरिवृत्ति दास्यामि । अथवा एष एकाकी तपस्वी । तदेवं करोमि । एतत्प्रवहणमार्यचारुदत्तस्य वृक्षवाटिकायाः पक्षद्वारके स्थापयामि । (इति प्रवहणं संस्थाप्य) एषोऽस्म्यागतः ।

[अंक ६, १ पू०]

इसी के साथ ही दूसरे चेट के इस कथन को भी लें—

ही ही भोः मयापि यानास्तरणं विस्मृतम् । तद्यावद् गृहीत्वागच्छामि । एतौ नासिकारज्जुकटुकौ बलीवर्दौ । भवतु । प्रवहणेनैव गतागति करिष्यामि ।

[अंक ६, १ पू०]

नागरिक—इस प्रसंग में ध्यान देने की बात है कि आर्यचारुदत्त का चेट रदनिका से आकर कहता है —

अपवारितं पक्षद्वारके सज्जं प्रवहणं तिष्ठति ।

[अंक ६, आरंभ]

तो क्या गणिका भी उस समय परदे में चला करती थी ? चल सकती थी, पर इससे यह निष्कर्ष नहीं निकल सकता कि वह परदे में ही चला करती थी । कारण शकार के प्रवहण मे इसका उल्लेख नहीं । और विट के इस कथन में निरा विनोद ही नहीं, अपि तु बहुत कुछ तथ्य भी है कि शिष्ट लोग उस समय स्त्री से आँख बचा कर निकल जाते थे, कुछ उसे घूरते नहीं थे । विट ने शकार से तभी तो कहा भी—

अवनतशिरसः प्रयाम शीघ्रं पथि वृषभा इव वर्षताडिताक्षाः ।
मम हि सदसि गौरवप्रियस्य कुलजनदर्शनकातरं हि चक्षुः ॥१५॥८॥

जो हो, विट ने शकार से प्रस्ताव किया—

यदि पुनरुद्यानपरम्परया पद्भ्यामेव नगरीमुज्जयिनीं प्रविशावः तदा को दोषः स्यात् ।

[अंक ८, १७ प०]

उससे सिद्ध ही है कि उस समय राजमार्ग के साथ साथ छाया का भी प्रबंध था और यात्री उसकी छाया में सुख से यात्रा कर सकता था । इसी प्रकार हम देखते हैं कि शकार 'अधिकरण-मंडप' की शरण लेता है तो 'अधिकरण-भोजको' के अभाव में सोचता है—

यावदागच्छन्त्यधिकरणभोजकाः तावदेतस्मिन्दूर्वाचत्वरे मुहूर्तमुपविश्य प्रतिपालयिष्यामि ।

[अंक ९, २ प०]

जिससे सिद्ध होता है कि 'उद्यान' 'वृक्षवाटिका' आदि की भाँति ही 'दूर्वा-चत्वर' की भी परम्परा थी और लोग उस पर बैठ कर विश्राम करते थे । गर्मी के दिनों में कितना सुखद होगा यह 'दूर्वाचत्वर' । वसन्तसेना के प्रकोष्ठ में हम पहले ही देख चुके हैं गवाक्ष में लटकी हुई पानी की गगरी और यदि इसी के साथ नामांकित 'जातीकुसुमवासित प्रावारक' को भी ले लें तो उस समय के

नागरिक जीवन की छवि आँखों में उतर आये। साथ ही विश्वास भी यह कि—

पश्यन्ति मां दशदिशो वनदेवताश्च
चन्द्रश्च दीप्तकिरणश्च दिवाकरोऽयम्।
धर्मानिलौ च गगनं च तथान्तरात्मा
भूमिस्तथा सुकृतदुष्कृतसाक्षिभूता ॥२४॥८॥

इतने 'साक्षी' जहाँ चारों ओर फैले हो वहाँ छिपकर पाप करने का अवसर कहाँ मिल सकता है ? किंतु वही एक ऐसा भी जीव था जो गर्व के साथ कह सकता था—

अधर्मभीरुको वृद्धश्रृगालः परलोकभीरुरेष गर्भदासः। अहं राष्ट्रियश्यालः कस्माद्बिभेमि वरपुरुषमनुष्यः।

[अंक ८, २७ प०]

सिद्ध—किन्तु इस 'वरपुरुषमनुष्य' को भी डर लगता है 'राक्षसी' का। 'सिद्धादेश' का इतना महत्त्व है कि उसी से डर कर पालक ने आर्यक को वन्दी बनाया। शर्विलक 'योगरोचना' का प्रयोग कर अपने को अलक्ष्य बनाता है, जिससे पता चलता है कि उस समय 'सिद्धि' में भी लोगो की पूरी आस्था थी। भिक्षु की 'बानी' में 'उलटी' का चमत्कार भी है ही—

पंचजना येन मारिता स्त्रियं मारयित्वा ग्रामो रक्षितः।
अबलः क चंडालो मारितोऽवश्यमपि स नरः स्वर्गं गाहते ॥२॥८॥
शिरो मुंडितं तुंडं मुंडितं चित्तं न मुंडितं किमर्थं मुंडितम्।
यस्य पुनश्च चित्तं मुंडितं साधु सुष्ठु शिरस्तस्य मुंडितम् ॥३॥८॥

तो क्या कबीर आदि संतो की कथनी का स्रोत यहाँ तक नही पहुँचता ? सच तो यह है कि हिंदी की सन्तधारा का अध्ययन श्रमणधारा के अध्ययन के बिना हो नहीं सकता। हमारा जीवन आज भी अनेक बातों में वैसा ही है जैसा कि कभी शूद्रक के समय में था। उस समय की सन्त-घोषणा समझिए, भिक्षु की यह वाणी—

हस्तसंयतो मुखसंयत इन्द्रियसंयतः स खलु मनुष्यः।
कि करोति राजकुलं तस्य परलोको हस्ते निश्चलः ॥४७॥८॥

द्यूत—व्यसनों में सर्व प्रधान व्यसन प्रतीत होता है द्यूत। द्यूत के वर्णन में शूद्रक ने बड़ी दक्षता दिखायी है। संवाहक का यह कहना—

कथं द्यूतकरमंडल्या बद्धोऽस्मि। कष्टं एषोऽस्माकं द्यूतकराणामलंघनीयः समयः। तस्मात्कुतो दास्यामि।

[अंक २, ६ प०]

उसके शासन और संघटन का परिचायक है। दर्दुरक ने द्यूत का कैसा परिचय दिया है—

भोः द्यूतं हि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यम्।
न गणयति पराभवं कुतश्चिद्धरति ददाति च नित्यमर्थजातम्।
नृपतिरिव निकाममायदर्शी विभववता समुपास्यते जनेन ॥७॥२॥
अपि च—

द्रव्यं लब्धं द्यतेनैव दारामित्रं द्यूतेनैव।
दत्तं भुक्तं द्यूतेनैव सर्वं नष्टं द्यूतेनैव ॥८॥२॥

तो क्या इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अभी द्यूत में दारा दाव पर रखी जाती थी? युधिष्ठिर की यह प्रथा अभी चालू थी। स्थिति कुछ भी हो, ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ यातना भी कुछ कम नहीं थी। दर्दुरक के इस कथन पर ध्यान तो दें—

यः स्तब्ध दिवसान्तमानतशिरा नास्ते समुल्लम्बितो
यस्योद्धर्षणलोष्टकैरपि सदा पृष्ठे न जातः किणः।
यस्यैतच्च न कुक्कुरैरहरहर्जंघान्तरं चर्व्यते
तस्यात्यायतकोमलस्य सततं द्यूतप्रसंगेन किम् ॥१२॥२॥

'सभिक' के साथ ही 'लेखक' का भी उल्लेख हुआ है। संवाहक कहता है—

लेखकव्यापृतहृदयं सभिकं दृष्ट्वा झटिति प्रभ्रष्टः।
इदानीं मार्गनिपतितः कं नु खलु शरणं प्रपद्ये ॥२॥२॥

'लेखक' का कार्य लेखा लेना प्रतीत होता है। कर्णपूरक वसन्तसेना से अगन हो कहता है—

कर्णपूरकेण मया-नहि नहि आर्याया अन्नपिंडपुष्टेन दासेन वाम-चरणेन द्यूतलेखकम् उद्घुष्योद्घुष्य त्वरितमापणाल्लोहदंडं गृहीत्वाकारितः स दुष्टहस्ती।

[अंक २, २० पू०]

द्यूतलेखक—कतिपय संपादकों ने 'द्यूतलेखकम्' को 'द्यूतखेलकम्' पढा है। परंतु पाठ 'द्यूतलेखक' ही ठीक लगता है। यही प्रसंगवश यह भी कह देना है कि 'संवाहक' अभी 'शाक्यश्रमण' नहीं बना है। स्मरण रहे कर्णपूरक कहता है—

ततस्तेन दुष्टहस्तिना करचरणरदनैः फुल्लनलिनीमिव नगरीमुज्जयिनी-मवगाहमानेन समासादितः परिव्राजकः। तं च परिभ्रष्टदंडकुंडिकाभाजनं शीकरैः सिक्त्वा दन्तान्तरे क्षिप्तं प्रेक्ष्य पुनरप्युद्घुष्टं जनेन—हा परि-व्राजको व्यापाद्यते इति।

[अंक २, १९ प०]

निश्चय ही यह 'दन्तान्तरसंस्थित परिव्राजक' दंडधारी है। इसे संवाहक समझना भूल है। कारण यह कि संवाहक का स्वयं कहना है—

अहो आर्याया गन्धगजं प्रेक्षिष्ये गत्वा। अथवा किं ममैतेन। यथा व्यवसितमनुष्ठास्यामि।

[अंक २, १७ प०]

जान पडता है कि जब संवाहक से पैसा प्राप्त हो गया तब 'सभिक' तो सीधा चला गया पर लेखक कुछ देर तक उसके साथ रहा। दुर्व्यवहार की चर्चा रही हो तो आश्चर्य क्या? संवाहक को भिक्षु बनने की सनक थी, इसलिये वह 'गन्धगज' की लीला में न पड़ा, पर 'लेखक' को उसे देख लेने की इच्छा हुई। उधर संयोग से पथ में कोई परिव्राजक आ गया जिसे उस गज ने दाँतों में ले लिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'लेखक' वास्तव में 'सभिक' का मुनीब था और 'परिव्राजक' था कोई संन्यासी। संवाहक कदापि नहीं। जी! आर्यचारुदत्त जैसे प्रतिष्ठित प्राणी का वसन्तसेना से यह कहला भेजना कि वह उसका 'न्यास'

धोखे से 'द्यूत' में हार गया, कुछ महत्त्व रखता है। चेटी की फबती भी कुछ कम नहीं कि—

आर्ये दिष्ट्या वर्धसे। आर्यो द्यूतकरः संवृत्तः।

[अक ४, ३२ पृ०]

राजप्रदीप—किन्तु आज सबसे विलक्षण बात जान पड़ेगी यह कि उस समय राजमार्ग पर कोई राजप्रदीप का प्रबंध न था। चारुदत्त वसन्तसेना को घर पहुँचाना चाहता है और विदूषक से आदेश करता है—

तद्राजमार्गविश्वासयोग्याः प्रज्वाल्यन्तां प्रदीपिकाः।

सुनते ही चेट को 'तेल' की पड़ी नहीं कि चारुदत्त आप ही बोल उठा—

मैत्रेय भवतु। कृतं प्रदीपिकाभिः। पश्य-
उदयति हि शशांकः कामिनीगंडपांडु-
र्ग्रहगणपरिवारो राजमार्गप्रदीपः।
तिमिरनिकरमध्ये रश्मयो यस्य गौराः
स्रुतजल इव पंके क्षीरधाराः पतन्ति ॥५७॥१॥

भला इस 'राजमार्गप्रदीप' के सामने कोई 'प्रदीपिका' ठहर सकती है? सो भी तब जब प्रिय-प्रिया का प्रस्थान हो, और यात्रा हो उस उज्जयिनी में जिसकी परा श्री का कहना ही क्या?

शिष्टजीवन—देखिये न उस समय का शिष्ट जीवन कैसा था—

पुण्यास्तावद्वेदाभ्यासा
द्विरदरथतुरगनिनदा धनुर्गुणनिःस्वना
दृश्यं श्राव्यं विद्वद्वादा-
श्चतुरुदधिसमुदयफलैः कृता विपणिक्रिया।
गीतं वाद्यं द्यूतं हास्यं
क्वचिदपि च विटजनकथाः क्वचित्सकलाः कलाः
क्रीडापक्षिलुब्धाश्चेमाः
प्रचुरकरवलयरशनास्वना गृहपंक्तयः॥

[पद्मप्राभृतक पृ० ४—५]

इस समृद्ध उज्जयिनी के जीवन की जो झांकी अभी अभी मिली है उसमें बहुत कुछ देखने को मिल गया है। यदि उतने से ही संतोष न हो तो कृपया कवि की मुद्रा को भी देख लीजिये। 'शश' महाराज कहते हैं—

अयं तावत्काव्यव्यसनी कात्यायनगोत्रः शारद्वतीपुत्रः सारस्वतभद्रः स्वगृहद्वारकोष्ठके श्वेतवर्णव्यग्राग्रहस्तः चिन्तितोपस्थितास्वादिताकारान्निभ्रूविकारैरभिनयन्निव चक्रपीडकक्रीडामनुभवति।

[वही, पृ० ५]

कवि किस प्रकार 'श्वेतवर्ण' से भित्ति पर कविता लिखा करते थे इसका कुछ आभास हो गया तो नटी का रंग भी आँक लीजिये—

प्रियवादिनिके किमिदं तालपत्रकेऽभिलिखितम्? किं ब्रवीषि—'नाटकभूमिका' इति पश्यामस्तावत्।

[वही पृ० २५]

और यह भी स्मरण रखिये कि—

आ अयं तावद्वृत्तवाटिकापक्षद्वारेणातिक्रामति भावगन्धर्वदत्तस्य नाटिकाचार्यस्यान्तेवासी दर्दुरको नाम नाटेरकः। यावदेनं पृच्छामि। (निर्दिश्य) अंघो दर्दुरक कुतस्त्वमागच्छसि? अपि जानीषे किं देवदत्ता करोतीति। किमाह भवान्—गता खलु देवदत्ता सुखप्रश्नार्थमार्यमूलदेवं द्रष्टुम्। अहन्तु देवसेनां द्रष्टुमाचार्येण प्रेषितोऽस्मि इति। अथ केन कारणेन? किं ब्रवीषि—कुमुद्वतीभूमिकाप्रकरणपत्रमुपनयेति इति। अथोपनीतं, पत्रकं गृहीतं च तया?

[वही पृ० २३]

अस्तु, 'कवि' के साथ ही 'आचार्य' और 'नाटेरक' की स्थिति का बोध भी यहीं हो गया और हो गया यहीं 'अभिनय' के अभ्यास का दर्शन भी। शिक्षाक्रम का कुछ पता कदाचित् इतने से हो जाय—

श्वः किल ते भगिनी यथोचितमाचार्यगृहं नृत्तवारेण यास्यति।

इधर मधुर जीवन की यह स्थिति है तो उधर किसी 'अक्षरकोष्ठागार' से यह प्रार्थना—

हा धिक्, प्रसीदतु भवान्। नार्हस्यस्मान् एवंविधैः काष्ठप्रहारनिष्ठुरैर्वागशनिभिरभिहन्तुम्। साधु व्यावहारिकया वाचा वद। अभाजनं हि वयमीदृशानां करभोद्गारदुर्भगानां श्रोत्रविषनिषेकभूतानां वैयाकरणवाग्व्यसनानाम्। किं ब्रवीषि–'कथमहमिदानीमनेकवावदूकवादि वृषभविघट्टनोपार्जितामनेकधातुशतघ्नि वाचमुत्सृज्य स्त्रीशरीरमिव माधुर्यकोमलां करिष्यामि' इति। अहो अनाथः खल्वसि।

[वही, पृ० ६]

वैयाकरण लोग उस समय किस दृष्टि से देखे जाते थे, इसका यह एक दिव्य उदाहरण है। शूद्रक का प्राकृत-प्रेम प्रसिद्ध ही है। यहाँ केवल इतना निवेदन कर देना पर्याप्त है कि 'मृच्छकटिक' में जितनी प्राकृतों का प्रयोग है उतनी प्राकृतो का प्रयोग कहीं भी नहीं। यहाँ शूद्रक का वैयाकरणों से यही कहना है कि कुछ समय देखकर काम करे। कुछ व्यवहार मे कोमल बनें। कुछ सर्वत्र 'काकोलूक' को चरितार्थ न करें। विशेषतः 'पाणिनीय' के भक्त। कट्टर तो इतने कि पूछने पर प्रिया का नाम नहीं लेते पर साधना चाहते हैं उसे फटकार से।

तत् केयं पुंश्चलीति? किं ब्रवीषि–'प्रियानाम केनोच्यते, इति।

नायिका—प्रिया का नाम भले ही न लें, पर उसका अनादर तो न करें। देखिये न वियोग में उसकी प्रार्थना क्या है। वह किस भाव और किस वेदना से किसी वायस से कहती है—

> भद्रं ते वलभीगवाक्षतिलकश्राद्धोपहारातिथे
> जीवन्त्यां मयि कच्चिदेष्यति स मे नित्यप्रवासी प्रियः।
> यद्यागच्छति गच्छ तावदितरद्वाराश्रितं तोरणं
> निःशोका हि समेत्य मे प्रियतमं दास्यामि दध्योदनम्॥३०॥

पता नहीं कितने दिनों से वायस महाराज इस प्रकार विरहिणी को तोष देते आ रहे हैं। हाँ, लीजिए। यहीं कहो कन्दुक-क्रीडा भी गतिशील है—

> प्रेंखोलत्कुण्डलाया बलवदनिभृते कन्दुकोन्मादितायाः
> चञ्चद्बाहुद्वयायाः प्रविकचविसृतोद्गीर्णपुष्पालकायाः।

आवर्त्तोद्भ्रान्तवेगप्रणयविलसितलुब्धकाञ्चीगुणाया
मध्यस्यावल्गमानस्तनभरनमितस्यास्य ते क्षेममस्तु ॥३२॥ (पद्म० प्रा.)॥६

हर्म्य—और देखिये तो यह भी, स्त्री की कैसी दयनीय दशा है कि खुलकर चारुदत्त के लिये रो भी नही सकती। स्वयं चारुदत्त की व्यथा है—

एताः पुनर्हर्म्यगताः स्त्रियो मां वातायनार्धेन विनिःसृतास्याः।
हा चारुदत्तेत्यभिभाषमाणा वाष्पं प्रणालीभिरिवोत्सृजन्ति ॥११॥१०॥

तो क्या पर्दा की प्रथा इतनी पुरानी है? प्रसंग महत्त्व का है अतः इस पर पूरा ध्यान दें—

चारुदत्त—(अग्रतो निरूप्य) अहो तारतम्यं नराणाम् (सकरुणम्)—
अमी हि दृष्ट्वा मदुपेतमेतन्मर्त्यं धिगस्त्वित्युपजातवाष्पाः।
अशक्नुवन्तः परिरक्षितुं मां स्वर्गं लभस्वेति वदन्ति पौराः ॥६॥

चाण्डालौ—अपसरतार्याः अपसरत। किं पश्यथ।
इन्द्रः प्रवाह्यमाणो गोप्रसवः संक्रमश्च ताराणाम्।
सुपुरुषप्राणविपत्तिश्चत्वार इमे न द्रष्टव्याः ॥७॥

एकः—अरे आहीन्त! पश्य पश्य—
नगरीप्रधानभूते वध्यमाने कृतान्ताज्ञया।
किं रोदित्यन्तरिक्षमथवानभ्रे पतति वज्रम् ॥८॥

द्वितीयः—अरे गोह!
न च रोदित्यन्तरिक्षं नैवानभ्रे पतति वज्रम्।
महिलासमूहमेघान्निपतति नयनाम्बु धाराभिः ॥९॥

अपि च—
वध्ये नीयमाने जनस्य सर्वस्य रुदतः।
नयनसलिलैः सिक्तो रथ्यातो नोन्नमति रेणुः ॥१०॥१०॥

अवगुंठन—प्रकरण से प्रकट ही है कि विषाद में अबलाजन की स्थिति अलग है। 'महिला समूह' अपनी अट्टालिका पर ही विराजमान है। सो भी हर्म्य की स्त्रियाँ 'वातायनार्ध' से ही चारुदत्त की दीन दशा पर आँसू बहा रही हैं। चारुदत्त की दृष्टि भी उधर तब जाती है जब 'आहीन्त' उनका उल्लेख

करता है। साथ ही यह भी ज्ञात रहे कि शूद्रक के यहाँ इसी से 'अवगुंठन' का बड़ा महत्त्व है। शर्विलक के इस कथन पर ध्यान तो दीजिये—

स्वस्ति भवत्यै। मदनिके!
सुदृष्टः क्रियतामेष शिरसा वन्द्यतां जनः।
यत्र ते दुर्लभं प्राप्तं वधूशब्दावगुण्ठनम् ॥२४॥४॥

और देखिये उसी का यह व्यवहार भी तो—

(वसन्तसेनामवगुण्ठ्य चारुदत्तं प्रति) आर्य! किमस्य भिक्षोः क्रियताम्।

वसन्तसेना के अवगुण्ठन का कारण था—

आर्ये वसन्तसेने परितुष्टो राजा भवतीं वधूशब्देनानुगृह्णाति।

[अंक १०, ५८ प०]

तो शूद्रक के यहाँ अवगुण्ठन वधू की मर्यादा का द्योतक ठहरा न? 'अवगुण्ठनवती' और 'प्रकाशनारी' की इस मर्यादा को भलीभांति समझने की आवश्यकता आज इसलिए भी अधिक हो गयी है कि लोग 'परदा' के विषय में भांति भांति की कल्पना करने लग गये हैं और अवगुण्ठन को 'घूँघट' का पर्यायमात्र समझते हैं। किन्तु हमारी दृष्टि में यह 'चादर', 'ओढ़नी' वा 'उत्तरीय' का द्योतक है। शूद्रक की भाषा में इसे 'प्रावारक' कह लें। इसी से प्रकरण के प्रारम्भ में ही हम देखते हैं—

चारुदत्तः—(वसन्तसेनामुद्दिश्य) रदनिके। मारुताभिलाषी प्रदोषसमयशीतार्तो रोहसेनः। ततः प्रवेश्यतामभ्यन्तरम्। अनेन प्रावारकेण छादयैनम्।

[इति प्रावारकं प्रयच्छति]

वसन्तसेना—(स्वगतम्) कथं परिजन इति मामवगच्छति। (प्रावारकं गृहीत्वा समाघ्राय च स्वगतं सस्पृहम्)। आश्चर्यम्। जातीकुसुमवासितः प्रावारकः। अनुदासीनमस्य यौवनं प्रतिभासते।

[अपवारितकेन प्रावृणोति]

चारुदत्तः—ननु रदनिके ! रोहसेनं गृहीत्वाभ्यन्तरं प्रविश ।

वसन्तसेना—(स्वगतम्) मन्दभागिनी खल्वहं तवाभ्यन्तरस्य ।

[अंक १, ५२ पृ०]

रहस्य—वसन्तसेना ने जिस लालसा से इस 'प्रावारक' से अपने आपको आच्छादित कर लिया है, वही आगे चलकर फलित होती है, और उसे चारुदत्त के अभ्यन्तर में प्रवेश मिल जाता है । शर्विलक के 'वसन्तसेनामवगुण्ठ्य' का यही रहस्य समझना चाहिये कि उसको जन-समाज में अवगुण्ठित रूप में निकलने का अधिकार मिल गया । अन्यथा गणिका के रूप में वह चला करती थी उसके बिना ही । स्मरण रहे, वर्षा में आधी भींगती हुयी वह प्रिय चारुदत्त के घर पहुँची तो उसको अपने मित्र मैत्रेय से कहना पड़ा—

वयस्य पश्य पश्य—
वर्षोदकमुद्गिरता श्रवणान्तविलम्बिना कदम्बेन ।
एकः स्तनोऽभिषिक्तो नृपसुत इव यौवराज्यस्थः ॥३८॥५॥

तद्वयस्य क्लिन्ने वाससी वसन्तसेनायाः । अन्ये प्रधानवाससी समुपनीयेतामिति ।

स्पष्ट ही यहाँ दो वस्त्रों का विधान है—साड़ी और चोली । है न इसका यही संकेत कि गणिका प्रावारक में अवगुण्ठित हो नहीं चलती ? प्रावारक से अवगुण्ठन का काम लिया जाता है इसका भी प्रमाण है । प्रसंग पर ध्यान दें । स्थिति बहुत कुछ आप ही स्पष्ट है—

क एष मलिनप्रावारावगुण्ठितशरीरः संकुचितसर्वांगो वेश्यांगणात् द्रुततरमभिनिष्क्रामति ।

[पद्म०, पृ० १४-१५]

और यदि मृच्छकटिक में ही इसका उदाहरण देखना है तो कृपया उसे भी देख लें—

आर्ये ! माताज्ञापयति-गृहीतावगुण्ठनं पक्षद्वारे सज्जं प्रवहणम् । तद्गच्छ इति ।

[अंक ४, आरभ]

अस्तु। हमारी दृष्टि में 'अवगुण्ठन' का यही अर्थ है। यह आज भी 'गोंठने' वा 'तागपात' डालने की क्रिया में किसी विवाह में देखा जा सकता है। मृच्छकटिक में वसन्तसेना के लिए यह कार्य किया है राजा के प्रतिनिधि शर्विलक ने। अच्छा होगा, यहीं 'कुमुद्वती' के प्रति शश की इस शुभ कामना का भी पाठ कर लें। कारण, है यह बड़े महत्त्व का प्रसंग—

अहो नु खलु निष्कैतवोऽनुरागः। अनपहासत्तममेतद्राजयौतकम्। महिष्यावगुण्ठनभागिनी भवत्वेषा।

[पद्म०, पृ० १६]

निष्कर्ष—'महिष्यावगुण्ठन' का संकेत शर्विलक के साथ है न? जी। वहाँ राजा और यहाँ वह रानी का प्रसाद है। 'अवगुण्ठन' के विषय में इतना कह जाने का कारण यह है कि पाठक इससे देख सकें कि वास्तव में शूद्रक ने किस सूझ-बूझ के साथ अपनी रचनाओं में अपने 'देशकाल' को व्यक्त किया है। प्रथम प्रावारक के बारे में भूलना न होगा कि वह चारुदत्त के मित्र जूर्णवृद्ध का भेजा हुआ है, जिसका आदेश है—

सिद्धीकृतदेवकार्यस्यार्यचारुदत्तस्योपनेतव्य इति।

[अंक १, ६ पृ०]

तो क्या इसका भी वसन्तसेना के प्रेम-प्रसंग से कुछ लगाव है? होगा ही, कारण कि उस समय के समाज में इन बातों का प्रचलन था। यहाँ तक कि अधिकरण में अधिकरणिक तक कह जाता है—

कष्टं भोः कष्टम्।
अंगारकविरुद्धस्य प्रक्षीणस्य बृहस्पतेः।
ग्रहोऽयमपरः पार्श्वे धूमकेतुरिवोत्थितः ॥३३॥६॥

सारांश यह कि शूद्रक सचमुच अपने तीर्थ के पंडा हैं, और हैं इसी से उसके सभी घर-घाट से भली भाँति परिचित। उनका अति संक्षिप्त परिचय जो आपके सामने है उसमें जैन का कहीं नाम नहीं। हाँ, उसमें वेद की यह ममता अवश्य गोचर है—

वेदार्थान्प्राकृतस्त्वं वदसि न च ते जिह्वा निपतिता ॥२१॥६॥

किन्तु इसी 'वेद' के नाते 'प्राकृत' की कहीं उपेक्षा नही। नहीं, मृच्छकटिक को तो 'प्राकृतजन' की पोथी ही कहना चाहिए। तभी तो उसका चांडाल भी बड़े अभिमान से कहता है—

न खलु वयं चाण्डालाश्चाण्डालकुले जातपूर्वा अपि।
येऽभिभवन्ति साधुं ते पापास्ते च चाण्डालाः ॥२२॥१०॥

इसे 'कर्मणा वर्ण-व्यवस्था' की एक पुरानी झलक भर समझ लीजिए। इससे आगे इसकी गति नहीं। शूद्रक चरित्र का प्रेमी ठहरा। वह निरी 'जाति' का पक्षपाती नहीं। 'चरित्र' ही उसके लिए सब कुछ है। वह नहीं तो 'कुल' का अभिमान व्यर्थ है। अधिकरण में 'अधिकरणिक' का आज्ञापन है—

सर्वं ज्ञायते।
किं कुलेनोपदिष्टेन शीलमेवात्र कारणम्।
भवन्ति नितरां स्फीताः सुक्षेत्रे कण्टकिद्रुमाः ॥७॥६॥

सचमुच शूद्रक 'शील' का सम्राट् है।

रसायन—सब कुछ तो हो गया, किन्तु अभी तक 'रसायन' का पता न चला। सो लीजिये न, उसका भी सेवन पर्याप्त हुआ है, और ऐसा हुआ है कि उससे संवत्सर भी खिल उठा है। देखिये न—

साधु भोः। रमणीयं खलु तावदिदं शिशिरजराजर्जरस्य संवत्सरविटस्य हिमरसायनोपयोगात्पुनरावृत्तं वसन्तकैशोरकमुपोह्यते।

[पद्म०, पृ० २]

कह तो नही सकते, पर जी चाहता है कि इस 'रसायन' का 'उपयोग' कुछ आज भी होता तो कदाचित् 'संवत्सरविट' का 'वसन्तकैशोरक' वृद्धभारत को प्राप्त हो जाता। करें क्या? देश तो वही पर काल बदल गया। रसायन का स्थान सूई को प्राप्त हो गया। अभी और क्या होगा, कौन कह सकता है? पर विश्वास है कि इस रसायन का उपयोग भी कुछ न कुछ होता रहेगा। आशा बलवती राजन्।

कहना तो ठीक नहीं; परन्तु इतना निवेदन न करना भी अपुण्य है कि उस समय कुछ सिद्धियाँ भी सिद्ध समझी जाती थी और उनका लगाव भी स्यात् योगाचार्य नागार्जुन से माना जाता था। देखिये न, चौर शर्विलक का उल्लास है—

नमो वरदाय कुमारकार्तिकेयाय, नमः कनकशक्तये ब्रह्मण्यदेवाय देवव्रताय, नमो भास्करनन्दिने, नमो योगाचार्याय यस्याहं प्रथमः शिष्यः। तेन च परितुष्टेन योगरोचना मे दत्ता।

अनया हि समालब्धं न मा द्रक्ष्यन्ति रक्षिणः।
शस्त्रं च पातितं गात्रे रुजं नोत्पादयिष्यति ॥१५॥३॥

किन्तु 'योगरोचना' हो, या हो कोई 'रसायन', सभी असिद्ध हैं इस परम सिद्धि के अभाव में। इस परम 'रसायन' का सत्कार तो कीजिए। 'नटी' कहती है 'सूत्रधार' से—

गुडौदनं घृतं दधि तण्डुला आर्येणात्तव्यं रसायनं सर्वमस्तीति।

हम और कुछ नहीं, उसी नटी की भाषा में कामना करते हैं—

एव्वं दे देवा आसासेन्तु।

और इसी को देववाणी में कहा चाहते हैं—

एवं तव देवा आशासन्ताम्।

---

८. उपसंहार

प्राकृत-निष्ठा—चारित्रकवि शूद्रक के सरस दृश्यशास्त्र का जो दर्शन हमें मिला है हम उसे थोड़े में व्यक्त कर देना अपना पावन कर्तव्य समझते हैं, और आरंभ में ही इतना निवेदन कर देना पर्याप्त समझते हैं कि यह उसके व्यापक, उदार तथा गंभीर रूप का दिग्दर्शन मात्र है। इस दिग्दर्शन से जीवन-यात्रा के किस क्षेत्र में क्या पाथेय हमें प्राप्त होता है, यदि यह भी थोड़े में हमारे दृष्टिपथ में आ गया तो, सच मानिए, हमारा बहुत कुछ काम आप ही सध गया। विस्तार से लाभ नहीं। सूत्रधार का कथन ही पर्याप्त है—

एषोऽस्मि भोः कार्यवशात्प्रयोगवशाच्च प्राकृतभाषी संवृत्तः।

'भोः' की व्याप्ति के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। 'आर्य-मिश्रों' को पैठना है शूद्रक के हृदय में। निदान समझना होगा इस 'कार्य' और इस 'प्रयोग' को जिनके वश वा कारण सूत्रधार को अपनी 'गृहिणी' से 'प्राकृत-भाषी' बनना पड़ा। सो 'कार्य' तो प्रत्यक्ष ही है—

अस्ति किंचित्प्रातराशो न वेति?

किंतु प्रयोग की पुकार क्या है? किसी सूत्रधार को इसका उल्लेख क्यों करना पड़ा? क्या केवल 'कार्यवशात्' से प्रकरण का पेट नहीं भर सकता था? निवेदन है—क्यों नहीं? भर तो वह सकता था संस्कृतभाषी बने रहने से भी। कारण यह कि इतनी संस्कृत तो उसे भी समझ में आती ही थी और न भी आती तो भी भूख की भाषा किससे छिपी रहती है? पाणिविहार अथवा किसी भी भावभंगी से उसे कौन नहीं हृदयगम कर लेता? मूक का काम तो इसी संकेत-भाषा से ही चलता है न? ठीक है। किंतु उससे हृदय का पेट कब भरता है? किसी के हृदय में घर करने के लिए उसकी घर की बोली में ही तो बात-चीत की जाती है और घुल-मिल कर जीवन का आनंद लिया जाता है अपनी ठेठ बोली ही में तो! फलतः सूत्रधार को अपनी घरनी से घर की बोली में

बोलने का निश्चय करना पड़ा। परन्तु टाँक रखने की बात है कि सूत्रधार 'आर्यमिश्रों' के समक्ष ऐसा कार्य सम्पन्न कर रहा है। निदान उनकी मर्यादा का भी ध्यान रखना ही होगा। अवश्य। इसी के हेतु तो उसने कहा—

प्रयोगवशाच्च।

'प्रयोग' भी उसी के पक्ष में है। लोग अपनी बानी का व्यवहार कब करते हैं? तभी न जब अपने मूलरूप में अपनों में होते हैं? कवि कहा चाहता है कि यहाँ 'प्राकृत' का प्रयोग इसी हेतु हो रहा है। क्षुधा के मारे प्राण सूख चला है और भूख का प्रकोप सहा नहीं जाता। पढ़ा-लिखा सब भूल गया है, कोई शिक्षा काम नहीं देती। निदान क्षमा करें। अपने प्राकृत रूप में प्राकृत का प्रयोग कर लेने दें। दारिद्रय का प्रताप इसी से तो भरपूर व्यक्त होगा? फिर इसमें हानि क्या? 'आर्यमिश्र' भी तो 'प्राकृत' जानते ही हैं? फिर अपने घर में अपनी बोली क्यों नहीं?

शास्त्र-मर्यादा—शास्त्र की मर्यादा ठहरी—

कारणव्यपदेशेन प्राकृतं संप्रयोजयेत्।
दारिद्र्याध्ययनाभावयदृच्छादिभिरेव च ॥३४॥
ऐश्वर्येण प्रमत्तानां दारिद्र्येण प्लुतात्मनाम्।
अनधीतोत्तमानां च सस्कृतं न प्रयोजयेत् ॥३५॥

[नाट्यशास्त्र, सप्तदश अध्याय]

अस्तु, स्पष्ट ही है कि दारिद्रय के मारे सूत्रधार को अपनी गहरी अभिव्यक्ति के निमित्त 'प्राकृत' का सहारा लेना पड़ता है, कुछ यदृच्छा से नहीं। वह इसी 'कारणव्यपदेश' के विचार से प्राकृतभाषी बनने की घोषणा करता है और सामाजिक को दरिद्रता की भूमि में सहज ही ला खड़ा कर देता है। उधर हम देखते है कि वसन्तसेना अपनी शिष्टता की विज्ञप्ति में संस्कृत झाड़ पड़ती है—

वसन्तसेना—(संस्कृतमाश्रित्य) अये मैत्रेयः। (उत्थाय) स्वागतम्। इदमासनम् अत्रोपविश्यताम्।

[अंक ४, ३१ प०]

और तब तक उससे संस्कृत बूकती रहती है जब तक चारुदत्त का शील उसे

उतार कर सामान्य भावभूमि पर ला नहीं देता। फिर तो दशा यह हो जाती है कि आर्य चारुदत्त के पास संदेश भी प्राकृत मे ही भेजा जाता है और उसी में रस भी पूरा पूरा लिया जाता है। हाँ, अभिसार के आवेश में अवश्य फिर कभी कभी 'भाव' से संस्कृत में बोल पड़ती है और श्लोक तो सदा संस्कृत में ही कहती है। देखिये—

विटः—भवतु। एवं तावत्। उपालभ्यतां तावदियम्।

वसन्तसेना—भाव किमनया स्त्रीस्वभावदुर्विदग्धयोपालब्धया ? पश्यतु भावः—

मेघा वर्षन्तु गर्जन्तु मुञ्चन्त्वशनिमेव वा।
गणयन्ति न शीतोष्णं रमणाभिमुखाः स्त्रियः ॥१६॥

विटः—वसन्तसेने ! पश्य पश्य। अयमपरः—

पवनचपलवेगः स्थूलधाराशरौघः
स्तनितपटहनादः स्पष्टविद्युत्पताकः।
हरति करसमूहं खे शशांकस्य मेघो
नृप इव पुरमध्ये मन्दवीर्यस्य शत्रोः ॥१७॥

वसन्तसेना—एव्वं एणेदम्। ता कधं एसो अवरो (एवंन्विदम्। तत्कथमेषोऽपरः)

एतैरेव यदा गजेन्द्रमलिनैराध्मातलम्बोदरै-
र्गर्जद्भिः सतडिद्बलाकशबलैर्मेघैः सशल्यं मनः।
तत्किं प्रोषितभर्तृवध्यपटहो हा हा हताशो बकः,
प्रावृट् प्राविडिति ब्रवीति शठधीः क्षारं क्षते प्रक्षिपन् ॥१८॥५॥

भाषा का प्रयोग—घाव पर नमक छिड़कने का मुहावरा कितना पुराना है और किसी प्रोषितभर्तृका के प्रति किसी गणिका अभिसारिका का भाव कितना गहरा, यह तो प्रसंग के बाहर की बात है। किन्तु जो कुछ यहाँ कहा गया है वह भी यहीं कितना स्पष्ट है। भाषा के प्रयोग में शूद्रक कितने दक्ष तथा निपुण हैं, इसे कौन कहे जब कि यह कहना भी कठिन हो गया है कि शूद्रक थे कौन ! हाँ, तो भी इतना तो विदित ही है कि शूद्रक थे भाषा के बड़े पारखी

और समझते थे भली-भाँति उसके उपयोग तथा प्रयोग को भी। उस समय संस्कृत ही शिष्ट-भाषा थी। इसी से आर्यक के—

शरणागतोऽस्मि।

का उत्तर भी चन्दनक देता है संस्कृत में ही—

अभयं शरणागतस्य।

[अंक ६, १७ प०]

फिर भी शूद्रक का स्नेह है प्राकृत पर ही—प्राकृत भाषा तथा प्राकृत जन, दोनों पर ही। उनका संस्कृत के प्रति आदर चाहे जितना हो, पर मन भरता है उनका प्राकृत से ही। कहते भी हैं किसी वैयाकरण से—

स्त्रीजनोऽपि त्वया कष्टशब्दनिष्ठुराभिर्व्याकरणविस्फुलिंगाभिर्वाग्भिरुत्त्रासयितव्यो भवति। इदमपि न त्वया श्रुतपूर्वम्—

रत्यर्थिनी रहसि यः सुकुमारचित्तां
कान्तां स्वभावमधुराक्षरलालनीयाम्।
वागर्चिषा स्पृशति कर्णविरेचनेन
रक्तां स वादयति वल्लकिमुन्मुकेन ॥१६॥

'पद्मप्राभृतक' के इसी भाव की रक्षा मृच्छकटिक के विदूषक के इस कथन में भी है—

मम तावद् द्वाभ्यामेव हास्यं जायते। स्त्रिया संस्कृतं पठन्त्या मनुष्येण च काकलीं गायता। स्त्री तावत्संस्कृतं पठन्ती दत्तनवनस्येव गृष्टिः अधिकं सूसूशब्दं करोति।

[अंक ३, ३ प०]

प्राकृत का महत्त्व—स्त्री का संस्कृत-पाठ विदूषक की हँसी का कारण बनता है तो शश को वही खल जाता है। कारण यही है कि शूद्रक नहीं चाहते कि संस्कृत का अभ्यास इतना बढ़े कि घर में भी उसी का निवास हो जाय और अपनी बोली-बानी में अपने घर की बात भी न हो सके। आज जो जनपद-आन्दोलन चला है और लोग जो जन-भाषा को इतना महत्त्व दे रहे हैं

उसका कारण भी तो प्राकृत-प्रेम ही है न ? परंतु प्रसंगवश हमें भूलना न होगा कि शूद्रक का मार्ग वह नही जो राजशेखर अथवा वाक्पतिराज का है । राजशेखर तथा वाक्पतिराज में प्राकृत का प्रेम है । इसी से उसकी प्रशंसा कर ही नही रह जाते अपि तु उसमें रचना भी करते हैं । किन्तु शूद्रक की स्थिति यह नहीं । उनको प्राकृत का मोह है । वे सभी प्रकार से उसकी रक्षा करना चाहते हैं और प्रकारान्तर से हमें यह पाठ पढाना चाहते हैं कि हम भले ही संस्कृत के प्रकांड पंडित बन जायँ पर कभी भूलकर भी अपनी प्राकृत भाषा का स्थान उसे न दें । वह सबकी बोली अवश्य बने, पर घर-घर की बोली कदापि नही । सारांश यह कि भाषा के 'कार्य' को समझें और उसके 'प्रयोग' को परखें । भाषा के प्रयोग से निरा अर्थबोध ही होता तो शूद्रक का सूत्रधार क्यो कहता—

एषोऽस्मि भोः कार्यवशात् प्रयोगवशाच्च प्राकृतभाषी संवृत्तः ।

हमारी समझ में सूत्रधार का यह ज्ञापन आज भी बड़े महत्त्व का है और 'राष्ट्रभाषा' तथा 'देशभाषा' के संघर्ष को मिटाने का है परम साधन भी। जनपद-आन्दोलन वा प्रगतिवाद के प्रेमी कर्मक्षेत्र मे उतरने के पहले यदि शूद्रक का अध्ययन कर लें तो सचमुच लोक का बड़ा कल्याण हो जाय और कागद वाग्युद्ध का अखाड़ा बनने से भी बच जाय ।

हृदय—जी । भाषा के अतिरिक्त विचार के क्षेत्र में भी आज हमें शूद्रक से विशेष कुछ सीखना है । कह लें बहुत कुछ भी । आज चारो ओर 'हृदय' की गोहार लगी है । सभी हृदय की सुनना चाहते हैं और उससे कहीं अधिक करना चाहते हैं हृदय की ही । फिर ऐसी परिस्थिति में कुछ शूद्रक की भी क्यो न समझ ली जाय, जिससे जीवन के सभी क्षेत्रों में कुछ न कुछ प्रकाश मिले । सो लीजिए हृदयभक्त शकार की लीला है—

शकारः—अरे तिष्ठ तावत् यावत्संप्रधारयामि ।
विटः—केन सार्धम् ।
शकारः—आत्मनो हृदयेन ।
विटः—हन्त न गतः ।

शकारः—पुत्रक हृदय ! भट्टारक ! पुत्रक !! एष श्रमणकोऽपि नाम कि गच्छतु ? किं तिष्ठतु ? (स्वगतम्) नापि गच्छतु नापि तिष्ठतु। (प्रकाशम्) भाव ! संप्रधारितं मया हृदयेन सह। एतन्मम हृदयं भणति।

विटः—किं ब्रवीति।

शकारः—मापि गच्छतु मापि तिष्ठतु। माप्युच्छ्वसितु मापि निश्वसितु। इहैव झटिति पतित्वा म्रियताम्।

भिक्षुः—नमो बुद्धाय। शरणागतोऽस्मि।

विटः—गच्छतु।

शकारः—ननु समयेन।

विटः—कीदृशः समयः।

शकारः—तथा कर्दमं प्रक्षिपतु यथा पानीयं पंकाविलं न भवति। अथवा पानीयं पुञ्जीकृत्य कर्दमे क्षिपतु।

विटः—अहो मूर्खता।

विपर्यस्तमनश्चेष्टैः शिलाशकलवर्ष्मभिः।
मांसवृक्षैरियं मूर्खैर्भाराक्रान्ता वसुन्धरा ॥६॥८॥

विट ने शकार को जो कुछ कहा है उससे यहाँ कोई प्रयोजन नहीं। वह तो उसकी भर्त्सना भर है। विचारणीय है यहाँ शकार का यह 'संप्रधारयामि' और उसका परिणाम भी। देखिये न हृदयभक्त शकार का हृदय उसे मंत्रणा देता है कि जहाँ तक बन पड़े भिक्षु की दुर्गति करो। कहिये कहाँ तक हृदय का यह संप्रधारण मानवता का समर्थक है ? तो फिर बात-बात में मानव आज हृदय की गोहार क्यों लगा रहा है ? क्या वह इतना भी नहीं जानता कि सब का हृदय 'सत्' का पुजारी नहीं। हाँ, वह स्वत्व का पुजारी और सत्त्व का भक्त भले ही हो।

अन्तरात्मा—है, उसी के साथ एक दूसरा भी प्राणी है जो ऐसे अवसर पर 'हृदय' से व्यवस्था नहीं माँगता। हाँ, 'अन्तरात्मा' की पुकार का अवश्य ध्यान रखता है। उसका विश्वास है कि वह कुछ भी छिपा कर नहीं कर सकता। कारण कि—

पश्यन्ति मां दशदिशो वनदेवताश्च
चन्द्रश्च दीप्तकिरणश्च दिवाकरोऽयम् ।
धर्मानिलौ च गगनं च तथान्तरात्मा,
भूमिस्तथा सुकृतदुष्कृतसाक्षिभूता ।।२४।।८।।

बाहर-भीतर की इस साखी में कहीं 'हृदय' का नाम नही । हाँ, 'अन्तरात्मा' का उल्लेख है । तो क्या 'अन्तरात्मा' और 'हृदय' में कोई गहरा भेद है ? कह तो नहीं सकते, पर इसी क्रम में विट आगे चलकर फिर कहता है—

अत्याकुलं कथयसि । न शुध्यति मेऽन्तरात्मा । तत्कथय सत्यम् ।

[अंक ८, ३७ पृ०]

विट ही क्यो ? शर्विलक भी तो अपने ढंग से इसी 'अन्तरात्मा' का नाम लेता है । चोरी में सफल हो वह सोचता है—

यः कश्चित्त्वरितगतिर्निरीक्षते मां
संभ्रान्तं द्रुतमपसर्पति स्थितं वा ।
तं सर्वं तुलयति दूषितोऽन्तरात्मा
स्वैर्दोषैर्भवति हि शंकितो मनुष्यः ।।२।।४।।

सदाचार—तो 'हृदय' की कौन कहे ? दूषित 'अन्तरात्मा' में भी सत्य प्रतिफलित नहीं होता । इसके लिए तो उसका स्वच्छ तथा निर्मल होना अनिवार्य होता है ।

फलतः स्वयं शर्विलक फिर कहता भी है बड़े अभिमान से—

नो मुष्णाम्यबलां विभूषणवतीं फुल्लामिवाहं लतां
विप्रस्वं न हरामि काञ्चनमथो यज्ञार्थमभ्युद्धृतम् ।
धात्र्युत्संगगतं हरामि न तथा बालं धनार्थी क्वचि-
त्कार्याकार्यविचारिणी मम मतिश्चौर्येऽपि नित्यं स्थिता ।।६।।४।।

निष्कर्ष यह कि विचार आचरण से बनता है और 'सदाचार' ही कार्याकार्य के विचार में कारण होता है । उसके अभाव में 'हृदय' की मन्त्रणा घातक है और 'अन्तरात्मा' की दुहाई व्यर्थ । इसी से प्रकरण का अन्त हुआ है—

धर्मनिष्ठाश्चभूपाः।

से। निश्चय ही धर्मनिष्ठा के बिना आचरण में बल नहीं आता और धर्म की विडम्बना से यज्ञवाट में वध होता है पालक का, राजा का। है न इस प्रकरण का यही रहस्य? यही मर्म? और यही उद्घोष भी? तभी तो आर्य चारुदत्त धर्मस्वरूप स्थावरक चेट से किस करुण वाणी में कहता है—

उत्तिष्ठ भोः पतितसाधुजनानुकम्पि-
न्निष्कारणोपगतबान्धव धर्मशील।
यत्नः कृतोऽपि सुमहान्मम मोक्षणाय
दैवं न संवदति किं न कृतं त्वयाद्य ॥२१॥१०॥

'दैव' भले ही हमारा साथ न दे, पर हमें तो स्थावरक का मार्ग पकड़ना है न? और वह मार्ग है सत्यारूढ सत्याग्रह का, धर्मशील आचरण का। स्मरण है न उसकी यह दृढ घोषणा—

पिट्टदु भट्टके मालेदु भट्टके अकज्जं ण कलइश्शम्।
(ताडयतु भट्टकः मारयतु भट्टकः अकार्यं न करिष्यामि)

निश्चय! ध्रुव निश्चय।
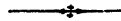
परिशिष्ट—क

मृच्छकटिक और शिलप्पदिकारम्

समय आ गया है कि 'मार्गी' तथा 'देशी' साहित्य का अध्ययन जुट कर किया जाय और अतीत के आलोचन से वर्तमान को सरेखा जाय, जिससे हमारा भविष्य भी आप ही चमक उठे। कहने की बात नहीं, सभी इतना जानते हैं कि देशी साहित्य में तमिल वाङ्मय का स्थान सर्वोपरि है और उसी को सचमुच सभी प्रकार से संस्कृत का पूरक कह भी सकते हैं। लीजिए। इसी से उसके एक अनूठे काव्यरत्न की चर्चा यहाँ हो रही है और हो रही है सो भी इतिहास के प्रसंग में मृच्छकटिक के साथ, अँगरेजी के भरोसे। रह रहकर जी में भाव उठता है कि यदि मूल को पढ़ पाता तो कितनी सरलता से बता सकता जो कुछ बताने के लिए इतनी माथापच्ची कर रहा हूँ। फिर भी आशा है कि इतने संकेत से ही उन लोगों को बहुत कुछ खोज निकालने का अवसर मिल जायगा जो वास्तव में दोनो भाषाओं के ज्ञाता हैं और हैं साथ ही अतीत के प्रेमी भी। सो लीजिये मृच्छकटिक का प्रसंग है—

(नेपथ्ये कलकलः)

जयति वृषभकेतुर्दक्षयज्ञस्य हन्ता
तदनु जयति भेत्ता षण्मुखः क्रौञ्चशत्रुः।
तदनु जयति कृत्स्नां शुभ्रकैलासकेतुं
विनिहितवरवैरी चार्यको गां विशालाम् ॥४६॥

(प्रविश्य सहसा)

शर्विलकः—

हत्वा तं कुनृपमहं हि पालकं भो—
स्तद्राज्ये द्रुतमभिषिच्य चार्यकं तम्।
तस्याज्ञां शिरसि निधाय शेषभूतां
मोक्षयेऽहं व्यसनगतं च चारुदत्तम् ॥४७॥

हत्वा रिपुं तं बलमन्त्रिहीनं पौरान्समाश्वास्य पुनः प्रकर्षात् ।
प्राप्तं समग्रं वसुधाधिराज्यं राज्यं बलारेरिव शत्रुराज्यम् ॥४८॥१०॥

हमारी समझ मे 'शिलप्पदिकारम्' में इसी 'शुभ्रकैलासकेतु' का बखान बार बार किया गया है । किन्तु इसका बोध तब तक ठीक-ठीक नहीं हो सकता जब तक हम यह न देख लें कि वस्तुतः शर्विलक के सहायक कौन हैं । सो सबसे पहले हम देखते हैं कि 'दर्दुरक' स्वयं सोचता है—

प्रधानसभिको माथुरो मया विरोधितः । तन्नात्र युज्यते स्थातुम् । कथितं च मम प्रियवयस्येन शर्विलकेन यथा किल आर्यकनामा गोपालदारकः सिद्धादेशेन समादिष्टो राजा भविष्यति इति । सर्वश्चास्मद्विधो जनस्तमनुसरति । तदहमपि तत्समीपमेव गच्छामि ।

[अंक २, १३ प०]

'दर्दुरक' के इस कथन में स्पष्ट आया है—

सर्वश्चास्मद्विधो जनस्तमनुसरति ।

पर कहीं 'अस्मद्विध' को स्पष्ट नहीं किया गया है । इसके उपरान्त ही हम देखते हैं कि 'बलपति' 'चन्दनक' इस दल में आ मिलता है । कारण यह कि

(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य)

अरे निष्क्रमतो मम प्रियवयस्यः शर्विलकः पृष्ठत एवानुलग्नो गतः । भवतु । प्रधानदण्डधारको वीरको राज्यप्रत्ययकारो विरोधितः । तद्यावदहमपि पुत्रभ्रातृपरिवृत एतमेवानुगच्छामि ।

[अंक ६, अन्त]

आर्य शर्विलक को चन्दनक का योग मिला नहीं कि इधर 'विट' भी शकार की क्रूरता से ऊबकर उसी संघ से जा मिला । उसका निश्चय है—

न युक्तमवस्थातुम् । भवतु । यत्रार्यशर्विलकचन्दनकप्रभृतयः सन्ति तत्र गच्छामि ।

[अंक ८, ४३ प०]

उधर हम देखते हैं कि स्वयं आर्य शर्विलक का संकल्प है—

ज्ञातीन्विटान्स्वभुजविक्रमलब्धवर्णा-
न्राजापमानकुपितांश्च नरेन्द्रभृत्यान् ।
उत्तेजयामि सुहृदः परिमोक्षणाय
यौगन्धरायण इवोदयनस्य राज्ञः ॥२६॥

अपि च

प्रियसुहृदमकारणे गृहीतं रिपुभिरसाधुभिराहितात्मशंकैः ।
सरभसमभिपत्य मोचयामि स्थितमिव राहुमुखे शशांकबिम्बम् ॥२७॥४॥

आर्य शर्विलक की भेदनीति का प्रसार कहाँ तक हुआ, इसका बहुत कुछ पता प्रकरण से हो गया। अतः हम यहाँ उसके प्रसार की व्याख्या में नहीं पड़ते। हाँ, हम यहीं इतना और अवश्य कह देना चाहते हैं कि वास्तव में चन्दनक ही उसका पक्का साथी है। वह स्वयं उसके उपकार को मानता और असमंजस में पड़ विचार करता है—

एषोऽनपराधः शरणागत आर्यचारुदत्तस्य प्रवहणमारूढः प्राणप्रदस्य म आर्यशर्विलकस्य मित्रम् ।

[अंक ६, १८५०]

चन्दनक ने शर्विलक को 'प्राणप्रद' क्यों कहा, कह नहीं सकते। परन्तु इतना जानते अवश्य हैं कि यह शर्विलक के भेद से परिचित अवश्य है। वह जानता है कि आर्यक शर्विलक का मित्र है। उसके कथन पर ध्यान तो दीजिए—

अरे रे वीरक-विशल्य-भीमांगद-दण्डकालक-दण्डशूरप्रमुखाः !
आगच्छत विश्वस्तास्त्वरितं यतध्वं लघु कुरुत ।
लक्ष्मीर्येन न राज्ञः प्रभवति गोत्रान्तरं गन्तुम् ॥६॥

अपि च

उद्यानेषु सभासु च मार्गे नगर्यामापणे घोषे ।
तं तमन्वेषयत त्वरितं शंका वा जायते यत्र ॥७॥६॥

अभी तक तो सामान्य कथन रहा। इसके आगे प्रश्न पर प्रश्न हुये—

रे रे वीरक किं कि दर्शयसि भणसि तावद्विश्रब्धम् ।
भित्त्वा च बन्धनकं कः स गोपालदारकं हरति ॥८॥
कस्याष्टमो दिनकरः कस्य चतुर्थश्च वर्तते चन्द्रः ।
षष्ठश्च भार्गवग्रहो भूमिसुतः पञ्चमः कस्य ॥९॥
भण कस्य जन्मषष्ठो जीवो नवमस्तथैव सूरसुतः ।
जीवति चन्दनके कः स गोपालदारकं हरति ॥१०॥

वीरक चन्दनक की बात में आ गये और बड़े विश्वास के साथ कहा—

भट चन्दनक !

अपहरति कोऽपि त्वरितं चन्दनक शपे तव हृदयेन ।
यथार्धोदितदिनकरे गोपालदारकः खुटितः ॥११॥६॥

चन्दनक कितना सधा प्राणी है, इसका पता पूरे प्रकरण के पाठ से आप ही हो जाता है । स्मरण रहे, यही वह प्राणी है जो समय पर आर्या धूता के पावक-प्रवेश की सूचना देता है और अन्त में आर्यचारुदत्त के कथनानुसार 'पृथिवीदण्ड-पालक' बन जाता है । जी । यह आप ही अपने निवास का निर्देश भी कर जाता है—

अरे ! कोऽप्रत्ययस्तव । वयं दाक्षिणात्या अव्यक्तभाषिणः ।

[अंक ६, २० प०]

और फलतः कर जाता है वहीं 'कर्णाटकलहप्रयोग' भी । अतएव उसका स्थान है कहीं उधर ही न ? हमारी धारणा तो यह है कि 'चन्दनक' वस्तुतः 'चन्दनशैल' वा 'मलयगिरि' का निवासी है—ठीक वैसे ही जैसे 'दर्दुरक' 'दर्दुर-शैल' का । ऐसा मानने का कारण भी है । चाण्डाल भी किसी कारण से ही तो कहता है—

भगवति सह्यवासिनि ! प्रसीद प्रसीद । अपि नाम चारुदत्तस्य मोक्षो भवेत् तदानुगृहीतं त्वया चाण्डालकुलं भवेत् ।

[अंक १०, २७ प०]

अर्थात् 'चन्दन', 'दर्दुर' और 'सह्य' की त्रिपुटी में कुछ रहस्य है। इनकी स्थिति के विषय में कविकुलगुरु कालिदास का कथन है—

दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि।
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे॥
ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः।
ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव संचितम्॥
स निर्विश्य यथाकामं तटेष्वालीनचन्दनौ।
स्तनाविव दिशस्तस्याः शैलौ मलयदर्दुरौ॥
असह्यविक्रमः सह्यं दूरान्मुक्तमुदन्वता।
नितम्बमिव मेदिन्याः स्रस्तांशुकमलंघयत्॥
तस्यानीकैर्विसर्पद्भिरपरान्तजयोद्यतैः ।
रामास्त्रोत्सारितोऽप्यासीत्सह्यलग्न इवार्णवः॥
भयोत्सृष्टविभूषाणां तेन केरलयोषिताम्।
अलकेषु चमूरेणुश्चूर्णप्रतिनिधीकृतः॥५५॥४॥

[रघुवंश]

अस्तु। सरलता से कहा जा सकता है कि 'चन्दनक' 'दर्दुरक' और कहलें 'सह्यक' भी वस्तुतः द्रमिल देश के वासी हैं और द्रविड लोग ही आर्य शर्विलक के सच्चे साथी हैं। शर्विलक को हमने 'वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि' तथा शूद्रक के रूप में देखा है। हमारी धारणा है कि इसी शूद्रक की प्रेरणा से रचना हुई 'शिलप्पदिकारम्' की भी। निश्चय ही इतिहास के रूप में नहीं। नहीं, तत्कालीन 'तमिल-दर्पण' के रूप में। उसके अंत में इसका स्पष्ट निर्देश है। मृच्छकटिक के साथ-साथ उसका परिशीलन करें तो स्थिति आप ही बहुत कुछ स्पष्ट हो जाय और यह भी प्रगट हो जाय कि उस समय एक साथ ही 'आर्य' तथा 'द्रमिल' भाषाओं में क्या कुछ हो रहा था। स्मरण रहे, उस समय 'आर्यभाषा' का प्रयोग निश्चित था राजवर्ग के लिये। इसी से भरतमुनि का वचन भी है—

संस्कृतं प्राकृतं चैव यत्र पाठ्यं प्रयुज्यते।
अतिभाषार्यभाषा च जातिभाषा तथैव च॥२७॥

तथा योन्यन्तरी चैव भाषा नाट्ये प्रकीर्तिता ।
अतिभाषा तु देवानामार्यभाषा तु भूभुजाम् ॥२८॥

[नाट्यशास्त्र, सप्तदश अध्याय]

अतएव 'आर्यभाषा' का सम्बन्ध रक्त से नहीं पद से है। रही 'द्रमिलभाषा' सो उसके विषय में भी वहीं विधान है कि—

न बर्बरकिरातान्ध्रद्रमिलाद्यासु जातिषु ।
नाट्यप्रयोगे कर्तव्यं पाठ्यं भाषासमाश्रयम् ॥४६॥१७॥

अस्तु । नाटक में भले ही द्रमिलभाषा को स्थान न मिले, पर 'द्रमिल' में नाटक लिखा तो जायगा अवश्य न ? निदान हम देखते भी हैं कि 'शिलप्पदिकारम्' में उसको भी स्थान है । हम यथावसर पहले निवेदन कर चुके हैं कि सात-शासन में जहाँ एक ओर सरल संस्कृत के प्रचार की चिन्ता थी वहीं देश-भाषा विशेषतः पैशाची में निर्माण की लगन भी । हम और कुछ नहीं, 'मृच्छ-कटिक' तथा 'शिलप्पदिकारम्' को इसी प्रेरणा का परिणाम समझते हैं । कारण हम भली भाँति जानते हैं कि प्रथम का प्रणेता राजा है तो द्वितीय का रचयिता राजकुमार । और उस राजकुमार का प्रेरक है भी वही 'शात्तन' नाम का कोई विशेष प्राणी । तो क्या 'शात्तन' को 'सातवाहन' का संक्षिप्त रूप समझ सकते हैं और साथ ही 'सार्थवाह' से भी उसका कुछ नाता जोड़ सकते हैं ? जी । भूला न होगा यहीं यह भी कि कभी शर्विलक ने कहा था—

सम्पूर्णाः खल्वस्मत्स्वामिनो मनोरथाः ।
दिष्ट्या भो व्यसनमहार्णवादपारा—
दुत्तीर्णं गुणधृतया सुशीलवत्या ।
नावेव प्रियतमया चिरान्निरीक्षे
ज्योत्स्नाढ्यं शशिनमिवोपरागमुक्तम् ॥४९॥१०॥

कह सकते हैं । सरलता से यही कह सकते हैं शिलप्पदिकारम् के नायक 'कोवलन्' और नायिका 'कण्णकि' के अंतिम दृश्य को देखकर । भेद की बात यहाँ इतनी अवश्य है कि जहाँ मृच्छकटिक मे 'वसन्तसेना' नायिका है और 'धूता' वधू वहाँ शिलप्पदिकारम् में नायिका है 'मादवि' और वधू है 'कण्णकि' ।

नहीं तो काम दोनों में बहुत कुछ एक ही है। हाँ, प्रथम में 'गणिका' को उभार कर दिखाया गया है तो द्वितीय में वधू को; किन्तु दोनों में ही बात कही गयी है वही। यदि प्रथम में भी अलौकिकता का विधान होता तो सहज में ही धूता ही को द्वितीय की 'पत्तिनि' देवी का पद प्राप्त हो गया होता। क्योंकि कौन कह सकता है कि धूता आदर्श पत्नी नहीं और उसका त्याग 'कण्णकि' से किसी प्रकार भी कम है? इतना ही नहीं, शिलप्पदिकारम् का कवि 'वसन्तसेना' नाम को भूल नहीं पाता और उसे 'वसन्तमाला' के रूप मे अपने यहाँ स्थान देता है और उसे गणिका मादवि (माधवी) की दासी बनाकर अपनाता है। और तो और 'आभूषण' का महत्त्व भी दोनों में बराबर बना है। दोनो के वध का कारण है आभूषण। 'मृच्छकटिक' को 'सुवर्णशकटिका' की संज्ञा क्यों नहीं मिली इसका विचार हम पहले कर चुके है, किंतु तो भी यहाँ कहना चाहते हैं कि चारुदत्त के प्राणदंड को दृष्टि में रखकर उसे कह दिया जाय 'आभरणाधिकारम्' तो वह आप ही झट 'शिलप्पदिकारम्' के मेल मे आ जाता है और दोनों में भेद इतना ही रह जाता है कि जहाँ प्रथम मे 'आभरण' मात्र का उल्लेख है वहाँ द्वितीय मे 'शिलम्बु' अर्थात् 'नूपुर' का। सच है। नूपुर का भी मृच्छकटिक मे अभाव नहीं। आरंभ मे ही हम देखते हैं कि विट वसन्तसेना को सावधान करता है जनान्तिक में—

> कामं प्रदोषतिमिरेण न दृश्यसे त्वं
> सौदामिनीव जलदोदरसन्धिलीना।
> त्वां सूचयिष्यति तु माल्यसमुद्भवोऽयं
> गन्धश्च भीरु मुखराणि च नूपुराणि ॥३५॥१॥

और फिर पूछता है—

> श्रुतं वसन्तसेने!

वसन्तसेना सी विलासिनी भला चूक सकती थी? उसने आचरण भी वैसा ही किया और नूपुर पाँव से हाथ में आ गये। होते होते हुआ यह कि वसन्तसेना ने आर्य चारुदत्त से निवेदन किया—

आर्य्य! यद्येवमहमार्यस्यानुग्राह्या तदिच्छाम्यहमिममलंकारकमार्यस्य गेहे निक्षेप्तुम्। अलंकारस्य निमित्तमेते पापा अनुसरन्ति।

और फिर आर्य चारुदत्त ने भी कहा—

मैत्रेय ! गृह्यतामयमलंकारः ।

[अंक १, ५६ प०]

तो यह 'अलंकार' 'नूपुर' ही तो है ? 'नूपुर ही' नहीं तो 'नूपुर भी' तो अवश्य है न ? किन्तु देखिये तो सही। शर्विलक भी तो इसके विषय में अपनी प्रिया मदनिका से यही कहता है—

तद्विज्ञाप्यतां वसन्तसेना—
अयं तव शरीरस्य प्रमाणादिव निर्मितः ।
अप्रकाशो ह्यलंकारो मत्स्नेहाद्धार्यतामिति ॥ ७॥४॥

तो फिर 'नूपुर ही' तो ठीक है ? 'अलंकार' एकवचन है न ? और फिर अभिसारिका के 'नूपुर' को भी तो भाँपिये—

एषा फुल्लकदम्बनीपसुरभौ काले घनोद्भासिते
कान्तस्यालयमागता समदना हृष्टा जलार्द्रालका ।
विद्युद्वारिदगर्जितैः सचकिता त्वद्दर्शनाकांक्षिणी
पादौ नूपुरलग्नकर्दमधरौ प्रक्षालयन्ती स्थिता ॥३५॥५॥

कह तो नही सकते, पर कदाचित् प्रकरण की पुकार पर आप को भी कहना ही पड़ेगा कि हो न हो वसन्तसेना के इस कथन का सम्बन्ध भी इसी 'नूपुर' से है। वह कहती भी है—

तद् गृहाणैतमलंकारम् । सौवर्णशकटिकां कारय ।

[अंक ६, आरंभ]

कारण यह कि प्रकरण में फिर कभी यह उसके पाँव में नही पडता। हाँ, अधिकरण में चारुदत्त के विनाश का कारण अवश्य बन जाता है। ध्यान से सुनें। पते की बात है—

आर्यमैत्रेय ! वसन्तसेनया वत्सो रोहसेन आत्मनोऽलंकारेणालंकृत्य जननीसकाशं प्रेषितः । अस्य आभरणं दातव्यं न पुनर्ग्रहीतव्यम् । तत्समर्पय इति ।

[अंक ६, २६ प०]

और अधिकरण में गिर पड़ने पर भी इनकी पहिचान कठिन हो गयी। वास्तव में वसन्तसेना के कितने वा कौन कौन से आभूषण विदूषक के पास थे, कहा नहीं जा सकता। परंतु जो कुछ प्रत्यक्ष दिखायी देता है वह है—

हा ! हा !! शुद्धालंकारभूषितः स्त्रीहस्तो निष्क्रामति। कथम् ? द्वितीयोऽपि हस्तः !

[अंक ८, ४६ प०]

इससे सिद्ध ही है कि सभी आभूषण रोहसेन को नही दिये गये थे और जो दिये गये थे उनमें था 'नूपुर' भी। इसी नूपुर के अभाव के कारण उसके आ बैठने का पता स्थावरक को नही चला और वह वसन्तसेना के भार को अपनी थकान का परिणाम समझ चलता बना। सब का सार यह कि 'मृच्छकटिक' में भी 'नूपुर' की लीला भरपूर है और इस ढंग की भरपूर है कि उसका लगाव 'शिलप्पदि-कारम्' से आप ही प्रकट हो जाता है। किसने किससे लिया और किसने किसको दिया के विवाद में हम नहीं पडते, क्योंकि हम जानते हैं कि दोनों का मूलप्रेरक वही है। वही 'वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि' जिसे 'शूद्रक' भी कह दिया गया है।

बात यहीं तक नहीं रह जाती। पकड और भी आगे बढ़ती है और 'आर्यक' तथा 'ऐयै' या 'आर्या' में भी एका निकाल लेती है। 'आर्यक' के बारे में विद्वानो की कथा कुछ भी होती रहे पर शूद्रक का स्पष्ट कथन है उसके गोपाल-कुल के पक्ष में। वह जन्म से गोपाल था। इधर हम देखते हैं कि 'शिलप्पदि-कारम्' में भी ग्वालों की महिमा अपार है। 'मादरि' जैसी गोपी के यहाँ ही कोवलन् तथा कणकि को शरण मिलती है और उसकी दुहिता 'ऐयै' से कणकि का जी भरता है। किं बहुना ? उसकी गढ़ी को देखकर आप सरलता से समझ सकते हैं कि 'आर्यक' कैसे घोष में रहा करते थे और उस समय 'मदुरा' में कैसी व्रजलीला चला करती थी। आपदा को गाकर दूर भगाना इसी घोष का काम था। भाव यह कि यदि मृच्छकटिक में सार्थवाह गोप आर्यक का रक्षक बना तो शिलप्पदिकारम् में गोपी 'मादरि' ने सार्थवाह कोवलन् को आश्रय दिया। दोनों में अंतर इतना ही रहा कि कोवलन् स्वर्णकार के प्रपंच से चोरी के कलंक में प्राणदंड का भागी बना और आर्यक शर्विलक के प्रताप से शासक

पालक का हन्ता। अतः हम सभी प्रकार से पाते हैं कि 'मृच्छकटिक' का संविधानक 'शिलप्पदिकारम्' के संविधानक से हाथ मिलाता हुआ चलता है और दोनो मिलकर उस समय के जीवन को रूप देने में मग्न रहते है। मृच्छकटिक में उस समय के 'आर्य जीवन' का दर्शन मिलता है तो शिलप्पदिकारम् मे उस समय के 'द्रमिल जीवन' का साक्षात्कार होता है। उसे सचमुच सभी प्रकार से उस समय का 'द्रमिल-दर्पण' कहा जा सकता है। जीवन की ऐसी व्यापक तथा सजीव झाँकी अन्यत्र नहीं? उसमें उद्योग ही इसी का हुआ है।

जी। मृच्छकटिक और शिलप्पदिकारम् की यह समता और भी आगे बढ़ती है और हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि दुष्ट हस्ती से रक्षा का कार्य दोनों में ही होता है। मृच्छकटिक में वसन्तसेना का दास 'कर्णपूरक' जो कार्य करता है शिलप्पदिकारम् में वही स्वयं 'कोवलन्'। दोनो में ही उन्मत्त हाथी महावत को मारकर नगर में मनमाना करने को उद्यत हो जाता है और दोनो मे ही उससे सजग हो जाने की डुग्गी पिटती है। हाँ, दोनों के घटने मे कुछ भेद अवश्य है। प्रथम मे उसका आखेट बनता है 'परिव्राजक' तो द्वितीय में उसके दाँत में आ जाता है एक 'शिष्ट' जो आया था कोवलन् के यहाँ कुछ पाने के निमित्त। तात्पर्य यह कि यह घटना भी दोनो मे एक ही है। और सच तो यह कि इनकी एकता में अब कोई सन्देह नहीं। आप कुछ भी कहें, पर विवश हो अंत में आप को मानना ही होगा कि वास्तव में 'प्रकरण' और 'महाकाव्य' मृच्छकटिक और शिलप्पदिकारम् का स्रोत एक ही है, और एक ही स्थान से दोनो का संचालन भी हो रहा है। एक आर्यभाषा में तो दूसरा द्रमिल-भाषा में; किन्तु दोनों में ही है दोनों का ही शिष्ट तथा खडा रूप। मृच्छकटिक में संस्कृत के साथ ही जहाँ बहुत सी प्राकृत भाषाएँ हैं वहीं शिलप्पदिकारम् मे भी तमिलभाषा के संस्कृत तथा अनेक प्राकृत रूप। दोनों के उद्देश्य में भेद नहीं। हाँ, दोनो में भाषा-भेद अवश्य है। भाव-भेद कदापि नही।

मृच्छकटिक और शिलप्पदिकारम् में एक ऐसा भेद भी है जिसकी उपेक्षा हो नहीं सकती। मृच्छकटिक में हम पाते हैं कि 'गणिका' वसन्तसेना 'वधू' बन गयी और बन गयी वधू उसकी दासी गणिका मदनिका भी। किन्तु हम नही पाते ऐसी कोई बात शिलप्पदिकारम् में। है, उसमें भी स्थान है इसको दिखाने का, पर

उसका कवि ऐसा करता नहीं। ध्यान देने की बात है कि शिलप्पदिकारम् में गणिका 'मादवि' और सार्थवाह 'कोवलन्' में संबंध स्थापित हो जाता है और उनके सहयोग से 'मणिमेकलै' नाम की कन्या का जन्म भी हो जाता है, जिसका नामकरण होता है कोवलन् की कुलदेवता मणिमेकलै के नाम पर। किन्तु तो भी मादवि को वधू का पद नहीं मिलता यद्यपि उसका निवास रहता है 'वेशवास' ही। इसी से अंत में वह कोवलन् के वियोग में बन जाती है 'शाक्यभिक्षुणी'। वही नहीं, उसकी दुहिता 'मणिमेकलै' भी उसकी कृपा से बालापन में ही शाक्यभिक्षुणी बन जाती है। उसे भी 'वधू' बनने का सौभाग्य प्राप्त नही होता। ऐसा क्यों होता है, यह विचारणीय है। जो हो, हमको तो प्रत्यक्ष यही होता है कि इसमें 'शाक्यपन' का ह्रास है। ऐसी धर्मभगिनियो को पाकर 'संघ' धन्य हो सकता है, पर धर्म तो नहीं फल फूल सकता? बौद्धमत के ह्रास का यही तो मुख्य कारण है? हाँ, यहीं एक दूसरी देवी भी काम कर रही है। इसका नाम है 'कवुन्दि' वा 'कावुन्दि'। कोवलन् और कण्णकि इन्हीं की छाया में मदुरा पहुँचते हैं। इनका संप्रदाय है जैन। अंत में भूखी रहकर प्राण छोड़ती हैं। स्मरण रहे, मृच्छकटिक में कहीं जैन नही। कारण कुछ भी तो होगा ही।

अधिक से लाभ क्या जब इतना ही आँख खोलने को पर्याप्त है? हाँ, आराधना की दृष्टि से इतना स्पष्ट रहे कि उभय काव्यो में 'सूर्य' तथा 'चन्द्र' की आराधना का आभास है। शिलप्पदिकारम् का मंगलाचरण ही इन्ही से होता है। उसमें पहले 'चन्द्र' की वंदना होती है फिर 'सूर्य' की। अन्य की नहीं। और यदि अन्य किसी की होती भी है तो 'मेघ' और 'पुहार' की ही। इधर मृच्छकटिक में 'मेघ' का वर्णन तो बहुत है, पर 'पुहार' के स्थान पर 'उज्जयिनी' का उतना नहीं। रहे 'चन्द्र' और 'सूर्य' तो उनकी भी स्थिति देख ले। चन्दनक की आर्यक के प्रति शुभ कामना है—

अभयं तव ददातु हरो विष्णुर्ब्रह्मा रविश्च चन्द्रश्च।
हत्वा शत्रुपक्षं शुम्भनिशुम्भौ यथा देवी ॥२७॥६॥

हम इस 'रवि' और इस 'चन्द्र' से थोडा और भी समझ सकते हैं और इनके सहारे उस समय को भी कुछ और भी जान सकते हैं। सो नानाघाट के गुहालेख में कहा गया है—

धर्माय नमः, इन्द्राय नमः, संकर्षणवासुदेवाभ्यां, चन्द्रसूराभ्यां, महिमवद्भ्यां चतुर्भ्यः च लोकपालेभ्यः यम-वरुण-कुबेर-वासवेभ्यः नमः ।

इससे सिद्ध ही है कि 'वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि' के पहले भी इस कुल में 'चन्द्रसूर्य' की उपासना प्रचलित थी । साथ ही यह भी ध्यान रहे कि 'संकर्षण' तथा 'वासुदेव' का उल्लेख भी बड़े महत्त्व का है । शिलप्पदिकारम् में तो इनकी रासलीला का अभिनय ही है, मृच्छकटिक भी इनके प्रभाव से अछूता नहीं । आर्य चारुदत्त को 'मेघाडम्बर' में जो 'केशव' और 'बलदेव' का रह रहकर साक्षात्कार होता है उसका रहस्य भी यही है । भाव यह कि इस दृष्टि से भी दोनों का सात-शासन में रचा जाना संभव है ।

हाँ, तो शिलप्पदिकारम् की कथा बहुत सीधी है । चोल की राजधानी 'पुहार' में दो व्यापारी थे । संयोग से एक की १२ वर्ष की कन्या 'कण्णकि' का विवाह दूसरे के १६ वर्ष के पुत्र 'कोवलन्' से हो गया । सुख के दिन बीतने ही को थे कि कोवलन् का 'संबंध' नगर की प्रमुख गणिका 'मादवि' से हो गया । होते-होते हुआ यह कि कोवलन् का सारा धन इसी विलास में जाता रहा और एक दिन समुद्रतट-विहार में उसका मन एक गाना सुनकर मादवि से फिर गया । अब उसे व्यापार की सूझी । पर करे तो क्या करे ! पैसा पास नहीं और नाम इतना । निदान कण्णकि को साथ ले 'मदुरा' को चल पड़ा । बीच में ही 'कवुन्दि' नाम की साधुनी से साथ हो गया और तीनों प्रकृति का भरपूर निरीक्षण करते मदुरा में पहुँच गये, और वहाँ कवुन्दि की कृपा से 'मादरि' नाम की गोपी के यहाँ स्थान मिला । मादरि ने कण्णकि की सुविधा के लिए अपनी दुहिता 'ऐयै' को साथ कर दिया और वहाँ सुख से दोनों रहने लगे । एक दिन व्यापार के विचार से कण्णकि का एक 'शिलम्बु' ले कोवलन् हाट में निकला । दैववश उसको 'राजस्वर्णकार' मिल गया जिसने 'राजमहिषी' का एक शिलम्बु चुरा लिया था । उसने देखा कि चोरी का कलंक सरलता से कोवलन् के सर मढ़ा जा सकता है । निदान किया भी ऐसा ही । राजा उसके कहने में आ गया और फलतः कोवलन् को मिला प्राणदंड । 'चांडाल' स्वर्णकार के साथ कोवलन् की कुटिया में पहुँचे और उनमें से 'एक' ने स्वर्णकार

के व्याख्यान से प्रभावित हो झट कोवलन् का अन्त कर दिया। इधर मादरि ने संकट दूर करने के विचार से 'विष्णु' और 'पिन्नै' की प्रसन्नता के लिए 'रास' रचा। नदी में स्नान करते समय उसे प्राणदंड का पता लगा और वह अति शीघ्रता से घर पहुँची। समाचार पाकर सब मलिन हो गये। अन्त में किसी से यह दुःखद समाचार कण्णकि को भी मिल गया। पति-वियोग में उसकी जो दशा हुई कहने की नहीं। वह गिरती-पडती वध-स्थान पर पहुँची और तब तक उसकी दीन दशा का दर्शन करती रही जब तक कि प्रतीक्षा का आदेश दे वह विमान से ऊपर न चला गया। कण्णकि किसी प्रकार राजकुल में पहुँची और राजा से न्याय की याचना की। राजा को रहस्य का पता चला तो शोक में वह भी चल बसा। फिर भी कण्णकि का कोप शांत न हुआ। उसने एक स्तन को उखाड कर नगर पर फेंका और सत्पुरुषों को छोड़कर उसकी आग से सब का संहार हो गया। नगरदेवता से कण्णकि को कोवलन् के पूर्व-जन्म का वृत्त मिला और इसे कर्म का परिणाम समझ वह कुछ शांत हुई। नगर-देवता ने यह भी कहा कि आज से १४ वें दिन वह विमान पर पति के साथ स्वर्ग जायगी।

कण्णकि ने 'पांड्यराज्य' को छोड़कर पश्चिम की ओर प्रस्थान किया और 'मलयनाडु' में पहुँचकर 'स्कन्दगिरि' पर निवास किया। वनवासियों ने प्रत्यक्ष देखा कि वह विमान पर चढ़ कर एक दिन स्वर्ग चली गयी। उन्होंने जाकर इसकी सूचना 'चेर' राजा 'शेनगुट्टुवन' को दी। कवि 'शात्तनार' ने जो वहीं पर विराजमान था, सब कुछ कह दिया। राजमहिषी ने अनुरोध किया कि पतिव्रता कण्णकि का मंदिर बने। शेनगुट्टुवन पहले से ही 'आर्यावर्त' पर अभियान की सोच रहे थे। फलतः 'हिमालय' से मूर्ति का पत्थर लाने के लिए सदल प्रस्थान किया। इसी बीच 'पांड्य' के नये राजा ने १००० स्वर्णकारों का वध कराया जिससे उसके राज्य में अभीष्ट वर्षा और समृद्धि हुई। फिर क्या था, सभी ओर कण्णकि की 'पत्तिनीदेवी' के रूप मे पूजा होने लगी। शेनगुट्टुवन का अभियान सफल रहा और हिमालय के पत्थर को 'गंगास्नान' के पश्चात् मूर्ति का रूप मिला। पत्तिनीदेवी की प्रतिष्ठा के अवसर पर 'सिंहल'

के राजा 'गजबाहु' भी पधारे थे। ब्राह्मण 'माडलन्' के उपदेशानुसार शेन-गुट्टुवन का शेष जीवन यज्ञयाग में बीता।

हाँ, कएणकि और कोवलन् की मदुरा यात्रा में एक और घटना भी घटी। ब्राह्मण 'कौशिकन्' ने कोवलन् से मादवि का पश्चात्ताप कहा, पर उसने उस ब्राह्मण को अपने माता-पिता के पास भेज दिया और कहा कि इस समाचार से उनको अवगत करे। इधर मादवि को भी विराग हो गया और फलतः वह भिक्षुणी बन गयी। उसकी दुहिता मणिमेकलै भी बौद्ध संघ मे जा मिली। शात्तन ने इसी को लेकर 'मणिमेकलै' महाकाव्य की रचना की और उसी की प्रेरणा से भिक्षु राजकुमार 'इलंगो आड्गिल्' ने रचना की 'शिलप्पदिकारम्' की। जिसका स्पष्ट अर्थ निकला कि वास्तव मे 'शात्तन' ही इस कथा का ज्ञाता वा वक्ता है। हम इस विषय में केवल इतना ही और कहना चाहते हैं कि इस काव्य-रचना के मूल में वस्तुतः 'शात्तन' वा 'शातवाहन' वा 'वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि' का हाथ है और शेनगुट्टुवन का उत्तरापथ का अभियान वास्तव में उसी का अभियान है। उस समय हिमालय ब्राह्मण के अधीन था तो इसका अर्थ है कि ब्राह्मण के हाथ से आर्यावर्त का शासन 'आन्ध्रभृत्य' को मिला और सात-शासन में 'पत्नी' की प्रतिष्ठा बढ़ी। पातिव्रत्य की महिमा जगी।

शिलप्पदिकारम् की कथा का मृच्छकटिक के कथानक से कितना साम्य है, इसको कहने की आवश्यकता नहीं। हाँ, आवश्यकता है यह जताने की कि वास्तव में उभय रचनाएँ प्रसाद हैं एक ही प्रतिभा की। जी, एक ही प्रतिभा ने 'आर्य' में प्रसार पाने के निमित्त जहाँ मृच्छकटिक का रूप धारण किया वहीं उसी ने 'द्रमिल' में घर बनाने के लिए झट शिलप्पदिकारम् का चोला पहन लिया। 'आर्य' और 'तमिल' के संस्कार में उस समय जो अतर था उसी को दृष्टि में रखकर इन उभय ग्रंथो का प्रणयन भी अलग-अलग ढंग से अलग-अलग रूप में हुआ। 'आर्य' को रूपक मिला तो 'तमिल' को महाकाव्य। परंतु ध्यान से देखा जाय तो आप ही स्फुट होगा कि जहाँ मृच्छकटिक में 'काव्य' है वहीं शिलप्पदिकारम् में 'नाटक' भी। अर्थात् दोनों में दृश्य-श्रव्य का आनंद साथ-साथ मिलता है। उनमें से एक श्रव्य दृश्य है तो दूसरा दृश्य श्रव्य। हाँ, दोनों का ही लक्ष्य है मानव को मोद से भर कर देशकाल से सभी भाँति

अभिज्ञ कर देना। मृच्छकटिक के प्रसंग में हमने कहीं कहा है कि वास्तव में उसके तीन संस्करण हैं। पहले के रचयिता भास तथा शूद्रक उसके प्रेरक हैं। दूसरे के संशोधक तथा संपादक तो स्वयं शूद्रक हैं ही। हाँ, तीसरे का रूपदाता कौन है, ठीक से नहीं कह सकते। किन्तु परिस्थिति के पर्यालोचन से पता होता है कि हो न हो 'मत्तविलास' के प्रणेता पल्लवेन्द्र 'महेन्द्रविक्रम' ही इसके प्रेरक हों और हो सकता है कि आचार्य दंडी ही इसके रूपदाता हों। शिलप्पदिकारम् के विषय में भी हमारी यही धारणा है। उसका वर्तमान रूप इसके पहले का प्रतीत नहीं होता। उसके भी सरलता से तीन संस्करण माने जा सकने हैं। पहले और दूसरे का लगाव 'शात्तन' और 'इलंगो' से है ही, तीसरे का सम्बन्ध भी 'महेंद्र-दंडी' से जोड़ लें तो कोई क्षति नहीं। कारण यह कि इन दोनो का भी 'आर्य' और 'द्रमिल' से वही स्नेह था। श्री महेंद्रविक्रम का सूत्रधार कहता भी है—

> भाषावेषवपुः क्रियागुणकृतानाश्रित्य भेदान् गतं
> भावावेशवशादनेकरसतां त्रैलोक्ययात्रामयम्।
> नृत्तं निष्प्रतिबद्धबोधमहिमा यः प्रेक्षकश्च स्वयं
> स व्याप्तावनिभाजनं दिशतु वो दिव्यः कपाली यशः ॥१॥
>
> [मत्तविलास प्रहसन]

'भाषा' का यह प्रयोग यो ही नहीं कर दिया गया है। नहीं, इसमें यह बताया गया है कि तुम चाहे भाषा के क्षेत्र में भी भले ही 'आर्य' और 'द्रविड' का भेद कर लो, पर उस कपाली के लिए तो वास्तव में दोनों एक ही हैं न? वही आर्य भाषा भी है और वही है तमिल भाषा भी। वही है मृच्छकटिक और वही है शिलप्पदिकारम् भी। फिर यहाँ भेद-भाव कैसा? स्मरण रहे उसी का है यह भरतवाक्य भी—

> शश्वद् भूत्यै प्रजानां वहतु विधिहुतामाहुतिं जातवेदा
> वेदान् विप्रा भजन्तां सुरभिदुहितरो भूरिदोहा भवन्तु।
> उद्युक्तः स्वेषु धर्मेष्वयमपि विगतव्यापदाचन्द्रतारं
> राजन्वानस्तु शक्तिप्रशमितरिपुणा शत्रुमल्लेन लोकः ॥

'शत्रुमल्ल' की विरुदावलि से कोई लाभ नहीं। परंतु भूल होगी यदि यहीं न कह दिया जाय कि उसके नामों में उसका एक नाम है 'पकाप्पिडुगु'। जिससे सिद्ध ही है कि उसे 'तमिल' से भी मोह था। रहे दंडी, सो उनका कहना ही क्या? उनका गोत्र है 'कौशिक' और उनके मित्र हैं 'मातृदत्तादि' कई केरलवासी। आशय यह कि उक्त ग्रन्थों के संशोधन और परिवर्धन के सर्वथा हैं ये अधिकारी। तभी तो संस्कृत के बहुत से जानकार मानते हैं इन्हीं को मृच्छकटिक का रचयिता भी। किंतु जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है रचना उसकी पुरानी है। हाँ, कुछ संशोधन और परिवर्धन अवश्य इस काल में संभव है। हमारी दृष्टि में यही स्थिति शिलप्पदिकारम् की भी है। उसको भी कुछ विद्वान् इसी काल की रचना मानते हैं। परंतु रचना उसकी भी पुरानी है। हाँ, इसका भी संस्करण इस काल में हुआ। अस्तु, कहा जा सकता है कि मृच्छकटिक और शिलप्पदिकारम् का महत्त्व उनके निरे काव्य रूप में नहीं है। नहीं, इनमें तो जीवन को व्यक्त करने का प्रयत्न हुआ है। इनमें भी बड़ा भेद यह है कि जहाँ मृच्छकटिक में 'चरित्र' पर ध्यान दिया गया है वहाँ शिलप्पदिकारम् में 'तमिल' पर। भवितव्यता है दोनों में ही। परन्तु जहाँ पहले में है सामान्य वा लौकिक वहीं दूसरे में है असामान्य वा अलौकिक। इस अलौकिकता के कारण शिलप्पदिकारम् का महत्त्व इतिहास की दृष्टि में बहुत कुछ घट गया है; परंतु इसी से वह बढ़ गया है मानव के विकास में। सचमुच ऐसा तमिल-दर्पण दूसरा नहीं। अनूठा है वस्तुतः यह महाकाव्य जिसमें उस समय का सारा तमिल-जीवन आप ही मुखर हो उठा है। और मृच्छकटिक तो 'चरित्र' की अद्भुत रचना है ही। फिर दोनों का अध्ययन साथ साथ क्यों नहीं हो? भाषाभेद ही तो कारण है दोनों को एक साथ न देखने का? आशा है 'संस्कृत' तथा 'तमिल' के पंडित कुछ इस दृष्टि से भी इनके अध्ययन में लीन होंगे और दोनों के परस्पर-सम्बन्ध को व्यक्त करने में शीघ्र ही समर्थ होंगे। अन्यथा आज की अहमहमिका तो बहुत ही भयावह हो उठी है। तो भी अभिज्ञान का परस्पर साधु उद्योग तो होना ही चाहिए न? इसी से अपना यह अल्प प्रयास है।

परिशिष्ट—ख

वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि का गुहा-लेख

[सं० २०६ वि० ?]

१—सिद्धं [॥] रञो वासिठीपुतस सिरि-पुलुमायिस सवछरे एकुनवीसे १० [+] ९ गीम्हाणं पखे बितीये २ दिवसे तेरसे १० [+] ३ राजरञो गोतमी-पुतस हिमव [त] मेरु

२—मंदर-पवत-सम-सारस-असिक-असक-मुलक-सुरठ-कुकुरापरंत-अनुप-विदभ-आकरावंति-राजस विझ-छवत-पारिचात-सम्ह [झ]-कण्हगिरि-मचसिरि-टन-मलय-महिद—

३—सेटगिरि-चकोर-पवत-पतिस सवराज [लोक] म ['] डल पतिगहीत-सासनस दिवसकर- [क] र-विबोधित-कमलविमल-सदिस-वदनस तिसमुद-तोय-पीत-वाहनस पटिपू ['] ण-चद-मडल-ससिरीक—

४—पियदसनस वर-वारण-विकम-चारु विकमस भुजगपति भोग-पीन-वाट-विपुल दीघ-सुद [र] भुजस अभयोदकदान-किलिन-निभय-करस अविपन-मातु-सुसूसाकस सुविभत-तिवग-देस-कालस—

५—पोरजन-निविसेस-सम-सुख-दुखस खतिय-दप-मान-मदनस सक-यवन-पल्हव-निसूदनस धमोपजित-कर-विनियोग-करस कितापराधे पि सतु-जने अ-पाणहिसा-रुचिस दिजावर-कुटूब-विवध—

६—नस खखरात-वस-निरवसेस-करस सातवाहनकुल-यस-पतिथापन-करस सब-मंडलाभिवादित-च [र] णस विनिवतित-चातूवण-संकरस अनेक-समरावजित-सतुसघस अपराजित-विजयपताक-सतुजन-दुपधसनीय—

७—पुरवरस कुल-पुरिस-परपरागत-विपुल-राज-सदस आगमान [नि] लयस सपुरिसान असयस सिरी [ये] अधिठानस उपचारान पभवस एककुसस एक-धनुधरस एक-सूरस एक-बम्हणस राम—

८—केसवाजुन-भीमसेन-तुल-परकमस छण-धनुसव-समाज-कारकस नाभाग-नहुस जनमेजय-सकर-य [या] ति-रामाबरीस-सम-तेजस अपरिमितमखयमचित-मभुत पवन गरुल-सिध-यख-राखस-विजाधर-भूत-गधव-चारण—

९—चद-दिवाकर-नखत-गह-विचिण-समरसिरसि जित-रिपु-सघस नागवर-खधा गगनतलमभिविगाढस कुल-विपु [लसि] रि करस-सिरि-सातकणिस मातुय महादेवीय गोतमीय बलसिरीय सचवचन-दान-खमाहिसा-निरताय तप-दम-निय—

१०—मोपवास-तपराय राजरिसिवधु-सदमखिलमनुविधीयमानाय कारित देयधम [केलासपवत् ※]-सिखर-सदिसे [ति] रण्हु-पवत-सिखरे विम [ान *] वर-निविसेस-महिढीकं लेण [। *] एत च लेण महादेवी महाराज-माता महाराज-[पि] तामही ददाति निकायस भदावनीयान भिखु-सघस [। *]

११—एतस च लेण [स] चितण निमित महादेवी अयकाय सेवकामो पियकामो च ण [ता] * * * * [दखिणा *] पथेसरो पितु-पतियो धमसेतुस [ददा] ति गामं तिरण्हु-पवतस अपर-दखिण-पसे पिसाजि-पदक सव-जात-भोग निरठि ।

* समाप्त *

ग्रन्थ-सूची

हर्षचरित—बाण, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई २

अवन्तिसुन्दरी कथासार—दंडी, दक्षिणभारती ग्रथमाला, अं०३, सन्१९२४ई०

मत्स्यपुराण—आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज

बृहत्कथामंजरी—क्षेमेन्द्र, काव्यमाला सीरीज, अ. ६९

कथासरित्सागर—सोमदेवभट्ट, निर्णयसागर प्रेस,

बेतालपंचविंशतिका (कथासरित्सागर, द्वादश लम्बक)

पुरुषपरीक्षा—विद्यापति, सं० श्रीगंगानाथ झा, दी बेलवेडियर स्टीम प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद, १९११ ई०

सोर्सेज आफ कर्णाटक हिस्टरी—सं० श्री श्रीकंठ शास्त्री, भाग १, मैसूर यूनिवर्सिटी, सन् १९४० ई०

भारतीय सिक्के—श्री वासुदेव उपाध्याय, भारती भंडार, लीडरप्रेस, इलाहाबाद, सं० २००५ वि०

अपभ्रंशकाव्यत्रयी—सं० श्रीलालचन्द्र भगवानदास गांधी, गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, बडौदा, अं० ३७, सन् १९२७ ई०

रघुवंश—कालिदास, सं० श्रीनारायण आचार्य, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई २, सन् १९४८ ई०

कामसूत्र—वात्स्यायन मुनि, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस

चारुदत्त—भास, भासनाटकचक्रम्, पूना ओरियंटल सीरीज, अं० ५४

सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस—सं० श्री दिनेशचन्द्र सरकार, प्र० कलकत्ता विश्वविद्यालय, सन् १९४२ ई०

विक्रमस्मृतिग्रंथ—विक्रम द्वि-सहस्राब्दी समारोह समिति, ग्वालियर राज्य, ग्वालियर, सं० २००१ वि०

नामलिंगानुशासन—अमरसिंह, टीकाकार चीरस्वामी, ओरियंटल बुक एजेंसी, पूना

गउडवहो—वाक्पतिराज, भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, सन् १९२७ ई०

मेघदूत—कालिदास निर्णयसागर प्रेस

नाट्यदर्पण—रामचन्द्र गुणचन्द्र, सं० एल० बी० गान्धी और जी० के० श्रीगोडेकर, गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, अं० ४८ सन् १९२९ ई०

नाटकलक्षणरत्नकोश—सागरनन्दी, सं० मोलेस डिलो, आक्सफोर्ड, सन् १९३७ ई०

नाट्यशास्त्र—भरतमुनि; सं० श्रीमनवल्लि रामकृष्णकवि, गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, बड़ौदा, अं० ६८, सन् १९३४ ई०

मत्तविलास—श्रीमहेन्द्रविक्रम, अनन्तशयनसंस्कृतग्रन्थावलि अं० ५५, सन् १९१७ ई०

शिलप्पदिकारम्—अनुवादक श्री वी० आर० आर० दिक्षितर, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, सन् १९३९ ई०

मृच्छकटिक—शूद्रक, प्रथम संस्करण, सं० व प्रकाशक श्री आर० डी० करमकर, पूना, मुद्रक ए० बी० पटवर्धन, आर्यभूषण प्रेस, पूना ४

पद्मप्राभृतक—शूद्रक, सं० श्री एम० रामकृष्ण कवि और एस० के० शास्त्री, प्र० डी० जी० शर्मा एंड कृष्ण, बाकेरगंज, पटना, १९२२ ई०

———

अनुक्रमणिका

[शब्द के सामने पृष्ठ संख्या दी हुई है]

भ

म

शुद्धि-पत्र

निवेदन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	३	होता	देता
६	९	कराति	करोति
७	२	पाठ भोगी	पाठ । भोगी
७	९	अप्रति	अप्रति-
७	१८	शिलप्यादकारम्	शिलप्यादिकारम्
७	१९	मृच्छकटिकं	मृच्छकटिकम्

मूल

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	११	अवन्ति सुंदरी	अवन्तिसुंदरी
२	२६	तापस्याकथयत्	तापस्यकथयत्
३	७	निजापदः	निजास्पदः
३	१६	से शूद्रक	से । शूद्रक
४	१७	दिवशे	दिवसे
५	३	माया	मात्रा
५	१६	सेतुरुपाय	सेतुरूपाय
५	२६	पुलुमवि	पुलुमावि
९	२१	श्चे:	रुचेः
१०	२३	ऐसी	ऐसा
१०	२५	है, कि	है कि
१२	२१	भी	श्री
१३	१०	पुरुद्वद	दुरुद्वह
१४	१	हृच्छ्रय	हृच्छय

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४	३	कथचिन्नि	कथंचिन्नि
१४	६	भूयाज्ञा	भूयासा
१५	१२	सावकर्णो	सातकर्णो
१६	१६	'स्वार्ता'	'स्वाति'
१६	१८	ब्राह्मययशूद्रक	ब्राह्मयय शूद्रक
१७	२२	तेषांम्	तेषां
१८	२०	ध्वजा से	ध्वजा में
१८	२७	बैठना	पैठना
१९	११	वासिष्ठ	वासिष्ठी
१९	२५	का शालिवाहन	का । शालिवाहन
२०	१	निराशासक	निरा शासक
२०	१५	गुणोपेत	गुणोपेत
२४	८	पैशाचा	पैशाची
२४	११	देश भाषा	देशभाषा
२४	२७	दपि	दीप
३२	२	खमेव	मुखमेव
६५	१६	कृत्तान्त	कृतान्त
८३	२१	अन्तर	अनन्तर
८५	१९	'भव्य'	'श्रव्य'
८९	१०	भाणितस्य	भणितस्य
१०९	१४	'सत्त्वह्रास'	'सत्त्वह्रास'
२१६	६	देश भाषाओं	देशभाषाओं
२५३	२८	द्यतकर	द्यूतकर

संकल्प

२	३	मद्रास	पटना

?

King Śūdraka, whom tradition credits with the authorship of the famous play, the Mṛichhakaṭika, has remained so far, like king Vikramāditya, a mere legendary figure *

क्या अब भी यह सच है ?

---

* *The Age of Imperial Unity Bharatiya Vidyā Bhavana, Bombay.*

रचयिता की अन्य प्राप्य रचनाएँ

साहित्य

१—तुलसीदास
२—केशवदास
३—हिन्दी कवि-चर्चा
४—साहित्य-संदीपिनी
५—विचार-विमर्श

भाषा

१—राष्ट्रभाषा पर विचार
२—हिन्दी गद्य का निर्माण
३—ए प्ली फार नागरी हिन्दी (अंग्रेजी में)
४—शासन में नागरी
५—नागरी का अभिशाप

विविध

१—एकता
२—मुसलमान !
३—कुर्आन में हिन्दी
४—तसव्वुक अथवा सूफीमत

मुद्रणस्थ

१—कालिदास
२—जनमन

संपादित

१—अनुराग बाँसुरी